CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Sri Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— झिनकू यादव
वाराणसी
5.9.2004

MSKRITI SANDHĀNA

XII 1999

EDITOR :
DR. JHINKOO YADAV

OF THE NATIONAL RESEARCH
OF HUMAN CULTURE, VARANASI

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

EDITORIAL BOARD

Prof. Anand Krishna

Prof. B.N. Mukherjee

Prof. R.C. Sharma

Prof. J.P. Singh

Prof. Sagarmal Jain

Prof. K.D. Tripathi

Prof. Om Prakash

Prof. R.R. Pandey

Dr. T.P. Verma

Dr. M.N. Tiwari

© सचिव, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान,
53, महामनापुरी कालोनी, आई.टी.आई. रोड,
करौंदी, पोस्ट - बी.एच.यू.
वाराणसी, उ०प्र० - 221005.

Price
Rs. 150.00
$ 16.00
£ 9.00

लेजर टाइपसेट :
शिवम् कम्प्यूटर्स, मानस मंदिर, वाराणसी।

मुद्रक :
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी।

Facts stated and opinions expressed are entirely those o authors, the National Research Institute of Human Cu Varanasi, accepts no responsibility for them.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत।।
अनया भावनया ईश्वरार्पणमस्तु।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्पादकीय

राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी की वार्षिक शोध-पत्रिका 'संस्कृति सन्धान' का प्रस्तुत अंक 'भारतीय संस्कृति में शिव' विषय पर सम्पन्न हुए राष्ट्रीय संगोष्ठी के कुछ शोध निबन्धों का संकलन है।

शिव शब्द वि0-श्यति पापम् - शो + वन्, पृषो - अर्थात् शुभ, मांगलिक, सौभाग्यशाली- इयं शिवाया नियतेरिवायति (किरातार्जुनीयम् 4.2, रघुवंश 11.33), स्वस्थ, प्रसन्न, समृद्ध, सौभाग्यशाली आदि अर्थों में लिया जाता है। भारतीय सनातन संस्कृति में शिव को अनादि रूद्र, महादेव, शिव, शंकर, त्रिपुरारि, नीलकण्ठ आदि अनेक नामों से जाना जाता है । वही एक मात्र ऐसे देवाधि देव हैं जो देवों एवं दानवों द्वारा समान रूप से पूजे जाते हैं । उन्हें सभी प्रिय हैं और सभी को वह प्रिय हैं। वेदों, उपनिषदों, पुराणों एवं अन्य अनेक ग्रंथों में उनकी महिमा का वर्णन करते हुए उनकी पूजा - उपासना का सुविस्तृत विवरण मिलता है। कौशीतकि ब्राह्मण में आया है कि- 'रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्' अर्थात् सभी देवों मे रुद्र (शिव) ही अग्र, ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हैं। श्वेताश्वरोपनिषद् में आया है कि विश्व के अधिपति महर्षि रूद्र ने सभी देवों को उत्पन्न कर उन्हें धारण किया है और उन्होंने हिरण्यगर्भ को पहले उत्पन्न किया है, वह हमें शुभ बुद्धि से युक्त करें। यहां भी रुद्र शिव को शुभ अर्थात् मंगलकारी देव के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए उन्हें सभी देवों को उत्पन्न करने वाला श्रेष्ठ देव बताया गया है ।

भारतीय सनातन संस्कृति में शिव ही एक मात्र ऐसे देव हैं जिनकी पूजा सर्वत्र लिंग एवं मूर्ति दोनों रूपों में होती आ रही है। ब्रह्मस्वरूप होने के कारण वह निराकार (निष्कल) और रूपवान होने के कारण वह साकार (सकल) है। वह सकल एवं निष्कल दोनों हैं। शिव लिंग उनका निष्कल अर्थात् साक्षात् ब्रह्मस्वरूप का प्रतीक है और सकल अर्थात् उनकी विग्रह मूर्तियां उनके साकार रूप की प्रतीक हैं। पौराणिक मान्यता है कि भगवान शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंग की पूजा सभी प्रकार के पापों का नाशकर भक्तों की मंगलकामनाओं को पूर्ण करने वाला है। शिव के यही द्वादश ज्योतिर्लिंग ही उनके द्वादश अवतार माने जाते हैं। वही सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् इन तीनों के प्रतीक हैं जो समस्त प्राणि जगत का अंतिम मूलाधार है। प्रस्तुत अंक में शिव के विविध स्वरूपों, उनकी उत्पत्ति, विकास, मंदिरों, मूर्तियों एवं लिंगों के माध्यम से उनकी पूजा-विधि, उनके दार्शनिक चिंतन आदि पर सुविस्तृत प्रकाश डाला गया है जो नये तथ्यों को शोध के माध्यम से नयी विवेचनाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृति संधान के प्रस्तुत अंक के प्रकाशनार्थ 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्', नई दिल्ली, द्वारा दस हजार रुपये की सहायता प्राप्त हुई। इसके लिए हम उक्त संस्था के अध्यक्ष, निदेशक, सदस्य सचिव एवं शोध अधिकारियों के आभारी हैं। हम अपने समस्त सहयोगियों, शोध निबन्ध लेखकों, संस्था के पदाधिकारियों, सदस्यों, परामर्शदात्री समिति के सदस्यों तथा सम्पादक मण्डल के सदस्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। आगामी अंकों के समय से नियमित प्रकाशनार्थ हम उन सभी के सहयोग, सुझाव एवं आशीष की कामना करते हैं। संस्कृति सन्धान के प्रस्तुत अंक के विलम्ब से प्रकाशन एवं भूल से रह गयी त्रुटियों के लिए हम सभी पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं। आगामी अंकों के प्रकाशन, संपादन एवं उच्चस्तरीय शोध निबन्धों पर सभी विद्वतजनों के सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

-झिनकू यादव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषयानुक्रमणिका
Content

पृष्ठ/Pages

सम्पादकीय — अ - ब

1. सिद्धान्त शैवागम : समग्र स्वरूप - पं. ब्रज बल्लभ द्विवेदी — 1 - 12
2. शिव के विविध स्वरूप - राय आनंदकृष्ण — 13 - 16
3. पूर्वोत्तर भारत के सिक्के और शिव - जय प्रकाश सिंह — 17 - 25
4. शिव-शक्ति (राधा-कृष्ण) की तान्त्रिक अवधारणा : दर्शन एवं साधना - कमलाकर मिश्र — 26 - 49
5. शिव तत्त्व का स्वरूप एवं साधना - बद्रीनाथ सिंह — 50 - 54
6. काश्मीर शैव दर्शन में चेतना का स्वरूप - कैलाशपति मिश्र — 55 - 65
7. हिन्दी काव्य परम्परा में शिव - अवधेश प्रधान — 66 - 75
8. संस्कृत वाङ्मय में शिवलिंग का मूर्तन - शैलजा पांडेय — 76 - 84
9. परमशिव के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन (काशमीर शैव दर्शन एवं शैव सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में) -रमा पाण्डेय — 85 - 90
10. प्राचीन भारतीय अभिलेखों में शिवोपासना - गीता श्रीवास्तव — 91 - 93
11. प्राचीन भारतीय सिक्कों पर शिव - ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव — 94 -98
12. शैव धर्म में पाशुपत सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास -नीहारिका — 99 104
13. वैदिक देव 'शिव' - कमलेश दुबे — 105 - 108
14. तन्त्र दर्शन में शिव का स्वरूप - शीतला प्रसाद पाण्डेय — 109 - 114
15. रुद्र - झिनकू यादव — 115 - 119
16. भारतीय संस्कृति में शिव - ललिता शुक्ला — 120 - 124

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

17. शिव महापुराण में शैव-दर्शन 125 - 135
- बृजभूषण श्रीवास्तव एवं अंगद प्रसाद गुप्त

18. शिव की अनुग्रह मूर्तियों का प्रतिमा लाक्षणिक वैशिष्ट्य 136 - 143
- शांति स्वरूप सिन्हा

19. एलोरा की शैव प्रतिमाओं का वैशिष्ट्य 144 - 147
- आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव

20. काशी के घाटों की कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ - हरि शंकर 148 - 152

21. कल्पप्रदीप में उल्लिखित कतिपय ज्योतिर्लिंग - शिव प्रसाद 153 - 157

22. जिन सहस्रनाम में उपलब्ध शिव नाम : एक तुलनात्मक 158 - 160
अध्ययन - श्रीप्रकाश पाण्डेय

23. जनजातीय कला-संस्कृति में शिव - अर्जुनदास केसरी 161 - 165

24. काशी विश्वनाथ मंदिर : एक ऐतिहासिक परिदृष्य 166 - 169
- जाह्नवी शेखर राय

25. शिव और काशी : एक दृष्टि - दीनबन्धु तिवारी 170 - 172

26. 'KALBHAIRAVA' The Asura God of
Sword-Smiths in Japan - B. Prakash 173 - 186

27. Śiva-Buddha (A Study of Mutual Iconic 187 - 191
Adaptations) - T.K. Biswas

28. Śivaism and The Cult of Yoginis with Special 192 - 201
Reference to Temple Arcitecture
- Pushpa Tiwari

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिद्धान्त शैवागम : समग्र स्वरूप

पं. ब्रज बल्लभ द्विवेदी*

विविध शैवागम

वामनपुराण (6.86-91) में शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक नामक चतुर्विध शैवों को क्रमशः चार वर्णों से संबद्ध कर उनकी परम्परा बताई गई है। अन्य भी अनेक ग्रन्थों में विविध नामों के साथ इनकी चर्चा मिलती है। डा0 कांतिचन्द्र पान्डेय ने दशविध शैवों की चर्चा कर अपने 'शैवदर्शनबिन्दु' नामक ग्रन्थ में उनका परिचय दिया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता श्रौत (1.32.11-13) में और स्वतन्त्र नामक द्विविध शैवागमों का उल्लेख है। आचार्य अभिनवगुप्त अपने महनीय ग्रन्थ तन्त्रालोक (37.14) में शैवागमों के श्रीकण्ठ और लकुलीश नामक दो[1] आप्त पुरुषों की चर्चा करते हैं। इन सभी स्थलों पर सिद्धान्त शैव शाखा को प्रमुखता दी गई है।

हमने दो खंडों में प्रकाशित हो रहे अपने ग्रन्थ 'तन्त्रागमीय-धर्म दर्शन' के शैवाधिकार के प्रारम्भ (पृ0 178-87) में इन सभी शाखाओं का तथा श्रीकण्ठ और लकुलीश का भी संक्षिप्त परिचय देकर आगे (पृ0 187-516) द्विविध पाशुपत, कालामुख, कापालिक, कौल, सिद्धान्तशैव, कश्मीरशैव और वीरशैव मतों का विशद परिचय प्रस्तुत किया है। अन्य अवशिष्ट शाखाओं के साथ यहाँ व्याख्यात शाखाओं का परिचय ऊपर चर्चित ग्रन्थ 'शैवदर्शनबिन्दु' से भी प्राप्त किया जा सकता है।

क्रमशाखा का परिचय हमने शाक्ताधिकार में दिया है। ''क्रमदर्शनस्यैव मुख्यं शाक्तत्वम्''[2] शीर्षक निबन्ध में हमने बताया है कि शक्तिपारम्यवादी क्रमदर्शन को शाक्त आगम के रूप में ही मान्यता मिली है। शिवपारम्यवादी सोमानन्द ने शिवदृष्टि के तृतीय आह्निक के प्रारंभ में इसी मत की समालोचना की है। इसकी व्याख्या करते हुए उत्पलदेव ने क्रमदर्शन के आचार्य भट्ट प्रद्युम्न के तत्वगर्भस्तोत्र को उद्धृत किया है। इतना हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि कौलमत शिवपारम्यवादी और क्रममत शक्तिपारम्यवादी है। अस्तु प्रस्तुत निबन्ध में हम केवल सिद्धान्तशैव मत के समग्र स्वरूप को प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

सिद्धान्तशास्त्र

अभिनवगुप्त के शिष्य प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् क्षेमराज स्वच्छन्दोद्योत में कहते हैं– ''प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः सिद्धान्तक्रममास्थितः'' (2-25)। ऐसा कहकर वे सिद्धान्तशास्त्र की लोकप्रियता को स्पष्ट करते हैं। शैव शब्द का अर्थ करते हुए वे कहते हैं–

*पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, शैवागम तंत्र विभाग, सं.सं.वि.वि., वाराणसी.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"शैवशब्देनानुत्तीर्णपदप्रापककैरणादिसिद्धान्तशास्त्रमुच्यते" (स्व.त. 11.74)। यहाँ किरणागम आदि का सिद्धान्तशास्त्र में समावेश किया गया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता में भी – 'स्वतन्त्रों दशधा पूर्वं–दशाष्टादशधा पुनः। कामिकादिसमाख्याभिः सिद्धः सिद्धान्तसंज्ञितः।।' (1.32.12)

इस तरह से कामिक आदि 28 आगमों की 'सिद्धान्त' संज्ञा बताई गई है। इसी विषय को अघोरशिव ने रत्नत्रय की व्याख्या में इस तरह से स्पष्ट किया है– "सिद्धान्तशब्दः पंकजादिशब्दवद् योगरुढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशसु तन्त्रेषु[3] प्रसिद्धः" (पृ0 149)। ऊपर के सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्त शब्द पंकज आदि शब्दों की तरह शैव सिद्धान्तशास्त्र के लिए रूढ़ हो गया था ऐसी स्थिति में इस शब्द की प्रवृत्ति पर सन्देह व्यक्त करने का अथवा विवाद उठाने का कोई अर्थ नहीं है।

अभिनवगुप्त का कहना है कि मध्यदेश (अन्तर्वेदि) सभी शास्त्रों का घर है, यहीं से उनके पूर्वज कश्मीर आये (तन्त्रा. 37.3)। अभिनवगुप्त आदि के साक्ष्य से तथा शैवाचार्य–संबन्धी शिलालेखों को देखने से यही सिद्ध होता है कि सभी आगमों का प्रचार–प्रसार प्रथमतः मध्य देश में हुआ। आमर्दक, त्र्यम्बक, मत्तमयूर, कदम्बगुहा, शंखमठिका आदि के प्रतिष्ठापक शैवाचार्यों की शिष्य–परम्परा ने ही पूरे भारत में द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी और अद्वैतवादी आगमों का प्रचार और विस्तार किया।

दक्षिण भारतीय दर्शन

कुछ आधुनिक विद्वान् इस सिद्धान्तशास्त्र को दक्षिण भारत में विकसित दर्शन मानते हैं। यह स्थापना ठीक नहीं है। यद्यपि द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतवादी आगमों की अवतार–भूमि मध्यदेश है, ऐसा स्वयं अभिनवगुप्त मानते हैं, तो भी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के उद्भावक भट्ट उत्पल है। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन को तो कश्मीर का माना जा सकता है, किन्तु द्वैतवादी दर्शन के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उसको दक्षिण का दर्शन माना जाय। इसके विपरीत सद्यो ज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ द्वितीय पर्यन्त कश्मीर के सिद्धान्ताचार्यों के द्वारा स्थापित परम्परा का ही अनुसरण दक्षिण के अघोर शिवाचार्य जैसे सिद्धान्ताचार्य करते हैं। शैवभूषण में परिगणित 18 पद्धतिकारों[4] में पहले कश्मीर के आचार्यों का, बाद में मध्यदेश के सोमशम्भु आदि का और सबके अन्त में दक्षिण के अघोरशिव का नाम है। त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि का हिन्दी–भाषा के साथ अभी वाराणसी से प्रकाशन हुआ है। उसकी संस्कृत टीका में यह वचन उद्धृत है–

राजेन्द्रचोल इत्याख्यश्चोलभूपो महीमवन्।
गंगास्नानार्थमागत्य दृष्ट्वा शैवान् वरांस्तदा।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्नात्वा प्रतिनिवृन्तः सन् तानू समादाय शैवकान् ।
स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्यवरांस्तदा ।।
कांचीमध्ये चोल भूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तराः । (पृ0 258)

क्या इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिलोचन शिवाचार्य के दक्षिण में जाने के बाद ही द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन की परम्परा वहाँ प्रचलित हुई?

तमिलभाषा में शैव धर्म का विशाल वाङ्मय उपलब्ध है। शैव आगमों के विषय में दो मत प्रचलित हैं- एक के अनुसार तमिल साहित्य का आगमों के रूप में संस्कृतीकरण हुआ और दूसरे के अनुसार आगमों के सहारे दक्षिण में शैवधर्म की प्रतिष्ठा हुई। यही न्याय वैष्णव पांचरात्रसंहिताओं और तमिल वैष्णव साहित्य पर भी लागू होता है। शैव आगम और पांचरात्र संहिताओं में भारतीय प्रदेशों का त्रिविध विभाजन मिलता है। उसके अनुसार तो इन सभी आगमों और संहिताओं का प्रदुर्भाव मध्यदेश में मानना पड़ेगा, जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है। इस विषय पर अभी गंभीरता से विचार अपेक्षित है। अभी तो हम इतना ही कह सकते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागमों के साहित्य और दर्शन की रक्षा दाक्षिणत्य विद्वानों ने की है। इसके लिए हम उनके प्रति पूरा आंदर-भाव प्रकट करते हैं।

दक्षिण के सिद्धान्तशैव दर्शन के उद्भव एवं विकास को जानने के लिए लखनऊ से प्रकाशित "संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास" के तन्त्रागमीय खण्ड में प्रकाशित डॉ. रमा घोष के "दक्षिण भारत का शैव सिद्धान्त"(पृ0172-208) शीर्षक निबन्ध को देखा जा सकता है। इसमें प्राक्-मेयकण्ड शास्त्र के अन्तर्गत प्राचीन तमिलभाषा के बारह ग्रन्थों का और मेयकण्ड शास्त्र के अन्तर्गत परवर्ती चौदह ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। मेयकण्ड देव का समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचना का नाम शिवज्ञानबोध है। इस पर तमिल एवं संस्कृतभाषा में विपुल साहित्य लिखा गया है। वहाँ उद्धृत कुछ आगम-ग्रन्थों के नाम अशुद्ध लगते हैं। ऐसा कहा जाता है कि दक्षिण भारत का सिद्धान्तशैव दर्शन शनैः शनैः अद्वैतोन्मुख होता गया, किन्तु उत्तर भारत से गये त्रिलोचन शिवाचार्य ने सिद्धांतसारावलि में और उनकी परम्परा के अघोरशिवाचार्य ने अपने सभी व्याख्या-ग्रन्थों में तथा परवर्तीकाल के पौष्करागम के भाष्यकार एवं अनेक तमिल-ग्रन्थों के लेखक मेयकण्ड देव परम्परा के भी प्रसिद्ध विद्वान उमापति शिवाचार्य ने शतरत्नसंग्रह में कश्मीरी द्वैतवादी दार्शनिकों की परम्परा का ही अनुसरण किया है। भाषा का आग्रह छोड़कर हमें संस्कृत एवं तमिल भाषा में लिखे इस समग्र साहित्य की कालिक क्रम से तुलनात्मक समीक्षा करनी होगी। तभी हम किसी सही निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे।

शिवज्ञान

त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि की ऊपर चर्चा आ चुकी है। अन्य अनेक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थों की तरह यहाँ भी सिद्धान्तशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध 28 शैवागमों का परिचय दिया गया है। योगपाद के बाद चर्यापाद का उपक्रम करते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम कामिक आदि आगमों का शिवभेद और रुद्रभेद के रूप में विभाजन अन्य ग्रन्थों में प्रदर्शित पद्धति से ही करते हैं। यहाँ भी बताया गया है कि शिवज्ञान अवबोधरूप और शब्दरूप के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से अवबोधरूप ज्ञान परशिव में ही रहता है और समस्त आगमों का समावेश शब्दरूपी शिवज्ञान में माना जाता है। यह नादरूपी शिवज्ञान महौघ-क्रम और गुरु-क्रम नामक द्विविध परम्परा से मानवों तक पहुँचता है। शिव के प्रणव आदि दस मानस पुत्रों का, दशधा विभक्त नादरूप शिवज्ञान का, कामिक आदि शिवागमों के प्रणव आदि वक्ताओं एवं श्रोताओं का तथा विजय आदि अठारह रुद्रागमों के अनादि आदि वक्ताओं एवं श्रोताओं का भी परिचय देकर शब्दरूपी शिवज्ञान को यहाँ महिमामण्डित किया गया है। वक्ता और श्रोता के भेद से शैवागमों[5] के षड्विध अथवा पंचविध संबन्ध शास्त्रों में वर्णित हैं। पंचविध अथवा षड्विध संबन्धों का परिचय अनेक ग्रन्थों के आधार पर तथा महौघ-क्रम और गुरुक्रम का परिचय सिद्धान्तसारावलि के आधार पर "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (पृ. 305-308) में दे दिया गया है।

स्वायम्भुवागम के प्रारंभ में ही बताया गया है कि यहाँ ज्ञान और दीक्षा का उपदेश दिया गया है। सिद्धामत का कहना है कि शिवशास्त्र में अर्थषट्क और दीक्षा उपदिष्ट है। यहाँ अध्वषट्क[6] पाठान्तर मिलता है। ये दोनों शब्द ज्ञान के ही बोधक हैं। इनमें आचार्य की दृष्टि से ज्ञान की और मुमुक्षु शिष्य की दृष्टि से दीक्षा की प्रधानता मानी गई है। यह ज्ञान क्या है? कहाँ से इसकी प्रवृत्ति होती है? इसका प्रयोजन क्या है? इन सब प्रश्नों का उत्तर रौरव, स्वायम्भुव आदि आगमों में पठित इस बचन से मिलता है-

अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवाज्ज्ञानं प्रवर्तते।।

अर्थात् अणु आत्माओं में विद्यमान आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मल (बन्ध) से मुक्ति दिलाने के लिए तथा शिवत्व की अभिव्यक्ति अर्थात् शिवभाव को प्रकाशित करने के लिए परमशिव से ज्ञान की प्रवृत्ति होती है।[7] उपनिषदों में परा और अपरा विद्या वर्णित है। इसी तरह से शिवज्ञान भी पर और अपर के भेद से दो तरह का है। इनमें परज्ञान[8] अवबोधरूप तथा अपरज्ञान कामिक आदि 28 आगमों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इनमें अवबोधरूप ज्ञान शिव की अपनी शक्ति ही है। यह शक्ति समवायवर्तिनी और परिग्रहवर्तिनी के भेद से द्विविध है। इनमें बोधरूपा शक्ति सभी पदार्थों का ज्ञान कराती है।

परमेश्वर सृष्टि के प्रारंभ में पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अवबोधरूप विमल ज्ञान को ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर नामक पाँच मुखों (स्रोतों) से प्रवाहित करते हैं। यह अवबोधरूप ज्ञान ही निष्कल शिव से प्रथमतः नाद के रूप में प्रस्तुत होता है। पश्चात् नादरूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह ज्ञान उसके सकल सदाशिव रूप के द्वारा[9] छः पदार्थों के अथवा तीन पदार्थों के प्रतिपादक तन्त्रों के रूप में उपदिष्ट हो सिद्धान्तशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है। पौष्करागम[10] में कहा गया है – "अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्। नादरूपंविनिष्क्रान्तं शास्त्रम्"। अन्यत्र भी वर्णित है–"सदाशिवोऽपि भगवान् नादरूप तयाऽऽगतम्। षट्पदार्थमयं ज्ञानम्"। इन वचनों का अभिप्राय भी यही है कि प्रथमतः अनन्त वैभव सम्पन्न, सबके परमकारण, शान्तस्वरूप भगवान् शिव से नादरूप ज्ञान की और तत्पश्चात् सदाशिव स्वरूप से षट्पदार्थ अथवा त्रिपदार्थ प्रतिपादक शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान और शास्त्र शब्द यहाँ अवबोध रूप और शब्द रूप पर और अपर ज्ञान के सूचक हैं। यही विषय कुलमूलावतार, श्रीकण्ठीसंहिता स्वच्छन्दभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र, स्वच्छन्दसंग्रह जैसे ग्रन्थों में भी वर्णित हैं। सिद्धान्तसारावलि में वर्णित शिवज्ञान की चर्चा ऊपर आ चुकी है।

मध्यदेश से शैवागमों का प्रसार

जैसा कि अभी बताया गया है, अभिनवगुप्त के मत से मध्यदेश सभी शास्त्रों की उत्पत्तिस्थली था। वे ही कहते हैं कि श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से अद्वय, द्वय और द्वयाद्वय शास्त्रों के प्रसार के लिए क्रमशः त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नामक आचार्य अवतरित हुए। शिलाशासनों के प्रमाण से भी यह सिद्ध हो जाता है कि इन सबकी अवतारस्थली मध्यदेश ही थी। कदम्बगुहावासी, शंखमठिकानाथ और तेरम्बिपाल नामक आचार्य; आमर्दक तीर्थ, पुरन्दर, कवचशिख जैसे शैवाचार्य[12] पतंगशम्भु के शिलालेख में चर्चित हैं।[13] आमर्दक तपोवन से विनिर्गत सदाशिवाचार्य लाट (गुजरात) देश में जाकर बस गये थे, यह सूचना सातवीं ई. शताब्दी के शिलालेख से मिलती है। इन सभी स्थानों की स्थिति[14] मध्य देश में ही होनी चाहिये।

इनमें कदम्बमठिका अथवा आमर्दक तीर्थ द्वैतागमों की, शंखमठिका द्वैताद्वैतागमों की और तेरम्बिमठिका[15] अद्वयागमों की प्रसारस्थली थी, ऐसा ऊपर के अभिनवगुप्त के वचन से ज्ञात होता है। आमर्दक, श्रीनाथ और त्र्यम्बक नामक आचार्य क्रमशः इन शास्त्रों के प्रवक्ता थे। धारानगरी के राजा भोज के गुरु लाट देश के उत्तुंगशिव[16] के कनिष्ठ भ्राता थे। ये उत्तुंगशिव आमर्दक तपोवन से निकल कर लाट देश में पहुंचे आचार्य सदाशिव की परम्परा के हो सकते हैं। दाक्षिणात्य अघोर शिवाचार्य त्रिलोचन शिवाचार्य की परम्परा से संबद्ध होने चाहिये।[18] अभिनवगुप्त के कथन के अनुसार उनके पूर्वज मध्यदेश से ही कश्मीर गये थे। हम कह सकते हैं कि मध्यदेश से ही सर्वत्र शैवशास्त्र का प्रसार हुआ।

शैवमठ–परम्परा

ऊपर शैव मठ–मठिकाओं, तीर्थों और आश्रमों की चर्चा आई है।[19] डॉ. वी.एस. पाठक के ग्रन्थ में तथा डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय के "द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागम"[20] शीर्षक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निबन्ध में इनका परिचय दिया गया है। वहाँ (पृ0 160-66) शैव मठों की परम्परा का सामान्य परिचय देते हुए आमर्दक, मत्तमयूर[21] और माधुमतेय मठों की परम्परा का विशेष विवरण दिया गया है। इनसे भी पहले म.स. वासुदेव विष्णु मिराशी नें अपने कुछ निबन्धों में इस विषय पर प्रकाश डाला था। नेपाली विद्वान् डॉ. देवराज पौडेल ने भी अपने शोध-प्रबन्ध में इस विषय पर कुछ लिखा था। सिद्धान्तसारावलि की टीका में प्रसंगवश इस विषय की चर्चा हुई है।

ग्रन्थकार ने यहाँ क्रियापाद के अन्तिम दो श्लोकों (89-90) में दीक्षा एवं अभिषेक के क्रम से बिन्दु तत्त्व से चली आ रही शैवकुल-परम्परा, शैवमठ-परम्परा और आमर्दक मठ की परम्परा का निरूपण कर इन परम्पराओं में अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है। टीकाकार ने मुनि दुर्वासा[22] से शैव सम्प्रदाय की प्रवृत्ति, भारतवर्ष में आमर्दक मठ की स्थापना, उससे चली रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि मठों की परम्परा[23] कौशिक आदि ऋषियों की शैवी सृष्टि, सात गोत्र पुरुष एवं आमर्दक मठीय सम्प्रदाय और अपनी गुरु परम्परा पर प्रकाश डाला है। पूर्व-गुरु के रूप में ग्रन्थवक्ता ने यहाँ व्यापकशंभु[24] का स्मरण किया है और टीकाकार ने ग्रन्थलेखक त्रिलोचन शिवाचार्य की पूर्वकथा[25] को प्रस्तुत किया है।

आमर्दक मठ का परिचय

सिद्धान्तसारावली के प्रणेता त्रिलोचन शिवाचार्य आमर्दक मठ से संबद्ध हैं। उस ग्रन्थ की प्रस्तावना में इनके विषय में पर्याप्त जानकारी दी जा चुकी है। स्वयं ग्रन्थकार ने आमर्दक आश्रम के विषय में यह सूचना दी है कि इसकी स्थापना दुर्वासा ऋषि ने की थी (2-89)। इनकी गुरु-परम्परा व्यापक शंभु से चली, इसका निर्देश भी ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में किया है। टीकाकार प्रमाण-वचनों को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि नामक पीठ आमर्दक मठ से ही संबद्ध हैं। इन सभी मठों की स्थिति गोदावरी नदी के तट पर विद्यमान शैवों की मन्थरकाली नामक वसति में स्थित मन्थरकालीश मंदिर के चारों तरफ थी। इन मठों से संबद्ध कदम्ब, अर्जुन, जामुन और न्यग्रोध नामक वृक्षों का वहाँ (पृ0 255) उल्लेख मिलता है। यहीं मण्डप-निर्माण के प्रसंग (पृ0 158) में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वस्थ और प्लक्ष नामक वृक्षों से तोरण बनाने की सूचना मिलती है। यह परम्परा जिस-किसी रूप में आज भी प्रचलित है। पूजा में पंच पल्लवों का विधान इसी से संबद्ध लगता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी ने प्राच्य विद्या निबन्धावली के चतुर्थ खण्ड में संगृहीत "पतंगशम्भु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" शीर्षक निबन्ध (पृ0175) में बताया है कि उज्जयिनी ही आमर्दक तीर्थ है। इसके विपरीत[26] म.म. हरिप्रसाद शास्त्री जी ग्वालियर के आसपास कहीं इसकी स्थिति मानते है। डॉ. मिराशी वहीं अरणिपद्र या रणिपद्र मठ की भी चर्चा करते हैं (पृ0 174, 176-78)। डॉ. वी.एस. पाठक रणिपद्र के अतिरिक्त गोलकी मठ की भी चर्चा करते हैं। इस सब मठों की स्थिति मालवा में ही मानी जाती है, किन्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिद्धान्तसारावलि में इनकी स्थिति गोदावरी नदी के तट पर मानी गई है। यह भी अवधेय है कि यहाँ रणभद्र नाम दिया गया है, रणिपद्र नहीं। पुष्पगिरि नाम उन दोनों ही स्थलों पर नहीं मिलता। इस विषय पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि त्रिलोचन शिवाचार्य की पूर्वकथा के सूचक इन वचनों को टीकाकार ने कहाँ से उद्धृत किया है। तन्त्रालोक आदि के प्रमाण से इनकी मूलस्थिति मध्यदेश में ही माननी होगी। यह संभव है कि बाद में आमर्दक मठ की शाखाओं की स्थापना गोदावरी नदी के तट पर हुई हो।

सिद्धान्त शैवागमों का आविर्भाव

डॉ0 एस.एन. दासगुप्त ने अपने विशाल इतिहास-ग्रन्थ के पाँचवे खण्ड के पहले अध्याय में इस विषय पर पर्याप्त लिखा है। वे शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य (2.2.37) का उल्लेख कर कहते हैं कि यहाँ सिद्धान्त नामक ग्रन्थों के विषय में लिखा गया है, किन्तु ऐसा कोई शब्द शांकरभाष्य में नहीं मिलता। वहाँ माहेश्वराः शब्द प्रयुक्त है और टीकाकारों ने इस शब्द की व्याख्या में चार शैवमतों की चर्चा की है। अन्य भाष्यकार भी ऐसा ही मानते हैं। इस निबन्ध के प्रारंभ में हम इन चतुर्विध शैवों का उल्लेख कर चुके हैं। डॉ. दासगुप्त आगे वाचस्पति मिश्र, सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह और आचार्य रामानुज के ब्रह्मसूत्रभाष्य को उद्धृत कर कहते हैं कि कालामुख और कापालिक संबन्धी वर्णन हमें कहीं नहीं मिलता। बाद में वे भवभूति के मालतीमाधव और आनन्दगिरि के ग्रन्थ को उद्धृत कर दो प्रकार के कापालिकों का परिचय देते हैं। इसी प्रसंग में वे अथर्ववेद् के व्रात्यों का भी उल्लेख करते हैं। वे डॉ. आर.जी. भाण्डारकर के मत का खण्डन भी करते हैं। इनका यह सारा विवरण अब पुराना पड़ चुका है।

शैवागमों का रचनाकाल ये दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक मानते हैं। इनका विचार है कि कौण्डिन्य-भाष्य में इन्हीं आगमों के वचन उद्धृत हैं। दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि आगमों में पाशुपत-सूत्रों और कौण्डिन्य-भाष्य का उल्लेख है (पृ016)। इनका यह भी सोचना है कि आगम पहले द्रविड़ भाषा में लिखे गये थे। बाद में उनका संस्कृत स्वरूप तैयार हुआ। सूतसंहिता को ये छठी शताब्दी की रचना मानते हैं। सिद्धान्त शैव दर्शन का परिचय इन्होंने भोजदेव[27] और उसके टीकाकार कुमारदेव के आधार पर (पृ0150-62) दिया है। शिवधर्मोत्तर के एक वचन के प्रमाण से ये सिद्ध करते हैं कि शिवागम संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषा में लिखे गये थे, किन्तु उक्त वचन का इन्होंने गलत अर्थ किया है। वहाँ (पृ0 15) की टिप्पणी में यह श्लोक दिया गया है-

संस्कृतैः प्राकृतैवाक्यैर्यश्च शिष्यानुरूपतः।
देशमाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः।।

यह वचन आगमों से संबद्ध न होकर गुरु से संबद्ध है कि वह शिष्य की योग्यता के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत अथवा स्थानीय भाषा के माध्यम से उसे आगमों को समझावें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इधर कलकत्ता से सन् 82 में प्रो. एन.एन. भट्टाचार्य का "हिस्ट्री आफ दी तांत्रिक रिलीजन" शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इनके अनुसार (द्वितीय संस्करण, पृ0 40) छठीं शताब्दी के कैलासनाथ मन्दिर में राजसिंह वर्मन् के द्वारा उत्कीर्ण[28] शिलालेख में शिवागम चर्चित हैं। आधुनिक इतिहासज्ञ इसी के आसपास सिद्धान्त शैवागमों की प्रवृत्ति मानते हैं। इधर सन् 1998 में पांडिचेरी के फ्रेंच शोध संस्थान से भट्ट रामकण्ठ की वृत्ति के साथ किरणागम के विद्यापाद के प्रथम छः पटलों का प्रकाशन हुआ है। इसके संपादक डॉ. डोमिनिक गूडाल हैं। इस सुन्दर संस्करण के प्रारम्भ में विद्वान् संपादक ने अंग्रेजी भाषा में विस्तृत उपोद्घात लिखा है। यहाँ इन्होंने वृत्तिकार रामकण्ठ द्वितीय तथा किरणागम के परिचय के साथ 28 सिद्धान्तागमों के विषय में भी चर्चा की है। पूरी सावधानी के साथ अभी इसे हम पढ़ नहीं पाये हैं। हमें ऐसा लगता है कि छठीं शताब्दी के पूर्ववर्ती संस्कृत और तमिल साहित्य में 28 सिद्धान्तग्रंथों की प्रवृत्ति के स्रोतों की जानकारी हमें प्राप्त करनी चाहिये। यह भी कि इनकी प्रवृत्ति दक्षिण में हुई या मध्यदेश में? भारतीय परम्परा के अनुसार अठारह महापुराणों का गायन नैमिषारण्य में हुआ। दस शिवागमों और अठारह रुद्रागमों को मिलाकर 28 सिद्धान्तागमों का भी गायन क्या इसी पद्धति से किसी स्थान विशेष में हुआ? इसकी जानकारी के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिये। आद्य शंकराचार्य के कालनिर्णय के प्रसंग में हम ऐसी गलती कर चुके हैं। इस तरह गलतियाँ बार-बार दुहराई जायं यह कोई समझदारी का काम नहीं है।

सिद्धान्तागमों की त्रिविध व्याख्याएँ

अट्ठाईस सिद्धान्तागमों के आविर्भाव के देश और काल के विषय में अभी पर्याप्त विचार अपेक्षित है। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें हमें द्वैतवादी सिद्धान्तागमों की त्रिविध व्याख्या देखने को मिलती हैं। अनुमानतः आठवीं शताब्दी के उग्रज्योति और सद्योज्याति शिवाचार्य से प्रारंभ हुई कश्मीर की परम्परा पहली, अघोर शिवाचार्य के आस-पास ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर से जुड़ी दक्षिण भारत की परम्परा दूसरी और मध्यदेश के शिव-शंभु नामान्त आचार्यों के द्वारा व्याखात परम्परा तीसरी। इस तीसरी परम्परा का प्रतिनिधित्व भोजदेव का तत्त्वप्रकाश और कुमारदेव की उसकी व्याख्यात जैसे ग्रन्थ करते हैं। हम इनके बहुत विस्तार में नहीं जायेंगे, क्योंकि यह पूरा साहित्य हमारे सामने है और भारतीय दर्शन के इतिहास के ग्रन्थों में इनका पर्याप्त परिचय मिलता है।

कश्मीर की और दक्षिण के अघोर शिव जैसे आचार्यों की परम्परा बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। दोनों ही द्वैतवाद के प्रबल समर्थक हैं। जबकि भोजदेव की परम्परा अद्वैतोन्मुख हो गई है। दक्षिण के प्राचीन और नवीन तमिल वाङ्मय के आधार पर विकसित दक्षिण का सिद्धान्तशैव दर्शन भी अद्वयोन्मुख होता गया है। वाराणसी में सम्पन्न हुई सिद्धान्त शैवागम की गोष्ठी में दो निबन्ध पढ़े गये थे। एक में इसको द्वैतवादी और दूसरे में अद्वयवादी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन माना गया था। खण्ड-खण्ड में हुए अध्ययन का यह फल था। तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकारों को द्वैतवादी अघोरशिव अद्वैतवासनाविष्ट कहते हैं। इस निबन्ध की 27वीं टिप्पणी में हम प्रो. हॉडीकी और डॉ. दासगुप्त के मतों की चर्चा कर चुके हैं कि इन दोनों महानुभावों ने शैवागमों का परिचय तत्त्वप्रकाश और उसकी तात्पर्यदीपिका टीका के आधार पर दिया है। हमने अपने अष्टप्रकरण के संस्कृत उपोद्घास में स्थान-स्थान पर अघोरशिव के मत की समालोचना की है कि किस तरह से उनके सिद्धान्त कश्मीरी द्वैतवादी आचार्यों की व्याख्या के विपरीत पड़ते हैं। इधर काशी के जंगमवाड़ी मठ से सर्वात्मशंभु की सिद्धान्त प्रकाशिका प्रकाशित हुई है। ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' (पृ0 273-7) में इसका परिचय दिया गया है। अघोरशिव अपने गुरु के रूप में सर्वात्मशंभु को स्मरण करते हैं। उक्त ग्रन्थ से अघोरशिव के विचारों की ही पुष्टि होती है। इनके आधारभूत साहित्य की हमें खोज करनी होगी। इस विषय पर हमने 'तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन' के शैवाधिकार के अन्तर्गत सिद्धान्त शैव प्रकरण में पर्याप्त विचार किया है। स्पष्ट है कि आजकल सिद्धान्तशैवागम की त्रिविध व्याख्या देखने को मिलती है।

सिद्धान्तशास्त्र का अवदान

अन्त में हम सिद्धान्त शैवागम के अवदान की संक्षिप्त चर्चा करना चाहते हैं। चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्यास्थानों का उल्लेख एवं विवरण आगमों और पुराणों में भी मिलता है। महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थानभेद में इनका स्पष्ट विवरण दिया है। इस छोटे से ग्रन्थ को हमने सर्वात्मशंभु की सिद्धान्तप्रकाशिका के साथ प्रकाशित कराया है। प्रस्तावना में हमने बताया है कि प्रस्थानभेद से प्रधानतः वैदिक वाङ्मय का और सिद्धान्त प्रकाशिका में आगमिक वाङ्मय का परिचय मिलता है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ वसन्ततिलक के टीकाकार ने चतुर्दश विद्यास्थान की जगह पंचविध विद्यास्थानों को मान्यता दी है। इनमें लक्षण, हेतुविद्या, आध्यात्मिकी विद्या, चिकित्साशास्त्र और शिल्पशास्त्र परिगणित हैं। उमापति शिवाचार्य के शतरत्नसंग्रह में भी कामिकागम और सोमसिद्धान्त के आधार पर शास्त्रों के लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच भेद बता कर पुनः प्रत्येक के[29] पाँच-पाँच भेदों का उल्लेख कर लिखा है कि इन सबका परिचय सर्वात्मशंभुकृत सिद्धान्तदीपिका में दिया गया है। सर्वात्मशंभु का यह ग्रन्थ अब सिद्धान्तप्रकाशिका के नाम से प्रकाशित हो चुका है। वहाँ से इन सबका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आध्यात्मिक विभाग में वहाँ लोकायत, बौद्ध और आर्हत दर्शन भी समाविष्ट हैं और अतिमार्गिक विभाग में कौल, कापालिक आदि शास्त्र।

कश्मीर के सिद्धान्तशास्त्र के आचार्यों ने सर्वागम प्रामाण्य जैसे ग्रन्थों की रचना की है और मध्यदेश के शिवशंभु नामान्त शिवाचार्यों ने पंचायतन पूजा के रूप में स्मार्त धर्म की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिष्ठा में महनीय अवदान किया है। आचार्य शंकर के प्रपंचसार से पहले ही यह परम्परा प्रचलित हो चुकी थी, इसके प्रमाण मिलते हैं। कश्मीरी विद्वानों ने इन सभी आगमों को प्रमाण माना है। अभिनवगुप्त ने इतना जोड़ा है कि हमने द्वैतवादी सिद्धन्तागमों की अद्वैतपरक व्याख्या की है। पाशों की संख्या प्रत्यभिज्ञा दर्शन में तीन ही मानी गई, पाँच नहीं। वीरशैवाचार्यों का कहना है कि 28 सिद्धान्तागमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत प्रतिपादित है। इन्होंने आगमों की द्वैताद्वैतपरक व्याख्या की है। अनेक आचार्य दश-कामिक आदि शिवागमों को द्वैतवादी और अठारह विजय आदि रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी मानते हैं। वीरशैव मत में भी पाशों की संख्या तीन ही मानी गई है। भुल्लुक नामक आचार्य ने स्वच्छन्दतन्त्र की सिद्धान्तपरक व्याख्या की है। क्षेमराज इसको सही नहीं मानते। रत्नत्रय के टीकाकार अघोरशिव का कहना है कि इस ग्रन्थ की कुछ लोगों ने वैदिक दृष्टि से अन्यों ने कुलपद्धति से, कुछ ने न्याय दर्शन की दृष्टि से तथा अन्य महानुभावों ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसकी व्याख्या की है। तत्त्वप्रकाश के लिए यह कहा जा चुका है कि अद्वैतवासना से आविष्टजनों ने इसका मनमाना अर्थ किया है। इन उक्तियों से ब्रह्मसूत्र के समान इन आगमों का भी महत्व स्पष्ट हो जाता है। इस निबन्ध के प्रारंभ में उद्धृत क्षेमराज के स्वच्छन्दोद्योत की उक्ति का स्मरण करते हुए हम इस निबन्ध को पूरा करते हैं-"प्रायश्च सिद्धान्तप्रियोलोकः सिद्धांतक्रममास्थितः"82.25)।।

संदर्भः

1. डॉ. वी.एस. पाठक, 'हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया' (पृ0 4-8) में श्रीकण्ठ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। इसके विपरीत डॉ. डेविड एन. लोरेंजन अपने ग्रन्थ "कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" (पृ0 174-75) में इस मत को स्वीकार नहीं करते। अभिनवगुप्त की यह उक्ति आप्त पुरुष के रूप में डॉ. पाठक के पक्ष को समर्थन देती है।
2. "तन्त्रागमीयं संस्कृतिदर्शनम्"(पृ0119-24) देखिये।
3. तन्त्रशास्त्र का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने संहिता, आगम और तन्त्र शब्दों का प्रयोग क्रमशः वैष्णव, शैव और शाक्त शास्त्रों के लिए किया है, किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि 28 शैवागमों के लिए भी तन्त्र शब्द प्रयुक्त है। सिद्धान्तसारावलि (पृ0283-84) में उद्धृत कारणागम के वचनों में शैवागमों के लिये संहिता और तन्त्र शब्द भी प्रयुक्त है। "तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे" (वि.16.20) मतंगपारमेश्वर के इस वचन में वह स्वयं अपने को तन्त्र कहता है। इस विषय में हम अपने ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र"(पृ01-6) में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। स्पष्ट है कि इन शब्दों की पर्यायता प्राचीन काल से चली आ रही है।
4. शैवभूषण के प्रमाण से 18 पद्धतिकारों के नाम इस तरह से दिये गये हैं-
   उग्रोत्तरज्योतिरथोपसद्यः श्रीरामकण्ठोऽपि च वैद्यकण्ठः।
   नारायणश्चापि विभूतिकण्ठः श्रीनीलकण्ठोऽपि च सोमशम्भुः।।
   ईशानशम्भुर्द्वयमादिना स्याद्विरञ्चि् वैराग्यकयुग्मवाच्यौ।
   ज्ञानस्त्रिनेत्रौ वरुणेश्वरौ तावित्यादयस्ते स्युरघोरशम्भुः।।
5. षड्विध एवं पंचविध संबन्धों का मुख्य आधार कामिक आदि दस शिवागमों की परम्परा में तीन-तीन और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विजय आदि अठारह रुद्रागमों की परम्परा में दो-दो वक्ता-श्रोताओं की स्थिति के कारण है। पंचविध पक्ष में 'अन्तराल' संबन्ध की स्थिति नहीं है। कामिक आदि शिवागमों के तीस तथा विजय आदि रुद्रागमों के छत्तीस कुल 66 आचार्यों की नामावली लुप्तागमसंग्रह प्रथम भाग (पृ0 17-19) में संगृहीत किरणागम के वचनों में देखी जा सकती है। किरणागम का विद्यापाद अब रोमन लिपि में प्रकाशित हो चुका है। वहाँ (10, 4-27) आनुपूर्वी से ये वचन उपलब्ध हैं। इन अट्ठाईस आगमों के उपदेशक प्रणव आदि दस शिवों और अनादि आदि अठारह रुद्रों की नामावली स्वच्छन्दतन्त्र (10,1196-99) में भी मिलती है। रौरवागम (भा.1, पृ0 7-9) और अजितागम (भा.1, पृ0 4-10) में भी यह विषय देखा जा सकता है।

6. अर्थषट्क और अध्वषट्क का परिचय 'तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन' (पृ0 310 और पृ0 387) से प्राप्त कीजिये।

7. "द्वे विद्ये वेदितव्ये.........परा चैवापरा च" (मुण्डको, 1.1.4)।

8. अवबोधरूप ज्ञान का विस्तृत परिचय उक्त ग्रन्थ (पृ0 351-57) में दिया गया है।

9. छः पदार्थों के एवं तीन पदार्थों के प्रतिपादक तन्त्रों का परिचय वहीं (पृ0 309-10) दिया गया है।

10. "अदृष्टाविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्। ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्।।" यह श्लोक कुछ पाठ भेदों के साथ विज्ञान-भैरवोद्योत (पृ03), स्वच्छन्दतन्त्र (8. 27-28), स्वच्छन्दोद्योत (8.27-28) और पौष्करागम (शत रत्नसंग्रह, पृ0 7) में उपलब्ध है। इन स्थलों पर शास्त्रों की नादरूपता प्रतिपादित है।

11. जिस नादरूप शास्त्र का प्राकट्य हुआ, उसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है- "शुद्धात्मनां हितं शास्त्रं त्रायते यद्भवार्णवात्। तच्छासन परित्राणाच्छास्त्रमित्यभिधीयते।।"

12. म.म.डॉ.वासुदेव विष्णु मिराशी की प्राच्यविद्या निबन्धावली के चतुर्थ भाग में संगृहीत उनका "पतंगशम्भु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" (पृ0 174-75) नामक निबन्ध देखिये।

13. सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के शिवगुप्त वालार्जुन के सेनकपाट शिलालेख में आमर्दक तपोवन से विनिर्गत सदाशिवाचार्य का उल्लेख है। लाट देश के राजा के बुलावे पर वे गुजरात चले गये थे।

14. अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (37.38) के प्रमाण से तथा म.म. मिराशी के उक्त निवन्ध से इन पीठों की मध्यदेश में स्थिति की पुष्टि होने से इन सभी मठिकाओं की स्थिति मध्यदेश में ही मानना उचित है। अभी इन सभी स्थानों की सही पहचान अपेक्षित है।

15. 'तेरम्बा' के नाम से प्रसिद्ध त्र्यम्बक मठिका से प्रवृत्त त्र्यम्बक सम्प्रदाय की परम्परा शिवदृष्टि (7. 107-12) में वर्णित है। तन्त्रसार (पृ04), तन्त्रालोक एवं उसकी विवेक टीका (भा.1,पृ0 25-26) में भी यह चर्चित है। लगता है कि इस तेरम्बिमठिका से ही सोमानन्द अथवा उनके पूर्वज कश्मीर गये होंगे।

16. अघोरशिवाचार्य की पद्धति के प्रमाण से शैवदर्शनविन्दु (पृ0 11-12) में डॉ.कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने यह कहा है।

17. त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि अनन्तशम्भु की टीका के साथ अब प्रकाशित हो चुकी है। शैव कल्ट.(पृ038,टि.2) की टिप्पणी में उद्धृत श्लोक यहाँ टीका (पृ0258) में उपलब्ध है। तदनुसार त्रिलोचन शिवाचार्य की परम्परा में अघोर शिवाचार्य की स्थिति मानी जा सकती है।

18. तन्त्रालोक (37,38-39) द्रष्टव्य।

19. "हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया" (पृ0 46-50) द्रष्टव्य।

20. देखिये संस्कृत वाङ्मय का वृहत् इतिहास, एकादश खण्ड (पृ. 160-66)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

21. प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (32,72) में मत्तमयूर वंश का क्रम-विमल शिव के शिष्य ईशानशिव और उनके शिष्य वैरोचन- यह दिया है। सोमशम्भुपद्धति (पृ0 187) में ईशान प्रथम और विमलेश द्वितीय नाम है। शिव-शम्भु नामान्त सिद्धान्तशैव मत के राजगुरुओं की नामावली डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी के पूर्वसूचित निबन्ध (पृ0174-82) में भी देखी जा सकती है। ईशानशिवपद्धति के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में भी यह विषय चर्चित है। इन आचार्यों के द्वारा निर्मित विमलावती आदि ग्रन्थ अभी मुद्रित नहीं हुए हैं। इन ग्रन्थों की सहायता से इन आचार्यों की नामावलियों में दिखाई पड़ने वाले परस्पर विरोध का परिहार कर इनको परिष्कृत किया जा सकता है। एक विषय यहाँ अवधेय है- इन सोम-शम्भु नामान्त शैवाचार्यों में ब्रह्मशम्भु, शोमशम्भु इस तरह के शम्भु नामान्त शैवाचार्यों के नाम मिलते हैं। इस तरह के नामों में केवल छन्द के अनुरोध से ही शिव के स्थान पर शम्भु किया गया हो, ऐसा नहीं लगता, क्योंकि ईशानशिवपद्धति के तृतीय भाग के गद्यभाग में भी बहुशः शम्भु-संयुक्त नाम ही मिलते हैं। इसी तरह से कर्मकाण्डक्रमावलि के अन्त में सोमशिव और सोमशम्भु दोनों तरह के नाम उपलब्ध हैं, जबकि पुष्पिका -वाक्यों में सोमशम्भु नाम है। इससे हम किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाते कि शम्भुनामान्त और शिवनामान्त आचार्यों की परम्परा एक ही है अथवा पृथक् पृथक्।

22. शिवदृष्टि (7.110) में भी दुर्वासा मुनि को ही शैवशास्त्र का उद्धारक बताया गया है।

23. वीरशैव आगमों में सिद्धान्तशैवों को आदि शैव बताया गया है। चन्द्रज्ञानागम उत्तरभाग के क्रियापाद (10,7) में तथा सूक्ष्मागम उत्तरभाग के भी क्रियापाद (7.8) में कौशिक आदि आदिशैवों की चर्चा हुई है।

24. "श्रीमद्व्यापकशम्भुपूर्वगुरुयुक्" (क्रिया. श्लोक 90)।

25. पूर्वकथा के श्लोकों को ऊपर (पृ02-3) उद्धृत किया जा चुका है।

26. ईशानशिवपद्धति के यशस्वी सम्पादक म.म. टी. गणपतिशास्त्री जी ने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में म.म. हर प्रसाद शास्त्री जी की टिप्पणी को उद्धृत करते हुए बताया है कि शास्त्री जी के मत के अनुसार कदम्बगुहा, शंखमठिका, तेरम्बी और आमर्दक मठ की भी स्थिति ग्वालियर स्टेट में है। डॉ. मिराशी उज्जयिनी को आमर्दक तीर्थ मानते हैं (पृ0 175)। इसकी परीक्षा अपेक्षित है। हम समझते हैं कि आमर्दक तीर्थ की स्थिति उज्जयिनी से भिन्न होनी चाहिए।

27. "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर" जैसे ग्रन्थ के यशस्वी लेखक प्रो. कृष्णकान्त हांडीकी ने भी तत्त्वप्रकाश और उसकी कुमारदेव की टीका का तात्पर्य दीपिका के आधार ही सिद्धान्तशैवागम के दर्शन का परिचय दिया है। डॉ. दासगुप्त और प्रो. हांडीकी के मत की समीक्षा हम तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (पृ0276-79) में कर चुके हैं। संभवतः इनके सामने द्वैतवादी आचार्यों के अष्टप्रकरण जैसे ग्रन्थ नहीं थे। डॉ. दासगुप्त के मत की समीक्षा संस्कृत वाङ्मय के बृहत् इतिहास के एकादश तन्त्रागमीय खण्ड (पृ0 115-17) में भी की गई है।

28. साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, भा.1, नं. 24-25

29. "लौकिक-वैदिक-आध्यात्मिक-आतिमार्गिक-मान्त्रिकभेदेन सदाशिवस्य प्रति-मुखं पञ्चविधभिन्नानि पञ्चविंशतिस्रोतांसि.....तथा कामिके... पञ्चविंशतिभेदेन स्रोतोभेदः प्रकीर्तितः" (पृ08)। स्वच्छन्दतन्त्र (11,43-45) में केवल पाँच मुख्य भेद ही गिनाये गये हैं। टीकाकार क्षेमराज का उपविभागों का विवरण भिन्न प्रकार का है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव के विविध स्वरूप

-राय आनंदकृष्ण*

यहाँ हम भारत कला भवन एवं एक-दो संग्रहकर्ताओं के संग्रह से शिव के कुछ अप्रचलित स्वरूपों पर संक्षेप में चर्चा कर रहे हैं :-

1. मथुरा से प्राप्त एकमुखी शिव*लिङ्ग* जो भारत कला भवन संग्रहालय में सुरक्षित है। इसकी यह विशेषता है कि निर्माण के कुछ ही समय बाद इसे द्विमुखी *शिवलिङ्ग* की आकृति बना दी गयी। द्विमुखी *शिवलिङ्ग* बहुत कम ही ज्ञात हैं। संभवतः एक अन्य उदाहरण जो कुषाणकालीन है, वह राजकीय संग्रहालय मथुरा में है। परन्तु भारत कला भवन वाले *शिवलिङ्ग* की यह विशेषता है कि इसे परिवर्तित करके द्विमुख का रूप दिया गया है। यह परिवर्तन किसी विशेष विचार हेतु किया गया होगा। प्रमाण यह है कि बाद में उकेरा हुआ मुख किसी दूसरे मूर्तिकार की छेनी का नमूना तो है ही, मूल मुख से भूलम्ब के अनुसार थोड़ा नीचे है। दोनों ही मुखों में शिव का तत्पुरुष स्वरूप दिखलाया गया है। इसलिए इसे अर्द्धनारीश्वर स्वरूप नहीं कहा जा सकता।[1]

अब हम कुछ चित्रों को लें जिसमें विशेष रूप से पहाड़ी शैली की उपशैलियों में शिव के विलक्षण रूप मिलते हैं। यहाँ भारत कला भवन से निम्नलिखित सामग्री ली जा रही है:-

1. पहाड़ी शैली के अंतर्गत गुलेर शैली में शिव का राजस् ध्यान :

यहाँ शिव-पार्वती राजा-रानी की तरह सिंहासन पर बैठे हैं। ऋषि-मुनि एवं देवगण उनके सिंहासन के नीचे खड़े होकर उनसे फरियाद कर कृपा की याचना कर रहे हैं।

इस चित्र की एक और विशेषता है : इसके हाशिए के किनारों पर गोंट की भाँति चारों ओर शिव *लिङ्ग* अंकित किए गए हैं। संभवतः हाशिए का इस प्रकार का यह अनोखा अंकन है, संभव है, एक दो और हों। इसका कुछ सांकेतिक महत्त्व होना चाहिए, जो हमें ज्ञात नहीं।

2. शिव-परिवार हिमाच्छादित कैलाश पर्वत पर भ्रमण कर रहा है। सारे शिखर चाँदी से रंगे हैं। गोद में कार्तिकेय को लिए माता पार्वती किसी पहाड़ी से उतर रही हैं और शिव उनका हाथ पकड़कर उन्हें सहारा दे रहे हैं। शिव के गार्हस्थ्य जीवन का यह मार्मिक अंकन है मानो हिम से बचने के लिए शिव नीचे उतर रहे हैं। उनका साज-सामान नंदी पर लदा है।

3. पहाड़ी शैली के चित्र की अनुकृति (चित्रकार शारदा प्रसाद जी द्वारा) में देवी के दरबार में शिव नृत्य कर रहे हैं। यहाँ अन्य देवगण उपस्थित हैं। कुछ वाद्ययंत्र भी बजा रहे हैं। मूल चित्र विदेश में है।

---

*पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, कला इतिहास विभाग, का.हि.वि.वि.,वाराणसी.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

4. गढ़वाल शैली का चित्र जिसमें विष्णु अपने मोहिनी अवतार में हैं। उनपर मोहित होकर शिव उनका पीछा कर रहे हैं, घबराकर मोहिनी छिपने के लिए एक गुफा की तरफ भाग रही हैं।

5. अत्यंत वृद्ध शिव के पार्श्व में युवती पार्वती। मंडी शैली के भी कुछ चित्र विलक्षण हैं। अट्ठारहवीं शदी के प्रारंभिक वर्षं में वहाँ सिद्धसेन नामक राजा हुए जो स्वयं को शिव का अवतार मानते थे। उनके विलक्षण चित्र मिलते हैं!

6. एक में वे केवल लंगोट पहने एवं बाघम्बर ओढ़े एवं खड़ाऊँ पहने चले जा रहे हैं।

7. एक अन्य चित्र में उनके मस्तक पर द्वितीया का चंद्रमा है।

8. एक और चित्र में शिव का स्थानीय रूप मिलता है, जिसके ऊपर लेख है "भटन्ती महादेव"। पूछताछ से ज्ञात हुआ कि उस क्षेत्र में सचमुच में "भटन्ती महादेव" का एक मंदिर है। चित्र की विशेषता है कि यहाँ वे उस क्षेत्र के जनजातीय व्यक्ति के समान दिखलाए गए हैं। अर्थात् उसी प्रकार की उनकी मुखाकृति है, आँखें हैं, उदाहरण के लिए सकरी आँखें हैं और उसी प्रकार का स्थानीय रूईदार वस्त्र भी वे पहने हैं।

दूसरे एक अन्य चित्र में पार्वती और शिव मिलकर भाँग छान रहे हैं।

एक अन्य चित्र में कुएँ से पारद (पारा), जो मोहिनी पर मोहित होने पर शिव जी का वीर्य है, भभक कर निकल रहा है, जब कुमारी कन्या घोड़े पर सवार होकर कुआँ डाकती है। यह लोक विश्वास है।

9. इसी राजवंश में लगभग 50-60 वर्ष बाद शमशेर सेन हुए। वे भी स्वयं को शिव का अवतार मानते थे। उनके भी शिव के इस श्रेणी के चित्र मिलते हैं[2]। इनके कई उदाहरण कला भवन में हैं।

10. इस संग्रह में एक विलक्षण चित्र है जिसे अट्ठारहवीं शदी के पूर्वार्द्ध में रखा जा सकता है। इसमें शिव-पार्वती बैल पर सवार हैं। परन्तु नीचे भूमि पर कृष्ण एक स्थूलकाय ब्राह्मण की गोद में बैठे हैं। डॉ0 बी0एन0 गोस्वामी के मत से यह मंडी के महंत की आकृति है। कृष्ण इन तथाकथित महंत के कान में मंत्र फूँक रहे हैं। चित्र की निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। परन्तु यह शैव के किसी रहस्यमय पक्ष का अंकन जान पड़ता है, जिसका संबंध कृष्णभक्ति शाखा से भी जुड़ गया है। परन्तु उसे शैव धर्म की तुलना में थोड़ा ह्रस्व दिखलाया गया है। स्वर्गीय राय कृष्णदास जी का मत था कि यह "तारक" मंत्र देने का दृश्य हो सकता है। परन्तु इस सुझाव में कुछ कठिनाइयाँ हैं। तारक मंत्र शिव के द्वारा दिया जाता है, परन्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ कृष्ण कान फूँक रहे हैं। इसी प्रकार तारक मंत्र मृत्यु के समय दिया जाता है किंतु यहाँ वह परिस्थिति भी नहीं है[3]। स्वभावतः यह कृष्ण का शैव तांत्रिक स्वरूप है।

11. यहाँ हम एक विशेष वर्ग के चित्रों को ले रहे हैं। भारत कला भवन संग्रहालय में इसके दो-तीन उदाहरण हैं। ये शव साधना के दृश्य हैं, जिनमें शव की चिता के ऊपर देवी विराजमान हैं। तांत्रिक शव साधना की चरम परिणति यह है कि औंधे मुंह शव पर देवी विराजमान होती हैं और साधना पूर्ण हो जाने पर शव का मुंह उलट कर सीधा हो जाता है। इतना ही नहीं वह "शव" से शिव हो जाता है। उस स्थिति से अनन्त एवं अपार ऊर्जा पैदा होती है जो परम कल्याणकारिणी होती है और साधक को सभी प्रकार के वरदानों द्वारा असीमित शक्ति प्रदान करती है।[4]

कभी कभी इन दृश्यों में एक के ऊपर एक करके दो शव दिखलाए जाते हैं जिनमें एक अधोमुखी होता है और दूसरा ऊर्ध्वमुख। किन्तु वस्तुतः ये दो शव नहीं है बल्कि उपरोक्त विधि के अनुसार तंत्रसाधना की प्रक्रिया में एक ही शव के दो अवस्था-भेद हैं। एक तीसरे प्रकार में इन दोनों "शवों" के ऊपर चित्तबल में लेटे हुए ऊर्ध्वलिंग शिव हैं। यहाँ भी साधना की उपर्युक्त तीनों अवस्थाएं दिखलायी गयी हैं। इस श्रेणी के एक चित्र में देवी के सम्मुख हाथ जोड़े ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश भी खड़े हैं। यह बसोहली शैली का अट्ठारहवीं सदी के प्रारंभ का प्रभावशाली अंकन है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि एक ओर तो शव साधना के द्वारा शिव का प्राकट्य हो रहा है और दूसरी ओर त्रिमूर्ति के संदर्भ में भी शिव की उपस्थिति है। इसका क्या समाधान हो सकता है। त्रिमूर्ति द्वारा कलाकार ने (वस्तुतः कलाकार के माध्यम से शास्त्रवेत्ता ने) दिखलाया है कि इस साधना की सफल परिपूर्णता पर शाश्वत ब्रह्माण्डीय (कॉस्मिक) शक्तियों का उदय हुआ जिसका केन्द्र बिन्दु चिता पर शिव-शक्ति का मिलन है। यह श्मशान स्थल है इसे प्रकट करने के लिए चित्रकार ने सियार आदि जन्तु भी दिखलाए हैं। एकांत एवं रात्रि का वातावरण सपाट, नीले एवं गहरे हरे रंग की मिश्रण वाली पृष्ठभूमि के द्वारा दिखलाया गया है। वहाँ ऐसी ऊर्जा के उत्पन्न होने पर शाश्वत शक्तियों के उपर्युक्त रूप में मिलन द्वारा उत्पन्न होती हैं[5]। यही शक्ति दानव शक्ति का विनाश करती है और देव शक्ति को जन्म देती है। यह शाश्वत सत्य है। अतः इसमें मानवीय अनुभवों के आधार पर अथवा मानकों द्वारा पूर्वापर वाला सिद्धांत नहीं लागू होता। चित्रकार के द्वारा इस चित्र में शास्त्रवेत्ता का यही मंतव्य है।

इस प्रकार भारतीय कला द्वारा शिव के अनेक अद्भुत रूपों से हम परिचित होते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ :

1. दो मुख वाली अर्द्धनारीश्वर मूर्ति दुर्लभ है पर कभी कभी दिख जाती है। उदाहरण के लिए चम्बा नगर की पृष्ठभूमि में पहाड़ी पर जो देवी मंदिर है, उसमें पाटन पर काठ में उकेरी हुई इस प्रकार की एक आकृति है जिसके एक ही शरीर में पुरुष एवं स्त्री भाग दिखलाया गया है। परन्तु धड़ के ऊपर दो गर्दने हैं जिनपर अलग अलग एक एक पुरुष एवं स्त्री मस्तक है।

2. अट्ठारहवीं सदी के प्रारंभ वाली मंडी शैली का एक विलक्षण चित्र सुप्रसिद्ध गोयनका संग्रह में है। इसमें बीच में शिव खड़े हैं और उनके अंग अंग से दस युवतियाँ बड़े आवेश से लिपटी हुई हैं। इन युवतियों में किसी भी प्रकार का दैवी स्वरूप नहीं मिलता। अतः इसका ठीक ठीक समाधान नहीं हो सका। मेरे पिता स्व0 राय कृष्णदास जी की एक सामान्य जिज्ञासा थी कि क्या ये दस महाविद्याएं हो सकती है? विद्वत् समाज का इस पर विचार अपेक्षित है।

3. उपर्युक्त गोयनका संग्रह में प्रायः 1800 ई0 का काँगड़ा शैली का एक चित्र है। इसमें भी कृष्ण को शिव की आराधना करते हुए दिखलाया गया है। शिव-पार्वती कैलाश शिखर पर बैठे हैं। स्वयं कैलाश विभिन्न उप-देवताओं, नरों एवं किन्नरों आदि से भरा है। उसकी मेखला पर इन्द्र धनुष है अर्थात् वह बादलों से भी ऊपर है। भूमि तल पर कृष्ण हाथ उठाए तपस्या की मुद्रा में खड़े हैं।

4. स्वयं देवी के कंकाली स्वरूप के साथ भी कभी कभी यह दृश्य दिखलाया जाता हैं। इसका तात्पर्य स्पष्ट करना आवश्यक है। भारत कला भवन संग्रहालय में प्रायः ग्यारहवीं सदी की एक शिर विहीन पाषाण मूर्ति है। इसमें सूखे पेट एवं अत्यंत दुर्वल शरीर वाली कंकालिनी नृत्य कर रही है। उनके पैरों के नीचे एक औधे मुँह वाली युवक की आकृति पड़ी है जो घूमकर अपना सिर उठा रही है। यहाँ वस्तुतः वही संकेत है कि शव शिवत्व की ओर बढ़ते हुए अपने औधे मुँह को सीधा कर रहा है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी उपलब्ध हैं।

   इसी वर्ग का एक अन्य आकृति विधान भी है जिसके उदाहरण भारत कला भवन एवं अन्य संग्रहालयों में मिलते हैं। इसके अंतर्गत चित बल लेटे हुए उर्ध्व-लिंग शिव के साथ देवी विपरीत रति करते हुए दिखलायी गयी हैं।

5. उदाहरण के लिए भारत कला भवन संग्रहालय में शिव-विवाह का (प्रस्तर मूर्ति में) एक दृश्य है। यहाँ बारातियों में उनके दोनों पुत्र(गणेश एवं कार्तिकेय) भी दिखलाये गये है। यहाँ भी उपयुक्त संदेश है कि गणेश एवं कार्तिकेय तत्व शाश्वत हैं। अतएव शिव विवाह के अवसर पर हमारी मानवीय पूर्वापर पद्धति से उनकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति को नहीं निर्धारित किया जा सकता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में यही व्याख्या दी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूर्वोत्तर भारत के सिक्के और शिव

जय प्रकाश सिंह*

पूर्वोत्तर भारत में अरुणाचल, असम, नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर एवं त्रिपुरा के सात राज्य आते हैं। प्राचीन एवं मध्यकालीन पूर्वोत्तर के क्षेत्रों में बंगाल एवं बिहार के भी कुछ क्षेत्र समय-समय पर सम्मिलित रहे। पूर्वोत्तर भारत को शिव का क्षेत्र भी कहा जता है। शिव इस क्षेत्र के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता हैं। इसमें नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, अरुणाचल और मेघालय के कई हिस्सों को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में शिव की पूजा के प्रचलित होने का प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है। असम एवं त्रिपुरा के बंगाल एवं बांग्लादेश से लगे होने के कारण इन क्षेत्रों में संभवतः शैव धर्म की जड़ें ज्यादा पुरानी हैं।

पूर्वोत्तर के ये सभी भाग सिक्कों के प्रचलन की दृष्टि से शेष भारत से पिछड़े हुए हैं। त्रिपुरा एवं असम के कुछ क्षेत्रों से 'गुप्त इमिटेशन' प्रकार के कुछ सिक्के मिले हैं। इनके अलावा त्रिपुरा से हरिकेल प्रकार के सिक्के[1] भी उपलबध हैं। हरिकेल सिक्कों का स्वरूप भी शैव है।[2] असम में भी नवीं और दसवीं सदियों में सिक्के प्रचलित करने के प्रयास किए गए। कुछ राजाओं के कुछ सिक्के पिछले वर्षों में मिले हैं।[3] पर लगता ऐसा है कि सिक्के प्रचलित करने का यह प्रयास बहुत सफल नहीं रहा।[4] इन सिक्कों पर शैव प्रतीकादि नहीं मिलते। प्राचीन असम के अधिकांश राजा एवं राजवंश मुख्यतः शैव धर्मावलम्बी थे।

I

मध्यकालीन पूर्वोत्तर भारत में सिक्कों का प्रचलन नियमित रूप से हुआ। सबसे पहले त्रिपुरा में रत्नमाणिक्य ने शक संवत् 1386 में[5], कूच बिहार में नरनारायण ने शक 1477 में,[6] तथा आहोम स्वर्गदेव जयध्वज सिंह ने शक 1570 में सिक्के[7] प्रचलित किए। शक 1420 में कछार में भी सिक्का प्रचलित करने का प्रयास हुआ। पर कछारी सिक्के नियमित रूप से इस तिथि के काफी बाद ही प्रचलित हुए। जयंतिया सिक्के भी उपलब्ध हैं। इनमें से त्रिपुरा, आहोम एवं कूच बिहार तथा कछार के सिक्कों पर उन्हें प्रचलित करने वाले राजाओं ने अपने आपको हर-गौरी का उपासक कहा है। मणिपुर में सिक्कों का प्रचलन काफी बाद में हुआ। पर ज़ब हुआ तब से नियमित हुआ।[8]

त्रिपुरा में प्रथम रत्नमाणिक्य ने कई प्रकार के सिक्के प्रचलित किए। इनका शासनकाल लम्बा था (1455-87-8)। इनके अधिसंख्य प्रकार के सिक्कों में से दो ही प्रकार के सिक्कों पर उनके प्रचलन की तिथि अंकित है। यह तिथियाँ 1386 (1464 ई0) और

---

*पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, नार्थ ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी, शीलांग, मेघालय।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1389 (1467 ई0) हैं।[10] जिन सिक्कों पर तिथि नहीं है वे संभवतः इन दोनों वर्षों से पहले अथवा इनके बाद प्रचलित किए गए होंगे।[11] सर्वमान्य है कि रत्नमाणिक्य सिक्कों के प्रचलन को लेकर निरंतर प्रयोग करते रहे।

राजमाला में रत्नमाणिक्य को वैष्णव कहा गया है:-

धर्म प्रति प्रीतिमति रत्न नृपवर। राम कृष्ण नारायण शब्द निरंतर।
धर्ममति हईलेक सेई नृपवर। रामकृष्ण नारायण जपे निरंतर।[12]

रत्नमाणिक्य के सिक्कों पर नारायण विषयक दो मुद्रालेख आते हैं। इनमें से एक अधूरा है- 'श्रीनारायण चरण पद........'। दूसरा पूरा है-'श्रीनारायण चरण परायणः'।[13] दोनों ही मुद्रालेख एक से हैं। दोनों का उद्देश्य नारायण में राजा की भक्ति स्पष्ट करना हैं ये दोनों मुद्रालेख उन्हें वैष्णव सिद्ध भी करते हैं। पर रत्नमाणिक्य के अन्य मुद्रालेख भी हैं। इनमें उन्होंने हरिहर, पार्वती परमेश्वर, चतुर्दश देवता, एवं दुर्गा[14] आदि का उल्लेख किया है और उनमें अपनी आस्था व्यक्त की है। राम और कृष्ण का उनके सिक्कों पर नामोल्लेख भी नहीं है। वे सिक्के जिन पर उन्होंने पार्वती-परमेश्वर के चरणों में अपनी आस्था व्यक्त की है उनके शैव संबंध स्पष्ट करते हैं। हरिहर में उनकी भक्ति से हरिहर (विष्णु एवं शिव) में उनकी आस्था स्पष्ट है।

रत्नमाणिक्य के सिक्के हरिहर का स्वरूप स्पष्ट नहीं करते। पर बाद के सिक्कों से यह स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है। नरेन्द्र माणिक्य[15] (1693-95) के सिक्कों पर उन्हें 'हरिहर पाद पद्म मधुप' कहा है। इन सिक्कों पर 'हरि' और 'हर' शब्दों के बीच एक छोटा *शिवलिङ्ग* बना है। महेन्द्रमाणिक्य (1712-14)[16] के शासनकाल से 'हरि' के स्थान पर 'कृष्ण' उल्लिखित होने लगा। 'हर' का नाम भी मुद्रालेख से हटा दिया गया। पर उनका प्रतीक *शिवलिङ्ग* यथास्थान बना रहा। अब मुद्रालेख 'श्रीकृष्ण पाद पद्म मधुप' हो गया। शक 1634 के एक रुपये पर 'म' और 'धुप' के बीच शिवलिंग अंकित किया गया। इसी वर्ष के एक रूपये पर मुद्रालेख की सर्वोच्च पंक्ति में 'शि' और 'वः' अक्षरों के बीच *शिवलिङ्ग* अंकित है। संभवतः स्थानाभाव के कारण ¼ सिक्कों से कृष्ण भक्ति विषयक मुद्रालेख हटा दिया गया।[17] पर *शिवलिङ्ग* का अंकन जारी रहा। इन्द्रमाणिक्य (1744-?) के शक 1666 के एक सिक्के पर 'कृष्ण' के स्थान पर 'गोपीनाथ पदे' प्रयुक्त है। यहाँ भी सबसे ऊपर की पंक्ति में 'शि' और 'वः' के बीच *शिवलिङ्ग* अंकित है। इन्द्रमाणिक्य के चौथाई सिक्के महेन्द्रमाणिक्य के सिक्के के समान है।[18]

संयुक्त देवता हरिहर का चित्रण त्रिपुरा के सिक्कों पर विशिष्ट प्रकार का है। हरिहर का ऐसा शाब्दिक एवं चित्रित-अंकन अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। रत्नमाणिक्य प्रथम के एक सिक्के पर त्रिपुरा के राज चिन्ह सिंह के पैरों के बीच 'हरिहर' लिखा मिलता है।[18] अन्यत्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'हरिहर' नरेन्द्रमाणिक्य के सिक्कों पर मुद्रालेख में आया है। बाद में 'श्रीकृष्ण' और गोपीनाथ नामों का प्रयोग 'हरि' के लिए और 'शिवः' अथवा *शिवलिङ्ग* या दोनों का प्रयोग 'हर' के लिए साथ-साथ होता रहा। इस प्रकार के सभी मुद्रालेख और अंकन हरिहर के ही द्योतक हैं। हरिहर का यह संयुक्त रूप त्रिपुरा में संभवतः स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ। त्रिपुरा के माणिक्य 'हरि' और 'हर' दोनों के उपासक थे।[20]

शिवलिङ्ग का अंकन कई अन्य माणिक्य राजाओं के सिक्कों पर भी मिलता है। पद्मावती स्नायी प्रकार के विजयमाणिक्य (1532-64) के सिक्कों के मध्य में एक चौकोर क्षेत्र में *शिवलिङ्ग* अंकित है। विजयमाणिक्य ने शक 1585 में वामा (?) देवी के साथ पद्मावती में स्नान किया था। इसके पूर्व उन्होंने सरस्वती के साथ शक 1476 में ध्वजघाट में और लाक्ष्या में शक 1482 में लक्ष्मी रानी के साथ स्नान किया था। इन दोनों पूर्ववर्ती अवसरों पर भी ध्वजघाट और लाक्ष्या में किए स्नान की स्मृति में ध्वजघाट एवं लाक्ष्या स्नायी प्रकार के सिक्के प्रचलित किए गये थे। इन पूर्ववर्त्ती सिक्कों पर *शिवलिङ्ग* का चित्रण नहीं है। फलतः यह अनुमान होता है कि पद्मावती में जहाँ राजा ने स्नान किया वहाँ आसपास कोई महत्त्वपूर्ण शिव मंदिर रहा होगा। स्नान के बाद राजा ने वहाँ पूजा-अर्चा की होगी। इस स्नान और पूजा-अर्चा की स्मृति में पद्मावती स्नायी सिक्कों पर फलतः *शिवलिङ्ग* का भी चित्रण किया गया। इसके बाद कल्याणमाणिक्य (1626-60) के एक के पृष्ठभाग पर बीच में *शिवलिङ्ग* अंकित है। *शिवलिङ्ग* गोविन्दमाणिक्य (1660-61, 1667-76), छत्रमाणिक्य (1661-67), राममाणिक्य (1673-85), रत्नमाणिक्य (1685-93, 1695-1712), नरेन्द्रमाणिक्य (1693-95), महेन्द्रमाणिक्य (1712-14), धर्म-माणिक्य (1714-?, 1728-29), जयमाणिक्य (1739-44), इन्द्रमाणिक्य (1744-?), एवं कृष्णमाणिक्य (1760-61, 1767-83) के सिक्कों पर भी अंकित है।[21] रत्नमाणिक्य (1455-88) के एक प्रकार पर उन्हें 'पार्वती परमेश्वर चरण परः' कहा है। छत्रमाणिक्य (1661-67) इसी प्रकार स्वयं को 'श्री हर गौरी पाद पद्म मधुप' घोषित करते हैं। शक 1661 के जयमाणिक्य के एक सिक्के का आरंभ 'हर गौरी पदे' से होता है। धर्ममाणिक्य (1714-?, 1728-29) के शक 1636 के सिक्कों का मुद्रालेख 'शिव दुर्गा पदाब्ज मधुप' है। इनके अन्य मुद्रालेखों से पहले 'शिव दुर्गापदे' मिलता है। यही 'शिव दुर्गा पदे' इसी प्रकार कृष्णमाणिक्य (1760-61, 1767-83), राजधरमाणिक्य (1785-1806), रामगंगामाणिक्य (1806-8, 1821-26), एवं काशीचन्द्रमाणिक्य (1826-30) के कुछ सिक्कों पर भी मिलता है।[22]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्धनारीश्वर का चित्रण विजयमाणिक्य के शक 1482 के सिक्कों पर है। इसमें दशभुजा दुर्गा को सिंह पर तथा चतुर्भुज शिव को नन्दी पर बैठे दिखाया है। यह सिक्का विजयमाणिक्य के लाक्ष्या स्नायी प्रकार का है।[23] हरिहर के समान अर्धनारीश्वर का यह चित्रण भी त्रिपुरा का अपना ही चित्रण लगता है।

रत्नमाणिक्य के एक प्रकार के सिक्कों पर 'चतुर्दश देवताचरण परायण:[24] मुद्रालेख मिलता है। छोटी-बड़ी चौदह सीधी पंक्तियों द्वारा इन देवताओं का चित्रण किया गया है। इन सबको एक ही पुष्पमाला से अलंकृत किया है। राजमाला में इन चौदह देवताओं को ब्राह्मण धर्म के देवताओं से समीकृत किया गया है। इनमें से शिव एक हैं। पर यह समीकरण गलत है। ये देवता त्रिपुरा के जनजातीय देवता हैं। इनकी उपासना मात्र शीर्ष रूप में होती है।

उत्तरी त्रिपुरा में ऊनाकोटि एवं दक्षिणी त्रिपुरा में देवतामूडा से शिव शीर्ष भी प्राप्त है।[25]

II

आहोम टाई जाति की एक शाखा है। ये लोग चीन से बर्मा होते हुए तेरहवीं सदी में (1228) आसाम आये। धीरे-धीरे इन्होंने लगभग सारे असम और उससे लगे क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित कर लिया। असम पर होने वाले बर्मी और मुस्लिम आक्रमणों का सामना उन्होंने कई सदियों तक किया और इस क्षेत्र की स्वतंत्रता की रक्षा सफलतापूर्वक करते रहे।

आहोम राजा अपने को देवताओं के राजा लेन्गडान का वंशज मानते हैं। राज्यारोहण के फलस्वरूप अभिशिक्त राजा 'चाओफा' उपाधि धारण करता था। इसी का संस्कृत रूपान्तर 'स्वर्गनारायण' या 'स्वर्गदेव' है। उनकी सबसे लोकप्रिय राजकीय उपाधि यही है। स्वर्गदेव अपने कुछ देवी-देवताओं की पूजा अंत तक करते रहे। इनमें लेंगडान, फाटूचेंग, लान्कुरी वगैर: प्रमुख हैं। असम में कुछ समय बाद लेंगडान का समीकरण इन्द्र से किया जाने लगा। इसी प्रकार अन्य देवी-देवताओं को भी समीकृत किया गया। आहोम राजाओं को उनके अभिलेखों एवं साहित्य में 'शक्रवंशावतंस', 'वासववंशावतंस' एवं इन्द्रवंशी क्षत्रिय आदि कहा गया है। आहोम लेंगडानादि की पूजा नियमित रूप से करते रहे।

आहोम देवता लान्कुरी का समीकरण कालान्तर में शिव से हुआ। बाद में उन्होंने शैवधर्म भी अपनाया। शिव मंदिरों का निर्माण कराया। शैव मंदिरों के साथ-साथ अन्य देवस्थानों एवं वैष्णव सत्रों आदि को भी दान दिया।

आहोम सिक्कों पर देवताओं आदि के चित्रण नहीं मिलते। शिव के भी नहीं। मुखभाग और पृष्ठभाग दोनों ही पर मुद्रालेख मिलता है। केवल कुछ ही सिक्कों पर मुद्रालेख के नीचे आहोम सिंह को भागते हिरन का पीछा करते चित्रित किया गया है। इसके अलावा खाली स्थान बिन्दुपुंजों से कहीं-कहीं भरकर अलंकृत किया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आहोम मुद्रालेख प्रायः उनके शैव-शाक्त धार्मिक संबंध की सूचना देते हैं। इस तरह के उनके मुद्रालेख-'हर-गौरी पदाम्बुज मधुकर' और 'श्रीश्री हर-गौरी चरण कमल मकरन्द मधुकर' प्रायः सभी राजाओं के सिक्कों पर मिलते हैं। कुछेक राजाओं ने वैष्णव धर्म में भी किंचित रुचि ली और 'शिव राम पदारविन्द-परायण' एवं 'श्रीश्री हरिहर परम पाद पद्म परायण' जैसे मुद्रा लेख अपने सिक्कों पर अंकित कराये।

III

कोच जाति के नाम पर ही इनकी सत्ता के केन्द्रों का नाम कोच या कूच का बिहार और कोच हाजो पड़ा। कोच राज्य के संस्थापक विश्व सिंह थे। इनके शासन का आरंभ 1510-11 ई0 के लगभग से माना जाता है। इस जाति का नाम कोंच, कुवाच, कोच आदि रूपों में भी प्रयुक्त हुआ है। कोच नाम प्रायः मेच के साथ किया जाता है। कोच और मेच दोनों ही बोड़ों जनजाति की उप-जातियाँ हैं। अब कोच अपने को राजवंशी (क्षत्रिय, राजपूत) भी कहते हैं। कोच राजवंश के इतिहास का एक प्रमुख स्त्रोत 'दरंग- राजवंशावली' है।[26] यह ग्रन्थ अठारहवीं सदी के अंतिम दशक या उन्नीसवीं सदी के आरंभ में दरंग के राजा समुद्रनारायण के आदेश पर लिखा गया था।

विश्व सिंह के कई पुत्र थे। इनमें से नरनारायण 1555 ई0 में राजा बने। उनके छोटे भाई चिलाराय सेनापति बने। इन्होंने पूर्वोत्तर भारत में अनेक क्षेत्रों पर आक्रमण कर उन्हें जीता। नरनारायण के बहुत समय तक पुत्र नहीं था। अतः चिलाराय के पुत्र रघुदेव की उनके बाद राजा बननेकी बहुत संभावना थी। अंततः नरनारायण को पुत्र-प्राप्ति हुई। चिलाराय की मृत्यु हो चुकी थी। रघुदेव कोच बिहार से गौहाटी के समीप हाजो आ गए। वहीं शासन करने लगे। 1587 ई0 में नरनारायण की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र घोषित किया और अपने सिक्के जारी करने लगे। बाद में रघुदेव के वंशजों को मुस्लिम आक्रमण के दबाव में कोच-हाजों से भागना पड़ा। उन्होंने आहोम स्वर्गदेव प्रताप सिंह (1603-41) की शरण ली। प्रताप सिंह ने उन्हें दरंग में स्थापित किया। इसके बाद से दरंग के कोच आहोम शासकों के सामंत रहे।[27]

अठारहवी-उन्नीसवीं सदी तक आहोम राजवंश का भारतीयकरण पूरा हो चुका था। उनकी शासकीय सत्ता आंतरिक विद्रोहों के फलस्वरूप पतन की ओर शीघ्रता से बढ़ रही थी। ऐसे समय में दरंग के राजा समुद्रनारायण ने दरंगराजवंशावली की रचना कराई। इसका एक उद्देश्य आहोम राजवंश से दरंग राजवंश की बराबरी स्थापित करना भी था।[28]

दरंगराजवंशावली के अनुसार परशुराम के भय से कुछ क्षत्रिय पूर्वोत्तर की ओर भाग आये। यहाँ वे मेच जनजाति के लोगों के बीच छिप कर उन्हीं के समान रहने लगे। मद्य-भात खाने लगे। मेचनियों से विवाह कर वहीं बस गए। इन्हीं क्षत्रियों में एक का वंशज हरिया मंडल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुआ। यह मेच-कोच जाति का सरदार था। हरिया अन्य लोगों की भांति प्रतिदिन खेत में काम करने जाता। उसकी सुंदरी स्त्री हीरा दिन में उसे खाना लेकर अन्य मेचनियों की भांति खिलाने जाती। ऐसे ही एक दिन हीरा खाना लेकर गई। हरिया उसे देखकर पेड़ की छाया में आ बैठा। वहाँ उसने मद्य-भात खाया और उसके बाद हीरा का भोग किया। हीरा लौट आई।

संध्या समय हरिया वापस घर आया। हीरा से उसने खाना लेकर न आने का कारण पूछा? हीरा ने उसे सारी बात बताई। उसे याद दिलाने का बहुतेरा प्रयास किया। हरिया को कुछ भी याद न आया। उसे हीरा पर संदेह हुआ। वह नाराज हो घर में जा लेटा। रात में भगवान शिव उसे सपने में आये। उन्होंने उसे बताया हीरा शापित पार्वती है। तुम्हारे रूप में मैंने ही तुम्हारा मद्य-भात खाया और हीरा का भोग किया। चिन्ता की कोई बात नहीं। हीरा की देखभाल करो। समय आने पर उसे एक पुत्र होगा। यह एक बड़े और स्थाई राज्य का राजा बनेगा। इस कथा द्वारा कोच वंश का क्षत्रियत्व और शिव से उनकी दैवी उत्पत्ति को स्पष्ट किया गया है।

कूच बिहार और कोच हाजो दोनों ही के राजा मुख्यतः शैव धर्मावलम्बी थे। अन्य धर्मों को भी समय-समय पर उन्होंने प्रश्रय प्रदान किया। कामाख्या मंदिर का निर्माण (या पुनर्निर्माण) नरनारायण के भाई चिलाराय ने कराया।[29] इसी तरह कोच हाजो के हयग्रीव माधव मंदिर का निर्माण या पुनर्निर्माण रघुदेव नारायण ने कराया था।[30] इसके विपरीत कोच राजा अपने सिक्कों पर मुख्यतः शिव और हर-गौरी में ही अपनी श्रद्धा एवं भक्ति व्यक्त करते हैं। रघुदेव ने पाण्डुनाथ शिव मंदिर का निर्माण भी कराया था।[31]

IV

असम की कछारी जनजाति भी बोड़ो जाति की एक शाखा है। इनमें से डिमासा कछारी काफी प्रमुख रहे माने जाते हैं। मूलतः ये लोग ऊपरी असम में रहते थे। बाद में धीरे-धीरे इनका राज्य संकुचित होता गया। आहोम अपना प्रभाव एवं सीमा विस्तार करते रहे। अंततः आहोम राजा सुहुम्मुंग ने इन्हें पराजित किया। इनका राजा डेट्चा मारा गया। उसके परिवार के कुछ लोग बन्दी बना लिये गये।[32] कुछ समय बाद सुहुम्मुंग ने कछारी राजा के अल्पवय पुत्र का विवाह एक आहोम कन्या से कर उसे कछारी राजा अभिषिक्त किया।[33] लगभग 1537 ई0 के राजा निर्भय नारायण डीमापुर छोड़ माइबांग चले गए। कछारी राजाओं के सिक्के निर्भय नारायणसे ही शुरू होते हैं। सिक्कों का प्रचलन उन्होंने माईबांग जाने के काफी समय बाद किया। माईबांग में भी उन्हें काफी समय तक आहोम सत्ता का भय बना रहा। कछारी केसाईखाटी (कच्चा मांस खाने वाली देवी) के उपासक थे। उनके सिक्के मुद्रालेख के जरिये शिव एवं हर गौरी के चरण में ही मुख्यतः उनके शासकों की आस्था व्यक्त करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ कछारी सिक्कों पर *शिवलिङ्ग* का भी चित्रण है।[34] एक सिक्का ऐसा भी है जिस पर शिव एवं पार्वती का रेखाचित्र उकेरा हुआ है।[35] चित्र की शैली इसे वर्तमान कैलेण्डर चित्रों की शैली के समकक्ष ला देती है। अतः इसे आधुनिक फोर्जरी मान सकते हैं। माईबांग आ जाने के बाद भी उनके संबंध आहोम सत्ता से बने रहे। बाद में वे अपनी राजधानी खासपुर ले गये। फलतः वे त्रिपुरा के भी निकट संपर्क में आये। संभव है हर गौरी में उनकी भक्ति आहोम एवं त्रिपुरा के प्रभाव के फलस्वरूप हो।[36]

पूर्वोत्तर भारत के मैदानी भाग में बोड़ो लोगों की संख्या कई क्षेत्रों में अधिक है। अभी भी जो बोड़ो अपने पारंपरिक धर्म का पालन कर रहे हैं वे कई देवी-देवताओं में, भूत-प्रेत में विश्वास करते हैं। उनके देवाधिदेव बाथौ हैं। बाथौ का समीकरण शिव से किया जाता है। यों भी कह सकते हैं कि बाथौ शिव का ही एक रूप है। कई जन जातियों के लोकसाहित्य में शिव एवं पार्वती का प्रवेश काफी पहले से हो गया लगता है।

त्रिपुरा, आहोम, कोच और कछारी सिक्कों पर शिव के उल्लेख से उनके क्षेत्र के विस्तार का अनुमान होता है। अरुणाचल, नागालैण्ड, मेघालय और मिजोरम के क्षेत्र मुख्यतया जनजातीय बहुल क्षेत्र थे। दुर्गम थे। अतः भारतीय धर्म इन क्षेत्रों में अधिक अन्दर तक पूर्वकाल में अपनी पैठ न बना सके।

संदर्भः

1. देखिये-एस0के0वोस, 'क्वायनेज आफ त्रिपुरा', आर्कियालोजी आफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया (जय प्रकाश सिंह), गौतम सेनगुप्त संपादित (दिल्ली1991), पृ0 197 और आगे। हरिकेल सिक्कों के लिए वही पृ0 204 और आगे।

2. हरिकेल सिक्कों पर उपलब्ध प्रतीक जिसे प्रायः 'ट्राइडेन्ट' या त्रिशूल-सम कहा जाता है वस्तुतः शैव प्रतीक है। इसे विद्वान ठीक पहचान नही पाये। वस्तुतः यह प्रतीक फण उठाये दो नागों से घिरा *शिवलिङ्ग* है। देखिये-मेरा लेख 'ट्राइडेन्ट ऑर *शिवलिङ्ग*', अन्यत्र।

3. देखिये-जायप्रकाश सिंह, 'क्वायनेज इन नार्थ-ईस्ट इंडिया : ऐन ओवरवियू', आर्कियालोजी आफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया (जयप्रकाश सिंह गौतम सेनगुप्त संपादित, दिल्ली 1991), पृ0 184।

4. धूलापादुंग चाय वागान सें मिले सिक्कों के समान कुछ और सिक्के भी तेजपुर जिले के एक स्थान से मिले हैं। इन सिक्कों के केवल एक ओर एक अक्षर मिलता है। अभी तक जितने सिक्के मिले हैं उन पर 'ह' 'व' और 'त' पढ़ा जा सका है। देखिये-जय प्रकाश सिंह, मनेटरी डेवलपमेन्ट इन अर्ली आसाम (जोरहाट, 1989), पृ0 32-5; तेजपुर से बाद में मिले सिक्कों में से एक पर 'त' पढ़ा गया। इन अक्षरों के आधार पर इन सिक्कों को सालस्तंभ राजवंश के बलवर्मन, हर्ज्जरवर्मन एवं त्यागिसिंह द्वारा इन्हें प्रचलित माना जाता है।

5. जय प्रकाश सिंह, 'क्वायनेज इन नार्थ-ईस्ट इंडिया : ऐन ओवरवियू', आर्कियालोजी आफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया (जय प्रकाश सिंह, गौतम सेनगुप्त संपादित), पृ0 185

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

6. वही, पृ0 186
7. वही, पृ0 187
8. देखिये-एन0जी0 रोड्स, 'द क्वायनेज आफ कछार', न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, भाग 146 (1986), पृ0 155 और आगे; जय प्रकाश सिंह, उपरियुक्त, पृ0 187-8
9. जय प्रकाश सिंह, उपरियुक्त, पृ0 189
10. जय प्रकाश सिंह, ऐन इंट्रोडक्शन टु द हिस्ट्री आफ द माणिक्यज़ आफ त्रिपुरा (शिलांग, 1999), पृ0 2
11. जय प्रकाश सिंह, उपरियुक्त, पृ0 2
12. वही, पृ0 16
13. वही, पृ0 21
14. वही, पृ0 17
15. वही, पृ0 23
16. वही, पृ0 23
17. वही, पृ0 24
18. वही, पृ0 24
19. वही, पृ0 24
20. वही, पृ0 24
21. वही, पृ0 25
22. वही, पृ0 24
23. वही, पृ0 24-25
24. वही, पृ0 25-26
25. उत्तरी त्रिपुरा में ऊनाकोटि से कई शैव प्रतिमायें ज्ञात हैं। इनमें मुखलिंग, उमा-महेश्वर, गणेश एवं नंदी आदि हैं। इनके अलावा पहाड़ तथा चट्टानों पर काट कर कई सिर बनाये गये हैं। इन्हें शिव शीर्ष मानते हैं। इनमें से एक ऊँचाई में लगभग 30 फुट है और आयताकार है। इसकी दो आँखें दो रेखाओं के माध्यम से काट कर बनाई गई हैं। माथे के बीच ऊपर से नीचे की ओर तीसरी आँख बनी है। स्थानीय लोग इन्हें ऊनाकोटीश्वर काल भैरव कहते हैं। देवतामूड़ा रिलीफ बाद के लगते हैं, देखिए-गौतम सेनगुप्त, आर्कियालोजी आफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया, पृ0 178-80
26. बलदेव सूर्यखाड़ि दैवज्ञ, दरंगराजवंशावली (नवीनचन्द्र शर्मा सं0), पाठशाला, गौहाटी, कलिकाता, 1973।
27. कोच विहार के कोच शासकों ने मुस्लिम-बंगाल की सत्ता स्वीकार कर ली। उनकी सहायता से वे कोच हाजो पर आधिपत्य चाहते थे। हाजो के कोच फलतः आहोम सहायता के लिए झुके। प्रताप सिंह ने कई लड़ाइयाँ लड़ी और बंगाल-सेना को कई बार पराजित किया। पर अन्ततः हाजो उनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रभाव-क्षेत्र से जाता रहा और उन्हें हाजो के राजवंश को दरंग में ला बसाना पड़ा।

28. देखिये-जय प्रकाश सिंह का लेख 'द स्टोरी ऑफ द बर्थ आफ विश्वसिंह', अन्यत्र प्रकाश्य।

29. कामाख्या मंदिर के अन्तराल में एक साथ दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं। इनमें राजा नरनारायण (श्री मल्लदेव) और उनके भाई शुक्लध्वज (चिलाराय-उच्चारण सिलाराय) का उल्लेख है। लेख शक 1487 (1565) का है। लेख की लिपि असमिया है।

(1) ॐ लोकानुग्रह-कारकः करुणया पार्थो धनुर्व्विद्यया
दानेनापि दधीचि-कर्ण सदृशो मर्य्यादयाम्भोनिधिः।
नाना-शास्त्र-विचार-चारू-चरित कन्दर्प-रूपोज्ज्वलः
कामाख्या-चरणार्च्चको विजयते श्रीमल्लदेवो नृपः।।
प्रासादमद्रि-दुहितुश्चरणारविन्द-भक्त्या करोत्तदनुजो वर-नील-शैले।
श्री शुक्लदेव इममुल्लसितोपलेन शाके तुरङ्ग-गज-वेद-शशाङ्क संख्ये।।

(2) तस्यैव प्रिय-सोदरः पृथुयशा वीरेन्द्र-मौलि-स्थली
माणिक्यं भजमान-कल्प-विटपी नीलाचले मञ्जुलम्।
प्रसादं मुनि-नाग-वेद-शशभृत्शाके शिला-शिला-राजिभिर्द्देवी-
भक्तिमतांवरो रचितवान् श्रीशुक्ल-पूर्व्व-ध्वजः।।
देखिये, प्राच्यशासनावली (माहेश्वर नेउग सं.), गौहाटी, 1974, पृ02

30. मल्लेदव के अनुज शुक्लध्वज के औरस पुत्र श्री रघुदेव ने हयग्रीवमाधव के 'प्रसाद रत्न' को शक 1505 में मणिकूटगिरि पर बनवाया। दे0-प्राच्यशासनावली, पृ0 3-4

31. पाण्डुनाथ मंदिर का लेख निम्नलिखित है- इसका निर्माण शक 1507 में हुआ।
श्रीमल्ल-नृपानुजस्य कृतिनः शुक्लध्वजस्यात्मजे
वीरे श्रीरघुदेव-भूपति-कुलोत्तंसे कालानां निधौ।
दुर्गादत्तवरेण शासति गुणग्रामाभिरामे महीं
तत्स्यामात्य-गधाधरस्य बहुशः स्नेहानुकूल्यादपि।
श्रीपाण्डुनाथस्य हरेः शिलाभिः प्रसादमानिर्म्मिवान् मनोज्ञं
पयोनिधिर्विष्णुपदैकतानः शाके स्वर-व्योम-शरेन्दु संख्ये।। दे0-प्राच्यशासनावली, पृ04

32. देखिये, पद्मेश्वर गोगोइ, द टाई ऐण्ड द टाई किंगडम्स, (गौहाटी, 1968), पृ0 307

33. पद्मेश्वर गोगोइ, उपरियुक्त, पृ0 308-9

34. देखिये, वसंत चौधरी एवं परिमल राय, क्वायनेज ऐण्ड इकानोमी ऑफ नार्थ ईस्टर्न स्टेट्स आफ इंडिया (जयप्रकाश सिंह एवं निसार अहमद सं0), पृ0 69, यह भी आधुनिक जाली सिक्का है।

35. देखिये, जरनल आफ ऐन्श्यन्ट इंडियन हिस्ट्री, भाग 5, पृ0 209, प्लेट 7,6; निसार अहमद, क्वायनेज ऐण्ड इकानोमी आफ नार्थ ईस्टर्न स्टेटस आफ इंडिया (जय प्रकाश सिंह एवं निसार अहमद सं0, वाराणसी, 1980), पृ090

36. कुछ कछारी राजा अपनी आस्था अपनी अधिष्ठात्री कुलदेवी रणचण्डी में व्यक्त करते हैं। रणचण्डी को केसाईखाटी से समीकृत करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव-शक्ति (राधा-कृष्ण) की तान्त्रिक अवधारणा : दर्शन एवं साधना

कमलाकर मिश्र*

वेद और तन्त्र ये दोनों ही भारतीय दर्शन, धर्म एवं संस्कृति के मूल स्रोत-ग्रंथ हैं। वेद का दूसरा नाम निगम एवं तंत्र का दूसरा नाम आगम है। वेद (निगम) एवं तंत्र (आगम) को कुछ लोग दो अलग-अलग ज्ञान-धाराओं के रूप में देखते हैं और उनमें से भी कुछ लोग तो इनमें परस्पर विरोध भी मान लेते हैं। वे लोग साधना की दृष्टि से वेद को दक्षिण-मार्ग तथा तंत्र को वाम-मार्ग कहते हैं और तंत्र के तथाकथित 'वाम-मार्ग' के विकृत रूप को ही पकड़ते हैं। किन्तु वेद और तंत्र को अलग-अलग करके देखने की दृष्टि सही नहीं है। इतना ही नहीं कि वेद और तंत्र दो परस्पर विरुद्ध धाराएँ नहीं हैं, वरन् यह भी है कि वे वस्तुतः दो अलग धाराएँ नहीं हैं। वेद (निगम) और तंत्र (आगम) एक ही अविच्छिन्न ज्ञान-धारा है। यों कहना चाहिए कि तंत्र तो वेद का ही आगे का आवश्यक विस्तार है, और इस दृष्टि से तंत्र वेद का पूरक है। वेद में कुछ ऐसी भी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिन्हें बीजरूप में स्वीकार किया गया है। अथवा अव्यक्त (implicit) रूप में कहा गया है, किन्तु उनकी समुचित व्याख्या नहीं हुई है अथवा उन्हें पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिली है। उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति करना और उनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत करना तंत्र का काम है।

वेद की कौन सी अधूरी बातें हैं जिन्हें तंत्र पूरा करता है - इसका विवेचन करना अलग विषय है और यह प्रस्तुत निबंध का प्रयोज्य विषय नहीं है। किन्तु उनमें से दो विषयों का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक होगा। एक तो यह कि तंत्र वैदिक ज्ञान के लिए अनुभव का आधार (experiential foundation) प्रदान करता है। वेद के विषय में यह सामान्य मान्यता है कि वेद मनु येतर (अपौरुषेय) स्रोत से प्राप्त ईश्वरीय ज्ञान (Revelation) है। अर्थात् वह हमें सामान्य मानवीय स्रोत से नहीं मिला है वरन् दैवी स्रोत से प्राप्त है (वेदों को ईश्वर के श्वास से स्वाभाविक रूप से उद्भूत माना जाता है- "यस्य निःश्वसितं वेदाः")। चूंकि वेद

*पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईश्वरीय स्रोत से आया हुआ ज्ञान (Revelation) है, अतः उसे मान लेकर उसके आधार पर न्यायिक या तार्किक (logical) निष्कर्ष निकालना- यह तर्कशास्त्र (Logic) की 'निगम' या 'निगमन' की विधा (Deductive Method) है। इसी विधा के कारण वैदिक ज्ञान को 'निगम' (निगमन-Deduction) कहा जाता है। किन्तु इसकी भी आवश्यकता है कि ऊपर से आए हुए अर्थात् ईश्वरी स्रोत से प्राप्त ज्ञान की हमारे अनुभव के द्वारा भी पुष्टि हो। यह काम तंत्र करता है। तंत्र परमोच्च योगियों-ज्ञानियों के अनुभव से प्राप्त ज्ञान है जिसे शिव-पार्वती संवाद के साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।' चूंकि तंत्र अनुभव से प्राप्त ज्ञान है। अतः उसे 'आगम' या 'आगमन' (Induction) कहते हे। तर्कशास्त्र (Logic) की दृष्टि से वेद निगम-प्रणाली से प्राप्त ज्ञान है तथा तंत्र 'आगमन' प्रणाली (Inductive Method) से प्राप्त ज्ञान है। हाँ, यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान में आगमन प्रणाली का सम्बन्ध केवल इन्द्रियानुभव तक सीमित है, किन्तु भरतीय पंरपरा में उसमें इन्द्रियातीत आध्यात्मिक अनुभव को भी शामिल किया गया है। कहना न होगा कि आगमन (Induction) निगमन (Deduction) का पूरक है, और इस अर्थ में तंत्र वेद का पूरक है।

जिस दूसरी बात में तंत्र वेद का पूरक है वह यह उद्भासित करता है कि परमतत्त्व चैतन्य में ज्ञान (शिव) पक्ष के साथ-साथ क्रिया (शक्ति) पक्ष का भी उतना ही महत्त्व है। उपनिषदों में (जो वेद के ही अंग हैं) सृष्टि के परम तत्त्व को चैतन्य माना गया है और उसे ब्रह्म, आत्मा, पुरुष, शिव आदि नामों से व्यक्त किया गया है। चैतन्य का प्रधान लक्षण ज्ञान है, किन्तु उस चैतन्य में क्रिया भी है अर्थात् शक्ति भी है जिससे सृष्टि होती है। किन्तु उपनिषद् में चैतन्य या ब्रह्म की ज्ञानरूपता पर तो पूर्ण आग्रह है किन्तु उसकी क्रियारूपता (शक्तिरूपता) पर पूरा प्रकाश नहीं डाला गया है; उसे स्वीकार अवश्य किया गया है। केनोपनिषद् के यक्षोपाख्यान में "सुनहली उमा" ("उमा हैमवती") के प्रसंग से भी यह बात स्पष्ट है। (ज्ञातव्य है कि तंत्र में 'उमा' या 'पार्वती' शक्ति का ही पर्यायवाची प्रतीकात्मक नाम है)। तंत्र में यह कमी पूरी की गई है। वहाँ चैतन्य (ब्रह्म या आत्मा या शिव) की शक्तिरूपता पर पूरा प्रकाश डाला गया है। तंत्र में चैतन्य को शक्ति (Energy or power) के रूप में माना गया है। चैतन्य में जो स्वरूपभूत एवं स्वतःस्फूर्त गतिशीलता (dynamism) है उसे क्रिया, शक्ति, विमर्श, स्पंद आदि नामों से जाना गया है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि सांख्य एवं अद्वैत-वेदान्त की दर्शन-परम्परा में औपनिषदकं दर्शन का जो अर्थ लगाया गया है उसके अनुसार ब्रह्म (चैतन्य)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वरूपतः निष्क्रिय है, क्रिया नीचे दर्जे की वस्तु है जो प्रकृति या माया से उद्भूत होती है। अतः उनके अनुसार ब्रह्म केवल ज्ञान या प्रकाश या शिव है, वह क्रिया या विमर्श या शक्ति नहीं है। किन्तु तंत्र के आचार्य यह कहेंगे कि सांख्य दर्शन-परम्परा द्वारा उपनिषद् का इस प्रकार का अर्थ लगाना एकांगी है; तंत्र के अनुसार चैतन्य (ब्रह्म) केवल ज्ञान-रूप या केवल प्रकाश रूप या केवल शिव-रूप नहीं है वरन् ज्ञान-क्रिया रूप या प्रकाश-विमर्श रूप या शिव-शक्ति रूप है। अर्थात् परमतत्त्व चैतन्य में इन दोनों लक्षणों का एक साथ समावेश हैं चैतन्य में ज्ञान और क्रिया एक साथ कैसे हो सकते हैं, क्या इन दोनों ने इस प्रश्न का समुचित हल प्रदान किया है जिसका उल्लेख करने का यहाँ स्थान नहीं है।[2]

उपर्युक्त भूमिका का तात्पर्य यह है कि भारतीय (वैदिक-तांत्रिक) ज्ञान-परम्परा के अनुसार परम तत्त्व चैतन्य एक साथ ही ज्ञान-क्रिया रूप या शिव-शक्ति रूप है। साथ ही, यह दर्शन विश्वास या कल्पना पर आधारित नहीं है वरन् इसका आधार अनुभव है (अभिनवगुप्त ने इस ज्ञान-परम्परा को 'अनुभव-सम्प्रदाय' कहा है[3])। इस ज्ञान-परम्परा के दार्शनिक पक्ष और साधना-पक्ष ये दोनों पक्ष हैं जिनका विवेचन संक्षेप में हम प्रस्तुत करेंगे। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि चूंकि तंत्र में उन बातों को पूर्ण रूप से व्यक्त (explicit) किया गया है जिन्हें वेद में अव्यक्त (implicit) रूप में माना गया है (और इस दृष्टि से तंत्र वेद का ही विस्तार है); अतः यह मानना सही है कि तंत्र में जो कुछ कहा गया है वह वैदिक दर्शन का ही अंग है। तात्पर्य यह कि चाहे वैदिक कहिए या तांत्रिक कहिए, परम्परा एक ही है।

हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि वैदिक (औपनिषद्) दर्शन के अनुसार परमतत्त्व चैतन्य है जो सारे विश्व का एकमात्र द्रव्य है। वही चैतन्य (ब्रह्म या आत्मा) अपने स्वातंत्र्य से अपने को बदलकर जड़ के रूप में भी भासित हो रहा है। यह स्पष्ट है कि चैतन्य का प्रमुख लक्षण ज्ञान है; जड़ से चैतन्य का यही तो भेद है कि जड़ में ज्ञान नहीं है, चैतन्य में ज्ञान है। किन्तु चैतन्य निष्क्रिय तत्त्व नहीं है, उसमें क्रिया हैं यह बात उपनिषद्-दर्शन में भी मानी गई है भले ही बहुत स्पष्ट रूप से न कही गई हो। चैतन्य में क्रिया वाली बात तंत्र में जाकर पूर्णरूप से स्पष्ट हो गई है। तंत्र में चैतन्य को शक्तिरूप माना गया है। दृष्टान्त के लिए, विद्युत कोई निष्क्रिय वस्तु नहीं है वरन् शक्ति (energy or power) है; शक्ति का अर्थ है क्रियाशील होना। उसी प्रकार चैतन्य भी शक्ति है। इसीलिए उसे केवल 'चित्' न कहकर 'चित्-शक्ति' कहा जाता है। हाँ, यह चेतन शक्ति है। तात्पर्य यह कि इसमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रिया के साथ साथ ज्ञान भी है। ज्ञान को प्रतीक रूपमें शिव (नर) और क्रिया को पार्वती या शक्ति (नारी) कहा गया है। अतः परमतत्त्व चैतन्य वस्तुतः ज्ञान-क्रिया को पार्वती या शक्ति (नारी) कहा गया है। अतः परमतत्त्व चैतन्य वस्तुतः ज्ञान-क्रिया, प्रकाश-विमर्श, शिव-शक्ति का संघट्ट है।

शिव-शक्ति दो तत्त्व या दो व्यक्ति नहीं है वरन् एक ही तत्त्व या एक ही व्यक्ति है। यह दिखलाने के लिए तंत्र में 'अर्धनारीश्वर' की अवधारणा दी गयी है। अर्धनारीश्वर वाले चित्रों अथवा मूर्तियों में हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति में शिव-शक्ति (नर-नारी) दोनों हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एक ही है, उसी के नर और नारी या शिव और शक्ति ये दो रूप (aspect) हैं। उसे शिव कहिए या शक्ति कहिए, एक ही व्यक्ति द्योतित होगा। इस 'अर्धनारीश्वर' प्रतीक को दैवी जगत् (शंकर एवं पार्वती) तक ही सीमित नहीं रखा गया है वरन् इसे जागतिक जीवन में उतार लाया गया है। अर्थात् जगत् के नर को शिव एवं नारी को शक्ति का प्रतीक माना गया है। यह नर-मादा का जोड़ा केवल मनु य में ही नहीं वरन् सभी जीव-योनियों में है। वस्तुतः दैवी (divine) स्तर पर जो नर-नारी एक ही व्यक्ति (अर्धनारीश्वर) में हैं, वे जागतिक सृष्टि में दो अलग-अलग हो गए हैं, और पुनः एक दूसरे में मिलकर अपनी एकता को प्राप्त करने की ओर जाने-अनजाने ही अग्रसर होते हैं। एकत्व ही प्रेम है और इस प्रेम-तत्त्व की अनुभूति करने के लिए ही सृष्टि की लीला-प्रक्रिया की रचना होती है।

अर्धनारीश्वर के प्रतीक में एक थोड़ी कठिनाई है। वह यह कि अर्धनारीश्वर वाले चित्र या मूर्ति में नर और नारी आधा-आधा करके दिखलाए जाते हैं जिससे यह अर्थ ध्वनित हो सकता है कि शिव और शक्ति एक ही तत्त्व के आधा-आधा (पचास-पचास प्रतिशत) दो भाग हैं। किन्तु तत्त्व में वस्तुतः यह आधा-आधा का विभाग नहीं है। तत्त्व पूरा का पूरा शिव है और वही तत्त्व पूरा का पूरा शक्ति भी है। दृष्टान्त के लिए, एक ही व्यक्ति पिता भी और पुत्र भी है, किन्तु ऐसा नहीं है कि उसके शरीर का एक हिस्सा पिता है और दूसरा आधा हिस्सा पुत्र है, वह वस्तुतः समूचा शरीर पिता भी है और समूचा ही पुत्र भी है। उसके शरीर में पिता और पुत्र का विभाग (partition) नहीं है उसी प्रकार शिव-शक्ति में भी समझना चाहिए। चित्र या मूर्ति के रूप में जो अर्धनारीश्वर में नर और नारी आधा-आधा चित्रित किए गये हैं वैसा करना तो चित्रकार या मूर्तिकार की मजबूरी है। जब चित्रकार को एक ही व्यक्ति में नर और नारी दोनों दिखाना होगा तब तो वह आधा-आधा ही चित्रित करेगा ही, यह उसकी विवशता है। प्रतीक (symbol) की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस कमी को तत्त्व (symbolised) पर लागू नहीं करना चाहिए। हाँ, एक ऐसा भी चित्र बनाने की प्रक्रिया है जिसमें एक ही चित्र एक कोण से देखिए तो एक दीखता है और उसे ही थोड़ा घुमाकर दूसरे कोण से देखिए तो दूसरा दीखता है। इस प्रकार की चित्रकला अर्धनारीश्वर प्रतीक को अधिक अच्छी तरह प्रकटित कर सकती है।

शिव और शक्ति दोनों को जब एक ही कहा जा रहा है तो यहाँ शंका उठ सकती है कि जब शिव और शक्ति ये दोनों शब्द पर्याय के रूप में नहीं प्रयुक्त किए जा रहे हैं तो फिर दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग क्यों किया जा रहा है? दो शब्दों के प्रयोग से क्या यह ध्वनित नहीं होता कि तत्त्व या व्यक्ति दो हैं, भले ही वे एक साथ मिले हुए हों? तत्त्व को क्यों नहीं केवल शिव या केवल शक्ति शब्द से अभिहित किया जा रहा है? इस शंका का उत्तर यह है कि शिव और शक्ति इन दोनों शब्दों में जो भेद है वह केवल लक्षण या गुण-धर्म (connotation) का भेद है, अंगुलि निर्देश से बताई गई वस्तु (denotation) का भेद नहीं है। एक उदाहरण से यह बात समझी जा सकती है। बहते हुए पानी को धारा कहा जाता है; अर्थ (connotation) की दृष्टि से 'पानी' शब्द का एक अर्थ है और 'धारा' शब्द का दूसरा अर्थ है। किन्तु यदि पूछा जाए कि पानी कहाँ है तो उत्तर में अंगुलिनिर्देश (denotation) से बहते हुए पानी को दिखलाएँगे; और यदि फिर पूछा जाए कि धारा कहाँ है तो उत्तर में पुनः उसी बहते हुए पानी को ही दिखलाएंगे। तात्पर्य यह कि अर्थ (connotation) की दृष्टि से पानी और धारा भिन्न हैं, किन्तु वस्तु-निर्देश (denotation) की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। यही बात एक ही व्यक्ति के पिता और पुत्र दोनों होने में है; पिता और पुत्र इन दो शब्दों से निर्दिष्ट व्यक्ति (denotation) एक ही है, अलग-अलग दो व्यक्ति नहीं हैं। इसी प्रकार शिव और शक्ति अर्थ या गुण-धर्म (connotation) की दृष्टि से भिन्न हैं, किन्तु वस्तु-निर्देश (Denotation) की दृष्टि से एक ही हैं। 'शिव' का अर्थ है ज्ञान और 'शक्ति' का अर्थ है क्रिया, यह भेद गुणार्थ (connotation) का भेद है। किन्तु शिव और शक्ति इन दोनों शब्दों से जो तत्त्व निर्दिष्ट होता है वह एक ही वस्तु या व्यक्ति है। उल्लेखनीय है कि वस्तु (denotation) का भेद हो तभी वह वास्तविक भेद कहा जाएगा। एक ही वस्तु में अनेक गुण-धर्म (connotation) हो सकते हैं। एक ही वस्तु में गुण-धर्म भिन्न होने से वस्तु तो भिन्न नहीं हुई। वास्तविकता यह है कि शिव-तत्त्व (परम चैतन्य) ज्ञान रूप होने के साथ साथ क्रियाशील (dynamic) भी है और उसकी क्रियाशीलता (dynamism) का ही नाम शक्ति है। फिर तत्त्व की दृष्टि से शिव और शक्ति दो कहाँ हुए?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव-शक्ति की एकता को ही शिव-शक्ति-सामरस्य कहा गया है। शिव और शक्ति, ज्ञान और क्रिया, प्रकाश और विमर्श- दोनों एक हैं, 'समरस' हैं। किन्तु इन दोनों के समरस होने का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि ये दोनों होने को तो दो हैं, इनमें केवल सामंजस्य है, प्रेम है। यहाँ समरस होने का अर्थ है कि ये दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप (spect) हैं। यह भी नहीं है कि ये दोनों परस्पर बँटे हुए हैं या तत्त्व के दो हिस्से हैं, वरन् दोनों ही एक साथ ही सम्पूर्ण तत्त्वरूप हैं; अर्थात् राधा वाला रूप तत्त्व का आधा हिस्सा नहीं है वरन् सम्पूर्ण तत्त्व राधा है और इसी प्रकार सम्पूर्ण तत्त्व कृष्ण भी है। राधा और कृष्ण एक ही तत्त्व के दो अर्थवाची (connotative) नाम हैं। शिव-शक्ति (राधा-कृष्ण या सीता-राम) का सामरस्य ही सृष्टि का परम सत्य हैं।

शैव तंत्र में इस सामरस्य को शिव-शक्ति और वैष्णव तंत्र में राधा-कृष्ण या सीता-राम कहा जाता है। कृष्ण (ब्रह्म) में जो आनन्द या आह्लाद शक्ति है वही राधा है, इसी लिए राधा को ब्रह्म की 'आह्लादिनी' शक्ति कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी राम और सीता को एक ही बताया है- "जैसे शब्द और अर्थ अथवा जल और लहर कहने में भिन्न हैं किन्तु वास्तव में भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार सीता और राम भिन्न नहीं हैं, मैं उनके चरणों की वन्दना करता हूँ जिन्हें दुखी लोग बहुत प्रिय हैं"- "गिरा-अर्थ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न, बन्दौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।"

राधा-कृष्ण के एक भक्त के विषय में एक कथा प्रचलित है जो कृष्ण और राधा की एकता दिखाती है। उक्त भक्त यह जानना चाहता था कि कृष्ण और राधा के बीच क्या सम्बन्ध है। उसने यह सुन रखा था कि कृष्ण और राधा एक ही तत्त्व का नाम है, अतः दोनों एक ही व्यक्ति हैं किन्तु प्रकट रूप में उसे यह स्पष्ट दीखता था कि राधा और कृष्ण दो व्यक्ति हैं- एक स्त्री है, दूसरा पुरुष है; दोनों की मूर्तियाँ भी अलग-अलग बनाई गई हैं। अतः उसके मन में राधा और कृष्ण की एकता के विषय में सन्देह रहता था। एक बार वह वृन्दावन गया और कृष्ण के विग्रह के दर्शन किए। पुनः दूसरी बार दर्शन करने गया तो कृष्ण के विग्रह के स्थान पर राधा का विग्रह दिखाई दिया। भक्त को घोर आश्चर्य हुआ। फिर तीसरी बार दर्शन के लिए गया तो वही मूर्ति पुनः कृष्ण के रूप में दिखाई दी। यह निश्चय करने के लिए कि यह कृष्ण हैं या राधा हैं, पुनः चौथी बार गया तो पुनः वहाँ राधा दिखाई दीं। इस प्रकार भक्त को एक बार कृष्ण और दूसरी बात राधा दिखाई देती रहीं। अन्त में उसके मन में यह निश्चय हो गया कि राधा और कृष्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

दो नहीं हैं, कृष्ण ही राधा हो जाते हैं अथवा राधा ही कृष्ण हो जाती हैं; दोनों एक ही तत्त्व हैं।

यह जो शिव-शक्ति (राधा-कृष्ण या सीता-राम) है वही परम तत्त्व है। यह तत्त्व चैतन्य है, जड़ नहीं। चैतन्य होने के कारण यह ज्ञाता या प्रमाता (sulject) है, ज्ञेय या प्रमेय (object) नहीं। इसीलिए यह आत्मा (Self) है; चैतन्य तो हमेशा आत्मा रूप में ही रहेगा। चैतन्य होने के नाते ही इसमें स्वातंत्र्य भी है और इच्छा या संकल्प के रूप में क्रिया भी है। चैतन्य का यह स्वरूप या स्वभाव है कि उसमें ज्ञान, स्वातंत्र्य और इच्छा (संकल्प-क्रिया) ये तीनों होते हैं। जड़ में ज्ञान नहीं होता, ज्ञान चेतन में है। जड़ में स्वातंत्र्य नहीं होता, चेतन में ही स्वातंत्र्य होता है। जड़ में इच्छा नहीं होती, चेतन में ही होती है। जड़ ज्ञेय होता है, ज्ञाता नहीं होता; इसके विपरीत चेतन ज्ञाता होता है, ज्ञेय नहीं होता। इसी परमतत्त्व को ईश्वर या परमेश्वर या परा शक्ति या परमात्मा या ब्रह्म या शिव या महादेव या कृष्ण या राम कहते है। यह अलग बात है कि यह परमेश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छां से सृष्टि भी बन जाता है और जड़ (ज्ञेय) बनकर भी भासित होने लगता है; किन्तु इसका अपना स्वरूप चेतन (ज्ञाता) है। परमेश्वर में एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि उसमें ज्ञान और क्रिया (शक्ति) होने के साथ-साथ आनन्द भी है। उसका आनन्द अर्जित नहीं है वरन् स्वाभाविक है अर्थात् आनन्द उसके स्वरूप में ही है; दूसरे शब्दों में, वह आनन्द का ही बना ही है।

परमेश्वर (परम तत्त्व चैतन्य) में जो क्रिया है उसका एक विशेष स्वरूप है, विशेष अर्थ है। वह 'कर्म से भिन्न है। तन्त्र के आचार्य लोग 'कर्म' और 'क्रिया' शब्द का प्रयोग बड़ी सावधानीपूर्वक अलग अलग अर्थों में करते हैं और कभी भी 'क्रिया के लिए 'कर्म' शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। 'क्रिया' पारिभाषिक शब्द है जिसका दूसरा नाम 'स्पन्द' है। क्रिया (स्पन्द) को ठीक से समझने के लिए हमें मनुष्य के सभी क्रियाकलापों का वर्गीकरण करके समझना होगा। हम समस्त क्रियाओं (इस वाक्य में हम क्रिया शब्द का सामान्य अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, तन्त्र के पारिभाषिक अर्थ में नहीं) को दो भागों में बाँट सकते हैं- एक ऐच्छिक क्रिया (voluntary action), दूसरी स्वाभाविकी (automatic) क्रिया अर्थात् अपने आप होने वाली क्रिया। ऐच्छिक क्रिया को ही पारिभाषिक अर्थ में 'कर्म कहते हैं। 'कर्म' की दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि कर्म अपने आप (utomatic) नहीं होता, उसे हम आयासपूर्वक करते हैं तो होता है। कर्म की दूसरी विशेषता है कि उसके मूल में कमी या अपूर्णता होती है। कर्म का यह मनोविज्ञान है कि कर्म हम तभी करते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं जब हममें कोई कमी होती है, उसी कमी को पूरा करने के लिए कर्म करते हैं। अतः कर्म में अपूर्णता और आयास (effort) ये दोनों हैं।

स्वाभाविकी या अनैच्छिक क्रिया वह होती है जिसमें हमें आयास नहीं करना पड़ता, उसे हम 'करते' नहीं वरन् वह अपने आप होती है, जैसे नाड़ी अपने आप चल रही है, साँस अपने आप आ-जा रही है, आनन्द की स्थिति में अपने आप आनन्द के प्रवाह के रूप में नर्तन आदि क्रियाएँ होने लगती हैं, आदि आदि। इस अपने आप होने वाली स्वभाविकी क्रिया को भी पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक वह स्वभाविकी क्रिया है जो यांत्रिक (mechanical) अथवा नियत (conditioned) रूप में होती है, अर्थात् उसमें हमारा स्वातन्त्र्य नहीं होता। उदाहरण के लिए, साँस चलना, हृदय का धड़कना, प्रतिवर्ती क्रिया (reflex) आदि इस कोटि में आते हैं। यह क्रिया हमारे चाहने या न चाहने से नहीं होती है, सामान्यतया इस पर हमारा नियंत्रण नहीं होता। दूसरे प्रकार की स्वाभाविकी क्रिया वह होती है जो होती तो अपने आप है अर्थात् उसे हम चाहें तो होने दें या रोक दें। उदाहरण के लिए जब हम आनन्द में होते हैं तो हमारा आनन्द नाचने गाने आदि क्रियाओं के रूप में अपने आप प्रवाहित (overflow) होने लगता है। किन्तु इसमें हमारी परवशता नहीं होती, हम इसे चाहें तो रोक सकते हैं। बच्चा जो खेलता है वह आनन्द में अपने आप क्रीडा करता है, या यों कहिए कि बच्चे का आनन्द ही क्रीडा के रूप में अपने आप प्रकटित होता है। किन्तु खेल में बच्चे का स्वातंत्र्य भी है, वह जब चाहता है तो खेल से विरत हो जाता है। आनंद में स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होने वाली इसी प्रकार की स्वातंत्र्य-क्रिया को तंत्र की पारिभाषिक शब्दावली में 'स्पन्द' या 'क्रिया' या 'विमर्श' कहते हैं। स्पंद वस्तुतः स्वतंत्र एवं स्वतःस्फूर्त क्रिया (free and spontaneous activity) है। अच्छे कवि या कलाकार का स्वभाविक कला-प्रकाशन भी स्पंद का ही उदाहरण है। शिव में जो शक्ति (क्रिया) है वह यही स्पंद रूपा है।

इस प्रकार स्पंद (क्रिया) एक ओर आयासपूर्वक किए गए ऐच्छिक कर्म से भिन्न है तथा दूसरी ओर यान्त्रिक रूप से अपने आप होने वाली बद्ध क्रिया से भी भिन्न है। पहली (अर्थात् ऐच्छिक) क्रिया में स्वातंत्र्य है किन्तु अनायासत्व (effort-lessnes) नहीं है; उसे करना पड़ता है, वह अपने आप नहीं होती। दूसरी (अर्थात् यांत्रिक) क्रिया में अनायासत्व तो है क्योंकि वह अपने आप होती है, किन्तु उसमें स्वातंत्र्य नहीं होता, वह बद्ध (bound) या नियत (conditioned) होती है। किन्तु स्पंद में अनायासत्व (effortlessness) और स्वातंत्र्य (freedon) दोनों होते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पन्द की एक और प्रधान खूबी है कि वह कमी या अपूर्णता का द्योतक नहीं है। 'कर्म' अपूर्णता का द्योतक है, स्पंद नहीं। ऐसा नहीं है कि हममें कोई कमी होती है तब स्पन्द फूटता है, वरन् वास्तविकता इसके विपरीत है। जब हमें कुछ नहीं चाहिए और हम आनन्द से भरित होते हैं तो हमारा आनन्द स्वतंत्र स्वाभाविकी क्रिया (स्पंद) के रूप में फूटता है। बच्चा जो खेलता है उसमें ऐसा नहीं है कि बच्चे में आनंद नहीं है और उसकी पूर्ति के लिए अर्थात् आनन्द 'के लिए' ('form' Ananda) खेलता है, वरन् ऐसा है कि बच्चे में आनन्द पहले से ही है और वह आनन्द 'से' ('from' Ananda) खेलता है, अर्थात् बच्चे का आनन्द ही खेल के रूप में प्रवाहित होता है। उपनिषद् में सृष्टि के विषय में कहा गया है कि सृष्टि ब्रह्म के आनन्द से ('आनन्दात्'-'from' Ananda) होती है ('आनन्दात् एव हि खलु इमानि भूतानि जायन्ते')। यह नहीं कहा गया है कि आनन्द 'के लिए' ('आनन्दाय'-'from' Ananda) होती है। 'आनन्द से (आनन्दात्) एवं आनन्द के लिए (आनन्दाय) का अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपनिषद् का तात्पर्य है कि ऐसा नहीं है कि ब्रह्म में आनन्द की कमी (अपूर्णता) है और उस कमी को पूरा करने के लिए अर्थात् आनंद प्राप्त करने के लिए वह सृष्टि करता है वरन् ऐसा है कि ब्रह्म में आनन्द पहले से विद्यमान है और वही आनन्द सृष्टि-क्रिया के रूप में अर्थात् सृष्टि स्पंद के रूप में प्रस्फुटित होता है। इसी बात को तंत्र में इस प्रकार कहा गया है कि शिव 'नटराज' (नर्तक) हैं और सृष्टि-क्रिया उनका आनन्द-नर्तन है। नटराज वाला प्रतीक इसी बात का द्योतक है कि सृष्टि-क्रिया शिव के ही आनन्द से स्वतंत्र एवं स्वाभाविक रूप में उद्भूत स्पन्द-क्रिया है। इसीलिए यह माना गया है कि सृष्टि शिव की 'लीला' या 'क्रीडा' (खेल) है। यह खेल किसी कमी का द्योतक नहीं है, वरन् पूर्णता से स्वतः उद्भूत स्पंद है। स्पंद को ही सूफियों की भाषा में 'मौज' कहते हैं। हमें कुछ नहीं चाहिए, हम आनन्द में हैं, और उस आनन्द से उद्भूत जो स्वतंत्र क्रिया होती है, वही हमारी 'मौज' है।

स्पन्द के जो जागतिक उदाहरण दिए गए हैं उनके विषय में एक प्रश्न हो सकता है कि इन उदाहरणों वाले स्पंद में ऐसा नहीं दीखता कि इसमें पूर्ण अनायासत्व और पूर्ण स्वातंत्र्य है, उनमें यह दीखता है कि स्पंद को लाने में थोड़ा तो आयास करना पड़ता है और साथ ही उसमें थोड़ी मजबूरी भी होती है। उसका उत्तर है कि यह सच है कि जागतिक स्पंद पूर्णरूप से शुद्ध नहीं होता। इसका कारण है; आत्मा के ऊपर मलावरण पड़ा हुआ है और इसी मलावरण के कारण उसका स्वाभाविक स्पंद पूर्ण रूप से प्रकटित नहीं होता। किन्तु आत्मा आत्मशुद्धीकरण की साधना के द्वारा जैसे जैसे शिवावस्था की ओर बढ़ती है वैसे वैसे उसका स्पंद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिक अधिक शुद्ध होता जाता है। शिव का स्पंद अर्थात् शिवावस्था का स्पंद पूर्ण रूप से शुद्ध होता है, अर्थात् उसमें पूर्ण अनायासत्व और पूर्ण स्वातंत्र्य होता है। जागतिक स्पंद का उदाहरण भले ही पूर्ण न हो, किन्तु इतना तो सिद्ध करता ही है कि ऐसी भी क्रिया होती है जो (1) अनायास हो, (2) अपूर्णता से उद्भूत न हो, और (3) उसमें स्वातन्त्र्य हो। साथ ही, अपूर्ण स्पंद यह द्योतित करता है कि पूर्ण स्पंद की भी स्थिति हो सकती है, अर्थात् शिवावस्था का जो पूर्ण स्पंद है उसकी झलक (भले ही अधूरी सही) जागतिक स्पंद के उदाहरणों में मिलती है; जागतिक स्पंद की डोर पकड़कर हम शिवावस्था के स्पंद तक जा सकते हैं।

चूंकि परम चैतन्य शक्ति-रूप है और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है, अतः तंत्र में उस तत्त्व को 'चित्' (चैतन्य) कहने के साथ साथ स्त्रीलिंग 'चिति' या 'संविद्' भी कहा जाता है; उसे 'संविद् देवी' या 'संविद् भगवती' भी कहा जाता है। यह तत्त्व सबका मालिक है इसलिए ईश्वर या परमेश्वर कहा जाता है। यह चैतन्य होने के कारण आत्मरूप (Self) है इसलिए इसे आत्मा या परम आत्मा कहा जाता है। यह सर्वव्यापी है, इसलिए इसे 'ब्रह्म' या 'विभु' कहा जाता है। यह मंगलमय (Good) है, इसलिए इसे 'शिव' कहा जाता है। यह शक्ति (Energy or Power) स्वरूप है और सारे सृष्टि की जननी है, अतः इसे 'आद्याशक्ति' कहा जाता है।

यही आद्याशक्ति (या इसे शिव कहिए) जगत् की सृष्टि करती है। सृष्टि 'करती' है का अर्थ है कि सृष्टि उसमें से स्पंद रूप से फूटती है। 'सृष्टि करती है' का अर्थ कि सृष्टि उसमें से स्पंद रूप से फूटती है। 'सृष्टि करती है' का अर्थ यह भी नहीं है कि वह केवल निमित्त कारण बनकर अलग से करती है (या शिव करता है-शिव-शक्ति एक ही है), वरन् सृष्टि का उपादान कारण भी वही है, अर्थात् स्वयं वही सृष्टि बन जाती है (या कहिए बन जाता है)। शिव ही सृष्टि बन जाता है इसका यह भी अर्थ नहीं है कि जैसे दूध दही बनता है तो उसका दूधवाला रूप समाप्त हो जाता है उसी प्रकार शिव का शिवत्व समाप्त हो जाता है और अब वह जगत् बन जाता है, वरन् इसका अर्थ यह है कि शिव पूर्ण रूप से शिव भी रहता है और जगत् भी बन जाता है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि शिव का परिवर्तन (change) नहीं है वरन् उसका प्रसार (extension) है।

शिव सृष्टि बनता है तो वह एक ओर जड़ वस्तु बन जाता है और दूसरी ओर चेतन जीवात्मा बन जाता है जिसे तंत्र की भाषा में 'पशु' कहते हैं ("शिव एव गृहीतपशुभावः")। चूंकि जीवात्मा बंधन (पाश) में बँधा है इसलिए उसे 'पशु' कहते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं (शिव अपने को सृष्टि में बद्ध जीव के रूप में ही प्रकटित् करता है)। इस प्रकार एक ओर प्रमाता जीव (पशु) और दूसरी ओर प्रमेय जड़ वस्तु – ये दोनों ही शिव की सृष्टि हैं। हाँ, मनुष्य (जीव या पशु) की जड़ वस्तु से यह भिन्नता है कि मनुष्य में स्वातंत्र्य है। स्वातंत्र्य ही मनुष्य की पहचान है। शिव भी मनुष्य के स्वातंत्र्य में दखल नहीं देता; यदि दखल दे अर्थात् स्वातंत्र्य छीन ले तो इसका अर्थ होगा कि मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाएगा, वह मात्र मांस का लोथड़ा हो जाएगा या मशीन का आदमी (रोबोट robot) हो जाएगा।

सृष्टि के विषय में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब जगत् शिव की लीला-सृष्टि है, उसके आनन्द से स्पंद रूप में प्रकटित हुई है तथा शिव मंगलमय है (इसीलिए उसे 'शिव' कहते हैं) तो फिर सृष्टि में 'अशुभ' (Evil) कहाँ से आया? यह अशुभ या 'अशिव' पाप और दुःख के रूप में सृष्टि में वर्तमान है; अशुभ का कारण क्या है और मंगलमय शिव अपनी सृष्टि में अशुभ को क्यों आने और रहने देता है? ईसाई धर्म की भाषा में पूछें-भगवान अपनी सृष्टि में शैतान (devil) को क्यों रहने देता है?

सृष्टि में अशुभ (अशिव) की सत्ता के प्रश्न के उत्तर में पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि जगत् की सभी चीजें भगवान ने ही नहीं बनाई हैं, कुछ चीजों को मनुष्य ने अपने अहंकार से सृष्ट कर लिया है। अशुभ मनुष्य के अहंकार की ही सृष्टि है और यह कहन गलत है कि आखिर अहंकार भी तो भगवान ने ही बनाया है। भगवान ने मनुष्य (व्यक्ति-Individual) बनाया है, मनुष्य या व्यक्ति का अहंकार नहीं बनाया है। अहंकार तो मनुष्य ने स्वयं बनाया है, अपने स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से अपना अहंकार बनाया है। अतः अहंकार मनुष्य की सृष्टि है, ईश्वर की सृष्टि नहीं। यह अलग बात है कि ईश्वर प्रेममय है, अतः वह तो यही चाहता है कि मनुष्य अपने स्वातंत्र्य का दुरुपयोग न करे और भलाई के मार्ग पर चले ताकि सुखी रहे। इसके लिए ईश्वर नाना प्रकार के उपाय भी करता है,- गुरु के रूप में, शास्त्र के रूप में और अवतार के रूप में आकर मनुष्य को भलाई (धर्म) का ज्ञान देता है और भलाई (धर्म) के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। मनुष्य जब उसके अनुसार नहीं चलता है तो वह (ईश्वर) कर्म-नियम के अनुसार मनुष्य को दण्डित भी करता है ताकि मनुष्य अपने को सुधारे और भलाई (धर्म) की ओर मुड़े। किन्तु यह मनुष्य है कि अपने अहंकार के कारण भगवान की बात नहीं सुनता, न ही सुनना चाहता। भगवान की बात सुनना या अनसुनी करना मनुष्य का स्वातंत्र्य है भगवान की भी यह मजबूरी है कि वह मनुष्य के स्वातंत्र्य को नहीं छीनना चाहता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि यदि मनुष्य का स्वातंत्र्य छिन जाए तो मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहेगा, वह जड़ वस्तु जैसा ही हो जाएगा; फिर तो मानव-सृष्टि ही नहीं रहेगी। सामर्थ्य की दृष्टि से भगवान की मजबूरी नहीं है, क्योंकि यदि वह मनुष्य का स्वातंत्र्य छीन लेना चाहे तो बखूबी छीन सकता है। किन्तु यहाँ भगवान की नैतिक मजबूरी है कि वह मनुष्य का स्वातंत्र्य नहीं छीनना चाहता क्योंकि वैसा करने से मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाएगा।

अब ईश्वर की सृष्टि में व्याप्त बुराई ('अशुभ-Evil') के कारण पर विचार करें। तन्त्र-दर्शन के अनुसार जगत् शिव की लीला-सृष्टि है, खेल है। खेल आनन्द से होता है, आनन्द के लिए होता है। खेल के मालिक (Games Master) भगवान ने खेल बनाया, मनुष्य के रूप में खिलाड़ी बनाया, कर्म-नियम के रूप में खेल के नियम (Rules of the Game) बनाए। किन्तु चूंकि खिलाड़ी (मनुष्य) में स्वातंत्र्य है (मनुष्य कठपुतली या 'रोबोट' नहीं है) अतः यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह खेल के नियमों का पालन करे या न करे। मनुष्य अपने अहंकार के कारण खेल के नियमों का उल्लंघन करता है, वह हाकी के डण्डे को गेंद पर मारने के बजाय सह-खिलाड़ी के सिर पर दे मारता है। खेलमास्टर (भगवान) इसके लिए उसे दण्डित भी करता है ताकि वह अपने को सुधार सके। भगवान यह नहीं चाहता कि खेल के नियमों का उल्लंघन हो। वह तो यही चाहता है कि सभी खिलाड़ी खेल के नियमों का पालन करते हुए आनन्द से खेल खेलते रहें। किन्तु उसकी मजबूरी है कि वह खिलाड़ियों के साथ जबर्दस्ती नहीं कर सकता। अंततोगत्वा यह खिलाड़ियों पर ही निर्भर है कि खेल सुचारु रूप से चले या नहीं, खेल मास्टर पर निर्भर नहीं है। यदि खिलाड़ी तय कर लें कि खेल के नियमों का उल्लंघन नहीं करना है तो इस संसार से अशुभ की सत्ता मिट जाएगी, यह खेल आनन्दपूर्वक चलता रहेगा। भगवान भी यही चाहता है और इसके लिए हजार प्रयत्न भी करता है कि मनुष्य अपने स्वातंत्र्य का दुरुपयोग न करे, किन्तु वैसा करना तो अंततोगत्वा मनुष्य पर ही निर्भर है। भगवान अपनी ओर से कोई कसर नहीं उठा रखता, कमी तो मनुष्य की ओर से ही है। यही कारण है कि धर्म-स्थापना के लिए भगवान के द्वारा बार-बार अवतार लेने पर भी और इतिहास में तमाम संतों के होने पर भी संसार से अधर्म नहीं गया है। धर्म-स्थापना का अर्थ है कि भगवान और संत धर्म का उपदेश करते हैं, किन्तु धर्म पर चलना या न चलना तो मनुष्य पर ही निर्भर है। मनुष्य को धर्म का केवल ज्ञान दिया जा सकता है, उसे जबर्दस्ती धर्म पर चलाया नहीं जा सकता; मनुष्य अपने स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से ही धर्म का वरण करता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साधना-पक्षः

दर्शन सत्य का ज्ञान है और उस ज्ञान के आधार पर सत्य को पाने का मार्ग साधना या धर्म है। साधना या धर्म जीवन-पद्धति (Way of Life) है, अतः 'योग' है। 'योग' जीवन की वह व्यावहारिक विधा है जो हमें सत्य से जोड़ती है। यदि शिव-शक्ति' सामरस्य जीवन का चरम सत्य है तो उसे जुड़ने (उसका अनुभव या साक्षात्कार करने) की विधा ही वास्तविक योग है।

सांख्य-दर्शन (जिस पर पातंजल योग आधारित है) के अनुसार पुरुष (मनुष्य या जीवात्मा) का स्वरूप केवल द्रष्टा या ज्ञाता है, कर्ता नहीं। क्रिया तो प्रकृति में है जो पुरुष के ऊपर बंधन के रूप में पड़ी हुई है; प्रकृति पराई (lien) है, अज्ञानवश उससे पुरुष का साथ हो गया है। अतः इस दर्शन के अनुसार, यदि पुरुष को अपने स्वरूप की प्राप्ति करनी है तो उसे अपने ऊपर पड़ा हुआ प्रकृति का बंधन तोड़ना होगा, प्रकृति को 'तलाक' देना होगा। चित्तवृत्तियाँ ही पुरुष को प्रकृति से जोड़ती हैं, प्रकृति में आसक्त बनाती हैं। अतः सांख्य-मार्ग (पातंजल योग) में योग की परिभाषा है "चित्तवृत्तियों का निरोघ (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)"। इसके फलस्वरूप पुरुष क्रियावाली प्रकृति से छूटकर केवल अपने ज्ञान वाले स्वरूप (ज्ञाता या द्रष्टा) में अवस्थित हो जाता है (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्)। यह योग या जीवन-मार्ग निषेध (Negation) का मार्ग है, प्रकृति (और प्रकृति के परिणाम संसार) के त्याग या संयास मार्ग हैं।

इसके विपरीत तंत्र का योग (मार्ग) ग्रहण (assimilation) का मार्ग है प्रकृति को ग्रहण कर उसे बदल देने या उदात्त बना देने (sublimation) का मार्ग है। इस मार्ग (योग) के आधार में जो तान्त्रिक दर्शन है वह यह है (जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है) कि प्रकृति पुरुष की पराई (alien) नहीं है वरन् पुरुष का ही रूपांतरण है। शिव-शक्ति का ही बाह्य एवं स्थूल प्रकटीकरण (Manifestation) है। बंधन का कारण स्वयं प्रकृति नहीं है वरन् सीमित पुरुष (जीवात्मा या पशु) का अहंकार है और अहंकार से जनित स्वार्थ है। प्रकृति मनु य के स्वार्थपूर्ण भोग के लिए नहीं बनी है वरन् उदात्त प्रेम-लीला के लिए बनी है, दैवी आनन्द-आस्वाद के लिए बनी है। प्रकृति में जो बुराई दीखती है वह स्वयं प्रकृति में नहीं वरन् मनुष्य की विकारपूर्ण मानसिक अवस्था (अहंकार और स्वार्थ) के कारण है। अतः प्रश्न प्रकृति के त्याग का नहीं वरन् अपने मानसिक विकार के त्याग का है। यदि हम शुद्ध चेतना से प्रकृति को ग्रहण करें तो प्रकृति दिव्य हो जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हम भोगभावना छोड़कर प्रेमभावना से काम को ग्रहण करें तो काम उदात्त हो जाता है, दिव्य हो जाता है। प्रकृति तो दिव्य, परमात्मा का ही रूपान्तरण है और वह शुद्ध चेतना के संयोग से दिव्य बने रहना चाहती है। किन्तु मनुष्य अपने स्वातंत्र्य का दुरुपयोग कर अहंकार और स्वार्थवश अपनी चेतना को विकृत कर लेता है और अपनी इस विकृत चेतना से प्रकृति को ग्रहण कर प्रकृति को विकारग्रस्त बना देता है।

निषेधात्मक दर्शन के अनुसार चूंकि प्रकृति आत्मा से पराया तत्त्व है अथवा माया के रूप में रज्जु-सर्प की भाँति आत्मा के ऊपर अज्ञानजनित आवरण या बन्धन के रूप में अध्यस्त है, अतः आत्मा की प्राप्ति के लिए इस आवरण या बन्धन को हटाना आवश्यक है, अर्थात् माया और माया से जनित संसार का त्याग (संन्यास) जरूरी है। इस दर्शन के अनुसार जगत् ब्रह्म का निषेध है और ब्रह्म जगत का निषेध है। इन दोनों में परस्पर निषेध का संबंध है अर्थात् ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु तांत्रिक दर्शन के अनुसार जगत् ब्रह्म का निषेध नहीं है और न ब्रह्म जगत् का निषेध है, क्योंकि जगत् परमात्मतत्त्व ब्रह्म (शिव) का ही लीला रूप में आत्म-प्रकटीकरण (Self-manifestation) है, रज्जु-सर्प की भाँति बाहर से पड़ा अध्यास नहीं है। अतः जगत् ब्रह्म के साथ रह सकता है और ब्रह्म जगत् के साथ रह सकता है। निषेधात्मक दर्शन मायावाद है और तांत्रिक दर्शन लीलावाद है।

मायावाद और लीलावाद के विषय में एक गंभीर और महत्त्वपूर्ण बात समझने की है कि दोनों में तात्त्विक (Ontological) भेद नहीं है। लीला भी झूठी होती है अर्थात् माया या आभास (Appearance) होती है। नाटक यदि सचमुच की घटना बन जाय तो वह नाटक ही नहीं होगा, खेल यदि सचमुच के हार-जीत का युद्ध बन जाए तो वह खेल ही नहीं रह जाएगा। रंगमच पर जो नाटक प्रदर्शित किया जा रहा है वह सत्य घटना नहीं घट रही है, केवल पात्रों द्वारा 'एक्टिंग' की जा रही है। स्वरूपतः नाटक झूठ है, खेल झूठ है। किन्तु फिर प्रश्न यह उठता है कि यदि दोनों ही झूठ हैं तो माया और लीला में अन्तर क्या है? उत्तर है कि अंतर है और अंतर भी महत्त्वपूर्ण है। अन्तर मूल्यविषयक (Axislogical) दृष्टि का है। नाटक करने वाला भी जानता है कि हम झूठा कर रहे हैं (अर्थात् केवल 'ऐक्टिंग' कर रहे हैं), और नाटक देखने वाला भी जानता है कि झूठा देख रहे हैं (अर्थात् केवल 'ऐक्टिंग' देख रहे हैं, सत्य घटना नहीं)। फिर भी दोनों ही (पात्र और द्रष्टा) नाटक में भाग लेते हैं, नाटक का आनन्द लेते हैं और नाटक का लाभ उठाते हैं। नाटक झूठा होते हुए भी पुरुषार्थ या मूल्य (वैल्यू-Value) है। किन्तु मायावाद के अनुसार माया-वस्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मा का लीला-रूप में किया जाने वाला आत्मप्रकाशन (Self-manifestation) या आत्म-प्रक्षेपण (Self-projection) नहीं है वरन् आत्मा पर पड़ा हुआ बाहरी अध्यास है (रज्जुसर्प की भाँति); अतः वह आत्मप्राप्ति की दृष्टि से त्याज्य है, 'तुच्छ' है। अर्थात् मायावाद के अनुसार माया-वस्तु वांछनीय 'मूल्य' (वैल्यू-Value) नहीं है।

उपर्युक्त सन्दर्भ से यह बात स्पष्ट हो जा सकती है कि तान्त्रिक परम्परा में जो योग की परिभाषा दी गई है वह क्यों सांख्य (पातंजल योग) में दी गयी परिभाषा से भिन्न है। सांख्य में योग की परिभाषा निषेधात्मक (Negative) है जबकि तंत्र में योग की परिभाषा सकारात्मक (Positive) है। तंत्र में योग की परिभाषा है कुण्डलिनी-जागरण। कुण्डलिनी-जागरण के दो चरण या दो अंग हैं- (i) परमात्म चैतन्यशक्ति (जिसे तांत्रिक योग की भाषा में कुण्डलिनी कहते हैं) को अपने भीतर जगाना या यों कहिए कि अपने भीतर परमात्मशक्ति को अवतरित करना, तथा (ii) इस शक्ति को जागतिक जीवन (प्रकृति) से जोड़कर जागतिक जीवन को शुद्ध, उदात्त या दैवी बना देना। कुण्डलिनी-जागरण का लक्ष्य है भौतिकता को शुद्ध या उदात्त बनाकर आध्यात्मिकता में बदल देना जिससे भौतिक जीवन भी आध्यात्मिक बन जाए और भैतिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच की खाई पट जाए।

'कुण्डलिनी' का शाब्दिक अर्थ है सर्पिणी। सर्प को उक्त शक्ति का प्रतीक क्यों माना गया है यह थोड़ा समझ लेना चाहिए। पहले बताया गया है कि तन्त्र-दर्शन में परम चैतन्य (परमात्मा, ब्रह्म, शिव) को शक्तिरूप माना गया है। यह शक्ति आनन्द एवं स्पन्द रूपा है जो सर्जनात्मक (Creative) है। यह विश्व की सृष्टि करती है। इसी आनन्द-सर्जनात्मक शक्ति का प्रतीक है सर्प। सर्प काम का प्रतीक है जिसमें आनन्द है और जिससे सर्जन होता है। काम ही जब उदात्त होकर प्रेम आदि रूपों में प्रकटित होता है तो वह दिव्य आनन्द बन जाता है। अतः सर्प इस दिव्य आनन्द-शक्ति का भी प्रतीक है। यह शक्ति अधोगामी हो जाने पर खतरनाक हो जाती है, जहरीली हो जाती है, अतः सर्प का प्रतीक ठीक से बैठता है। यह शक्ति अधोगामी हो जाने पर खतरनाक हो जाती है, जहरीली हो जाती है, अतः सर्प का प्रतीक ठीक से बैठता है। (किन्तु कुण्डलिनी-जागरण का अर्थ है कामशक्ति को उर्ध्वगामी बनाकर उदात्त बना देना। ऐसी अवस्था में उसका जहर समाप्त हो जाता है और विष अमृत में बदल जाता है। सर्प में से यदि विष निकाल लिया जाए तो सर्प तो बड़ा सुन्दर जानवर है, वह फिर बड़ा प्यार हो जाएगा)। चूंकि 'शक्ति स्त्रीलिंग शब्द है, इसलिए उसके प्रतीक शब्द सर्प को भी स्त्रीलिंग 'सर्पिणी' या 'कुण्डलिनी' (कुण्डल मार की बैठी हुई सर्पिणी) कहा गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट है कि विश्व की जो आद्या चैतन्य शक्ति या शिव-शक्ति है उसी को कुण्डलिनी कहते है। यह विश्व-कुण्डलिनी या समष्टि-कुण्डलिनी है। प्रत्येक व्यक्ति (व्यष्टि) इसी विश्व-कुंण्डलिनी से जुड़ा है और वहीं से अपनी जीवनी शक्ति ले रहा है। जैसे पावर-हाउस बिजली का समष्टि-स्रोत है और सभी व्यक्ति-घर उसी स्रोत से जुड़ें हैं जहाँ से बिजली आ रही है; उसी प्रकार प्रत्येक जीव विश्व कुण्डलिनी से जुड़ा हुआ है जहाँ से वह ऊर्जा ग्रहण कर रहा है, भले ही यह सत्य उस व्यक्ति को मालूम न हो। तात्पर्य यह कि विश्व-कुण्डलिनी (परमात्मा) ही व्यष्टि-कुण्डलिनी (जीव-चैतन्य) में भी बँटकर काम कर रही है। किन्तु समष्टि-कुण्डलिनी और व्यक्ति (व्यष्टि) कुण्डलिनी में इतना फर्क है कि व्यक्ति एवं मलावरण होने के कारण कुण्डलिनी के प्रवाह में अवरोध है, अतः व्यष्टि-कुण्डलिनी का ऊर्जामान ("वोल्टेज" Voltage) बहुत कम है और प्रकाश बहुत धीमा है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति विश्व कुण्डलिनी से जुड़ा हुआ भी पूरी तरह नहीं जुड़ा है। इसी बात को इस भाषा में कहा गया है कि व्यक्ति में कुण्डलिनी थोड़ी जगी है, ज्यादा सोई ही हुई है। आत्मशुद्धि (जिसे नाड़ीशुद्धि, तत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि, चक्रशुद्धि, मलशुद्धि आदि शब्दों से कहा गया है) की साधना के द्वारा व्यक्ति का मलावरण जितना क्षीण होता जाता है, कुण्डलिनी का प्रवाह व्यक्ति में उतना ही बढ़ता जाता है।

व्यक्ति में कुण्डलिनी तीन स्तरों पर काम करती है और उसी के अनुसार उसके तीन नाम हैं। वे तीन स्तर हैं शारीरिक (physical), मानसिक (mental) और आध्यात्मिक (spiritual)। शारीरिक स्तर पर कुण्डलिनी शरीर में प्राण या जीवनीशक्ति (life or vitality) के रूप में प्रवाहित होती है। इसका नाम "प्राण-कुण्डलिनी" है। मानसिक स्तर पर कुण्डलिनी विचार, भावना आदि मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के रूप में प्रवाहित होती है; इसका नाम "नाद-कुण्डलिनी" है। आध्यात्मिक स्तर पर कुण्डलिनी सर्वात्मभाव रूप परम ज्ञान के रूप में प्रवाहित होती है; इसका नाम "बोध-कुण्डलिनी" है। यह बोधि या सम्बोधि (Enlightenment) की अवस्था है ज़ो महात्माबुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, और जिसे संत-महात्मा और जीवनमुक्त पुरुष आंशिक या पूर्ण रूप में प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में द्वैतभाव (पराएपन का भाव) मिट जाता है, यह ज्ञान हो जाता है कि सभी अपने हैं और सबके कल्याण का भाव (विश्वप्रेम या महाकरुणा), स्वतः स्फूर्त रूप से जाग्रत हो जाता है। बोध-कुणडलिनी का जागरण ही कुण्डलिनी का पूर्ण जागरण है।

चूंकि व्यक्ति के भीतर का मलावरण या अशुद्धता ही कुण्डलिनी के प्रवाह में बाधक है, अतः आत्मशुद्धि (Self-purification) की साधना ही कुण्डलिनी-जागरण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का मार्ग है। जितनी भी आध्यात्मिक साधनाएँ हैं वे सभी आत्मशुद्धि की ओर ले जाती हैं। तन्त्र में इन सभी साधनाओं को 'उपाय' कहा गया है और उपायों को तीन उत्तरोत्तर (hierarchical) स्तरों में श्रेणीबद्ध किया गया है। ये तीन हैं- आणवोपाय; शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय। ये तीनों स्तर क्रमशः शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक हैं। आणवोपाय में बाह्य पूजा-पाठ, शारीरिक योग (हठयोग) आदि आते हैं। यह साधना का स्थूल और बाह्य रूप है जो शारीरिक स्तर पर होता है। इससे सूक्ष्म या ज्यादा आंतरिक उपाय शाक्तोपाय है जो मानसिक स्तर पर होता है। इसमें ध्यान, भावना आदि मानसिक साधना का समावेश है। यह 'राज-योग' का क्षेत्र है। सबसे ऊपर शाम्भवोपाय है जो वस्तुतः अध्यात्म-योग है। इसमें एक ओर आत्मसमर्पण रूप भक्तियोग है और दूसरी ओर सर्वात्मभाव रूप ज्ञानयोग है, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों से ही अहंकार गलता है और फलतः आत्मप्राप्ति होती है। ये तीनों स्तर के उपाय सामान्यतया समग्र (Integral) रूप में काम करते हैं और कुण्डलिनी-जागरण के मार्ग में परस्पर पूरक हैं। फिर भी इन तीनों का कुण्डलिनी जागरण में अपना विशेष अधिकार भी है। उदाहरण के लिए, हठयोग (आणवोपाय) प्राण-कुण्डलिनी के जागरण में, राजयोग (शाक्तोपाय) नादकुण्डलिनी के जागरण में तथा अध्यात्म-योग (शाम्भवोपाय) बोधकुण्डलिनी के जागरण में विशेष रूप से प्रभावी होता है।

शाम्भवोपाय (अध्यात्मयोग) की जो दो परस्पर पूरक धाराएँ हैं उन्हें तंत्र की भाषा में क्रमशः आत्मविश्रान्ति और आत्मप्रसार कहते हैं। ईश्वर या परमेश्वर (शिव या ब्रह्म) हमारा ही बड़ा स्वत्व या बड़ा 'मैं' (Higher Self) है, और इसीलिए उसे परमात्मा (परम+आत्मा) कहते हैं। यह चिदाकाश है; इसे शून्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमें अपने आप में कुछ भी नहीं है फिर भी इसी के स्वातंत्र्य से इसी में से "मयूराण्डरसवत्" सब कुछ निकल आता है। इसी परम आत्मा या बड़ा 'मैं' में छोटे 'मैं' का अर्थात् अपने आप का समर्पण करना, अहंकार को गलाना या यों कहिए कि चिदाकाश या 'शून्य' में अपना अहं लय करना - आत्मविश्रान्तियोग है। यह पूर्ण रूप से मानसिक विश्रान्ति (Relaxation) की अवस्था है। आत्मविश्रान्ति की अवस्था में यह नहीं होता कि हम निष्क्रिय हो जाते हैं, वरन् वास्तव में यह सहज-समाधि की अवस्था है जिसमें हम अपने परमात्मभाव में स्थित रहते हैं और सारी क्रियाएँ हमारे द्वारा ही स्पन्द रूप में सहज भाव से होती रहती है। आत्मविश्रान्ति (या इसे परमात्मविश्रान्ति कहिए) ही वास्तविक भक्तियोग है; क्योंकि भक्ति का अर्थ है भगवान में समर्पण, और भगवान कोई बाहरी व्यक्ति या वस्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है वरन् भक्त का ही बड़ा स्वत्व (परम+आत्म =परमात्मा) है। इस आत्मविश्रान्ति को महर्षि अरविन्द की भाषा में कहेंगे- चेतना का अपनी गहराई में प्रविष्ट होना (Deepening of Consciousness), क्योंकि इसमें हम अपनी चेतना के गहरे आयामों में प्रविष्ट होते हैं।

आत्मविश्रान्ति की जो पूरक साधना 'आत्मप्रसार' है उसका अर्थ है सब में अपने को देखना अर्थात् सबको अपना समझना (सर्वात्मभाव-"सर्वभूतात्मभूतात्मा"-गीता) और फलतः सबका कल्याण चाहना ("सर्वभूतहितेरताः"-गीता)। दूसरे शब्दों में, आत्मप्रसार का अर्थ है विश्वप्रेम। अरविन्द की भाषा में इसे अपनी चेतना को "फैलाना" (Widening of Consciousne) कहेंगे, क्योंकि जब हम सब में अपने आप को देखते हैं तो इसका अर्थ है कि हम अपने को सबमें फैला देते हैं। इससे हमारा अहंकार, जिसने हमें एक व्यक्ति की सीमा में बाँध रखा है, गल जाता है और हम विश्वात्मा हो जाते हैं जिससे शुद्ध प्रेम जाग जाता है। आत्मप्रसार के योग को ज्ञानयोग कहा जाता है। इसे 'ज्ञान' नाम इसलिए दिया गया है कि ज्ञान का अर्थ है सत्य को उसी रूप में जानना और इसके विपरीत अज्ञान का अर्थ है सत्य को उसी रूप में न देखकर गलत रूप में देखना। अध्यात्म-विज्ञान (Spiritual Science) के अनुसार सभी प्राणी वस्तुतः अपने हैं, कोई वस्तुतः पराया नहीं है; किन्तु अज्ञानवश हम उन्हें पराया समझते हैं। अतः भेद बुद्धि (द्वैतभाव) वास्तव में अज्ञान है ('द्वैतप्रथा तदज्ञानम्')। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि 'मैं' और मेरा' के साथ 'तू और तेरा' का भेद करना ही माया या अज्ञान है ("मैं अरु मोर तोर तैं माया")। इसके विपरीत, सबको अपना समझना अर्थात् अभेदबुद्धि (अद्वैतभाव) ज्ञान है, क्योंकि वही असलियत (सत्य) का ज्ञान है।

यह जो "आत्मविश्रान्ति" या "भक्ति" या "चेतना का अपनी गहराई में जाना (Deepening of Consciousnes)" और दूसरा जो "आत्मप्रसार" या "ज्ञान (अभेद बुद्धि)" या "अपनी चेतना को फैलाना (Widening of Consciousness)" है- ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वृक्ष की जड़ें जितनी ही गहराई में प्रवेश करती हैं उतनी ही उसकी शाखाएँ बाहर फैलती हैं, और जितनी ही उसकी शाखाएँ बाहर फैलती हैं उतनी ही जड़े भी गहराई में जाती हैं। उसी प्रकार जितनी ही आत्मविश्रान्ति होती है उतना ही आत्मप्रसार (विश्व-प्रेम) आता है, और जितना ही आत्मप्रसार (विश्वप्रेम) होता है उतनी ही आत्मविश्रांति आती है। कुछ निषेधवादी लोग ऐसा समझते हैं कि अपने को संसार से काटकर, संसार का त्याग कर, आत्मविश्रान्ति या आत्मप्राप्ति हो सकती है। वे यह भूल जाते हैं कि बिना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मप्रसार हुए अर्थात् बिना सर्वात्मभाव आए आत्मप्राप्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए उपनिषद् में और तंत्र में ज्ञान (सर्वात्मभाव) को आत्मप्राप्ति का रास्ता बताया गया है। निषेधवादी लोग एकान्त ब्रह्म (एकमेवाद्वितीयम्) की साधना करते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि उस एक ब्रह्म में सारा विश्व समाया हुआ है, वह "एक" वस्तुतः सर्वरूप है ("सर्व खल्विदं ब्रह्मम्")। एकान्त ब्रह्म की साधना का वास्तविक अर्थ है एक में अनेक को देखना और अनेक में एक को देखना, आत्मा में अर्थात् अपने में सबको देखना और सबको अपने में देखना, अर्थात् सर्वात्मभाव या विश्वप्रेम। इसीलिए उपनिषद् कहती है- "जो सभी प्राणियों को अपने में देखता है और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है":-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

"जिस 'ज्ञानी' के लिए सभी प्राणी अपना ही हो जाते हैं उस एकत्व देखने वाले को क्या मोह है और क्या शोक है?":-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।

आत्मप्राप्ति अर्थात् शिव-शक्ति-सामरस्य की प्राप्ति के लिए जो शाम्भवोपाय की साधना है उसकी एक पूरक साधना है "शिव-भावना"। शिव-भावना का अर्थ है, जगत् की सारी वस्तुओं में शिव अर्थात् परमात्मा को देखना, सभी वस्तुओं को भगवद्बुद्धि से ग्रहण करना। तंत्र में वर्णित "श्रीविद्या" के जो उपासक हैं वे जानते है कि सारी सृष्टि शिव-शक्ति का ही स्फार है और शिव-शक्ति सारी सृष्टि में व्याप्त और विद्यमान है। श्रीचक्र (श्रीयंत्र) इसी का प्रतीक है। श्रीचक्र की पूजा में हम प्रतीक रूप में सारी सृष्टि को ही शिव-शक्ति रूप में पूजते हैं। श्रीचक्र-पूजा का उद्देश्य है जगत् को शिव-शक्ति (अर्थात् भगवान) से जोड़कर जगत् को भगवद्मय बना देना, भौतिक जगत् को दैवी (divine) बना देना।

तन्त्र ने समाज को यह विधा दी है कि सृष्टि की सारी वस्तुओं को पूजा के भाव से देखा जाय, सभी वस्तुओं को भगवद्बुद्धि से ग्रहण किया जाय। इसी का परिणाम है कि भारतीय परंपरा में सभी भौतिक वस्तुओं की पूजा होती है। सूर्य की, चाँद की, नदी की, पहाड़ की, धरती की, पेड़-पौधों की, विश्वकर्मा के रूप में मशीनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और कल-कारखानों की, सरस्वती के रूप में सभी विद्याओं एवं कलाओं की, लक्ष्मी के रूप में धन की-पूजा होती है। सभी जीव-जन्तुओं की भी पूजा होती है। मानवीय सम्बन्धों में भी सबकी पूजा का भाव रखने का विधान है। पत्नी के लिए पति शिव है, पति के लिए पत्नी भगवती (शक्ति) है, माता-पिता देवता हैं, गुरु (आचार्य) देवता हैं, अतिथि देवता हैं; बालिकाओं को भगवती या देवी या भवानी और बालकों को बाल-गोपाल (कृष्ण) माना जाता है। लड़कियों को लेकर तो कुमारी-पूजन की प्रथा है जो नवरात्र के समय विशेष रूप से की जाती है। इस प्रकार भगवान की बनाई जो सृष्टि है उसको पूजाभाव से देखने की विधा है। हाँ, मनुष्य के अहंकार को भगवान ने नहीं बनाया है, अहंकार तो स्वयं मनुष्य ने बनाया है और उस अहंकार से वह पाप की सृष्टि करता है। अहंकार और पाप की पूजा नहीं होती, वह परमात्मसृष्टि नहीं है।

सृष्टि को भगवद्बुद्धि या पूजा--भाव से देखने का उद्देश्य है अपनी चेतना में सृष्टि को भगवान से जोड़कर सृष्टि में बदलाव लाना, सृष्टि को दैवी बनाना। सृष्टि में जो बुराई है वह हमारी दूषित चेतना का ही परिणाम है, हमारी चेतना जैसी है वैसा ही हम सृष्टि में वर्तन करते हैं। अतः सृष्टि में बदलाव के लिए हमारी चेतना में बदलाव आवश्यक है। सामान्यतया हम सृष्टि की वस्तुओं को अपने भोग के साधन के रूप में देखते हैं और उनका स्वार्थपूर्ण शोषण करते हैं। यदि भौतिक वस्तुओं या व्यक्तियों को केवल भोग के लिए अर्थात् केवल मजा लेने के लिए लिया जाय तो यह विधा कुछ समय के बाद आत्मघाती हो जाती है, भोग्य वस्तुओं में मजा नहीं मिलता। इसका एक कारण है और वह आध्यात्मिक है। जैसे चाँद का प्रकाश अपना स्वयं का प्रकाश नहीं है वरन् सूर्य का है, और चाँद का जितना हिस्सा सूर्य के सम्मुख होता है उतना ही हिस्सा प्रकाशित होता है, उसी प्रकार भोग्य वस्तु का सुख स्वयं वस्तु में नहीं है वरन् प्रेम में है जो भोग्य वस्तु में आनन्द का सृजन करता है। जब हम भोग के भाव से नहीं वरन् प्रेम के भाव से वस्तु को ग्रहण करते हैं तो उसमें तृप्ति मिलती है, अन्यथा नहीं। इसका स्पष्ट उदाहरण है कि स्त्री-पुरुष में यदि प्रेम-सम्बन्ध है तो उनका काम-सम्बन्ध भी सुखदायी होगा। प्रेम जितना ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शुद्ध और प्रगाढ़ होगा, काम-संबंध भी उतना ही तृप्तिदायक होगा। किन्तु जब प्रेम समाप्त हो जाता है तो काम-सम्बन्ध भी नीरस हो जाता है। प्रेम से विरहित काम आत्मघाती होता है। आज की भोगवादी संस्कृति की यही त्रासदी है। पश्चिम में तो यह स्पष्ट दीख रही है, पूर्व में भी तेजी से आती हुई दिखाई दे रही है। इस प्रवृत्ति के आत्मघाती परिणाम को रोकने का एक मात्र उपाय है आध्यात्मिक दर्शन के ज्ञान का प्रचार करना। वास्तविक अध्यात्म न तो भोग्य वस्तु का विरोधी है और न ही उसे त्यागने की बात सिखाता है। अध्यात्म तो भोग्य वस्तु को इस प्रकार ग्रहण करने और बरतने की विधा देता है जिससे एक ओर भोग्य वस्तु अधिक आनन्ददायक और तृप्तिदायक हो जाय, और दूसरी ओर वह भोग शुभ और मंगलमय हो जाय जिससे दूसरे को कष्ट न हो, दूसरे का कल्याण हो। प्रेम ऐसा ही आध्यात्मिक भाव है जो देने वाले और लेने वाले दोनों का भला करता है, दोनों को परम तृप्ति देता है। ("It blesseth him that gives and him that takes.")।

तन्त्र में इस सत्य को भली-भाँति समझा और स्वीकारा गया है कि काम-शक्ति जीवन की प्रधान ऊर्जा है। काम-शक्ति (Libido) का सही अभियोजन न होने से जीवन में नाना प्रकार की चेतन एवं अचेतन गड़बड़ियाँ पैदा होती हैं। तंत्र ने इस सत्य को भी समझा है कि काम का सही अभियोजन न तो भोग में है और न ही काम के दमन में है काम का सही अभियोजन उसके उदात्तीकरण (Sublimation) में है। प्रेम, भक्ति, कलात्मक सर्जन, सौन्दर्यानुभूति, सामाजिक सेवा आदि के रूपों में काम का परिवर्तन (Transformation) या उदात्तीकरण (Sublimation) होता है। काम का सबसे अधिक उदात्तीकरण प्रेम में होता है। जैसे पानी वाष्प बन जाता है और भाप बनकर सूक्ष्म एवं अधिक शक्तिशाली हो जाता है, उसी प्रकार काम ही प्रेम बन जाता है और प्रेम बनकर वह सूक्ष्म हो जाता है तथा प्रेमरूप में अधिक शक्ति आ जाती है; साथ ही, काम के स्थूल भोग की तुलना में प्रेम में बहुत अधिक तृप्ति एवं आनन्द की प्राप्ति होती है। काम को भोग रूप में लेने से एक ओर उतनी तृप्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं होती तथा दूसरी ओर ऊर्जा का अपव्यय होता है एवं मनुष्य स्वार्थी पशु हो जाता है। किन्तु भोग के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विपरीत काम का दमन करने से भी बहुत हानि होती है; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व में विभाजन (disintegration) हो जाता है और व्यक्ति में असामन्यता (abnormality) आ जाती है। काम का उदात्तीकरण ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही है और पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य का द्योतक है। काम का उदात्तीकरण होने पर जीवन के बड़े और शुभ कार्य होते हैं, क्योंकि काम के उदात्त रूप में परिवर्तित हो जाने पर उसमें एक ओर अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है और दूसरी ओर वह शुभ और लोकमंगलकारी होता है। उदात्त काम (अर्थात् प्रेम) ही सृष्टि को शुभ और आनन्द में बदल सकता है।

इसी कारण तंत्र ने काम के उदात्तीकरण पर बहुत अधिक बल दिया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तंत्र ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को स्वस्थ एवं सही बनाने की विधा दी है। स्त्री-पुरुष के बीच स्वस्थ संबंध कामोपभोग का नहीं वरन् प्रेम का है। तन्त्र ने यह देखा कि प्रकृति ने स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम पैदा होने में सहायता के लिए दोनों के बीच एक सहज आकर्षण बनाया है। दोनों एक दूसरे की ओर सहज रूप में आकर्षित होते हैं, एक दूसरे के नजदीक आते हैं और एक दूसरे में घुल-मिल जाना चाहते हैं। इस बात का मनोवैज्ञानिक एवं जीवशास्त्रीय कारण होने के साथ दार्शनिक कारण भी है। शिव-शक्ति अपनी आदि-अवस्था में परस्पर सामरस्य में रहते हैं, किन्तु जब सृष्टि होती है तो शिव-शक्ति तत्व पुरुष और स्त्री के रूप में विभाजित होकर अलग अलग स्थित हो जाता है। चूंकि स्त्री और पुरुष दोनों एक ही तत्त्व या व्यक्ति के आधे-अधूरे भाग हैं, अतः वे एक दूसरे के लिए छटपटाते हैं, एक दूसरे के समीप आना चाहते हैं और एक दूसरे में समाकर पूरा हो जाना चाहते हैं उनके संयुक्त होकर एक हो जाने से जिस प्रेमतत्त्व की उत्पत्ति होती है वह अमृत-रूप होता है जिससे जीवन परिप्लावित होकर आनंदमय हो जाता है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को उदात्त बनाने की जो विधा तन्त्र ने दी है उसके दो अंग हैं। एक तो यह कि दोनों एक दूसरे के प्रति पूजा का भाव रक्खें। स्त्री पुरुष के प्रति यह भाव लावें कि पुरुष शिव (भगवान) है, और पुरुष स्त्री के प्रति यह भाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लावें कि स्त्री शक्ति (भगवती) है। तंत्र ने इस पूजा का कर्मकाण्ड (Ritual) भी दिया है। उदात्तीकरण की विधा का दूसरा अंग है कि स्त्री-पुरुष परस्पर भोगभाव छोड़कर प्रेमभाव का अभ्यास करें। प्रेमभावना को भगवान बुद्ध ने 'मैत्रीभावना'' कहा है और प्रेमभावना को विकसित करने के लिए मैत्रीभावना की योग-साधना दी है (ज्ञातव्य है कि बौद्ध परम्परा में भी तंत्र है जिसे 'वज्रयान' कहते हैं और जो बौद्ध दर्शन की 'महायान' परम्परा से उद्भूत हुआ है। बौद्ध तंत्र में नर-नारी के संघट्ट को 'युगनद्ध' कहते हैं, जबकि शैव-शाक्त परम्परा में इसे 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं)। प्रेम या 'मैत्री' का अर्थ 'स्वार्थ' के उलटा है। स्वार्थ में हम केवल अपने को ही अपना समझते हैं, और केवल अपना हित चाहते हैं, दूसरे को पराया समझते हैं और उसे अपने हित (अपने सुख) के लिए साधन के रूप में ग्रहण करते हैं। स्वार्थ का अर्थ है कि हम साध्य हैं और दूसरा व्यक्ति हमारा साधन है। किन्तु प्रेम में हम दूसरे को साधन न मानकर साध्य मानते हैं, उसे अपना ही समझते हैं और उसका कल्याण चाहते हैं। उसका कल्याण उसके कल्याण के लिए चाहते हैं न कि अपने किसी स्वार्थ के लिए। प्रेम को समझने के लिए माता का उदाहरण दिया जाता है। माता बच्चे को अपना समझती है, बच्चे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझती है, बच्चे का हित चाहती है और बच्चे के सुख में स्वयं सुखी होती है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि जैसे माता के हृदय में बच्चे के लिए प्रेम होता है वैसे ही हमारे हृदय में सभी प्राण्यिों के लिए प्रेम पैदा हो। मन में हम सबका कल्याण मनाने का अभ्यास करें। मन में मन्त्र की भाँति जप करें कि सबका कल्याण हो, सभी सुखी रहें। इसे भगवान बुद्ध ने 'मैत्रीभावना' का अभ्यास कहा है।

स्त्री-पुरुष को परस्पर इसी प्रेमभावना ('मैत्रीभावना') का अभ्यास करने की विधा तंत्र ने दी है। परस्पर मैत्रीभावना के अभ्यास से स्त्री-पुरुष की भोगभावना उदात्त होकर शुद्ध प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। यही प्रेम और अधिक विकसित होकर विश्वप्रेम बन जाता है जिससे आत्मप्राप्ति होती है। विश्वप्रेम का पाठ स्त्री-पुरुष के प्रेम से प्रारंभ होता है और उससे पुष्ट भी होता है। इसी कारण स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध बिगड़ने से सारी सृष्टि का सम्बन्ध बिगड़ जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शंकर-पार्वती अथवा कृष्ण-राधा का प्रेम-सम्बन्ध इसी सत्य को उजागर करता है। दैवी युगल का आपसी सम्बन्ध काम का सम्बन्ध नहीं वरन् प्रेम का सम्बन्ध है जो काम का ही उदात्त रूप है।

उपसंहारः

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि हमारा और समाज का (विश्व का) कल्याण न तो इसमें है कि हम केवल भौतिक प्रकृति अनुगामी होकर भोगवादी प्रवृत्ति में लिप्त हो जाएँ और न ही कल्याण इसमें है कि हम भौतिकता का त्याग कर संन्यासी होकर केवल ब्रह्म में लीन हो जायें। कल्याण इसमें है कि हम भौतिक प्रकृति को ब्रह्म (भगवान) से जोड़ दें। भौतिक प्रकृति और भगवान के मेल से जो यौगिक रसायन (Compound) पैदा होगा वही विश्व का कल्याण कर सकता है, क्योंकि वह भौतिक प्रकृति को बदल देगा, उसे शुद्ध कर उदात्त और दैवी (Divine) बना देगा। मानव-चेतना ही यह समन्वय कर सकती है। मनुष्य आत्म-शुद्धि के द्वारा, अहंकार के विलयन और प्रेम-साधना के द्वारा, अपनी चेतना में भगवान अर्थात् शक्ति (कुण्डलिनी) को पूर्ण रूप से प्रवाहित करा सकता है और उसे जीवन के सभी भौतिक क्रिया-कलापों के साथ जोड़कर (समन्वय कर) भौतिक जीवन को ही आध्यात्मिक बना दे सकता है।

सन्दर्भ :

1. तंत्र के परमाचार्य अभिनवगुप्त शिव-पार्वती संवाद की यह व्याख्या देते हैं कि शिव-पार्वती संवाद वस्तुतः स्वात्मा के भीतर का ही अनुभवगम्य संवाद है जिसे चेतना ही अपने को प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के रूप में बांट कर प्रश्न और प्रतिवचन (प्रत्युत्तर) के रूप में करती है – "स्वात्मा सर्वभावस्वभावः स्वयं प्रकाशमानः स्वात्मानमेव स्वात्माविभिन्नेन प्रश्नप्रतिवचनात् प्रष्टृप्रतिवक्तृस्वात्ममयेन अहंतया चमत्कुर्वन् विमृशति" – परात्रिंशिकाविवरण.

2. हमने अपनी पुस्तक 'Significance of the Tantric Tradition' में इस प्रश्न की विवेचना प्रस्तुत की है और यह दिखलाने का प्रयास किया है कि – स्वतःस्फूर्त स्वाभाविकी क्रिया (स्पंद) का ज्ञान से कोई विरोध नहीं है; हाँ, ज्ञान का कर्म से विरोध हो सकता है, किन्तु तंत्र वाली क्रिया (स्पंद) से कर्म भिन्न है।

3. "अनुभवसम्प्रदायोपदेश-परिशीलनेन...... परत्रिंशिकाविवरण।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

शिव तत्त्व का स्वरूप एवं साधना

बद्रीनाथ सिंह*

भारतीय धर्म के प्रारम्भिक बहुदेववादी स्वरूप में त्रिदेव की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। देवता तो अनन्त हैं, उनका स्वरूप भी अचिन्त्य है, परन्तु सभी का प्रतिनिधित्व करने वाला वर्ग त्रिदेव वर्ग कहलाता है। तात्पर्य यह है कि असंख्य देवताओं को प्रमुख तीन वर्ग में समाहित किया गया है। तीन प्रमुख देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहलाते हैं। ब्रह्मा सृजन के देवता हैं जो सृजेता या सृष्टि कर्ता कहलाते हैं, पालन-पोषण के देवता विष्णु हैं, जिन्हें पालनकर्ता कहते हैं और संहार के देवता महेश या शिव कहलाते हैं, जिन्हें महाकाल भी कहा जाता है। इस प्रकार त्रिदेव के कार्य से सृष्टि का सृजन, पालन और संहार का व्यवहार सम्पन्न होता है। त्रिदेव के बिना विश्व-व्यवहार सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः विश्व व्यवस्था की व्याख्या त्रिदेव के बिना अपूर्ण, अशास्त्रीय एवं अप्रामाणिक मानी जायेगी। इसीलिए त्रिदेव की अवधारणाा एवं अनुशीलन भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है। अर्षिग्रन्थों में त्रिदेवों का स्वरूप विविध रूप से वर्णित है। पुराणों में इनसे सम्बन्धित अनेक कथानक प्राप्त होते हैं जिनसे त्रिदेव की मुखाकृति, वेष-विन्यास, वाहन, अस्त्र-शास्त्र आदि का हमें परिचय प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, चतुर्मुखी ब्रह्मा, शंख, चक्र, गदाधारी विष्णु, जटाजूटधारी, सर्पाभूषणधारी पंचमुख भगवान शिव। इन देवताओं की आकृति प्रकृति, विवरण व्याख्या से साधकों को शिक्षा एवं प्रेरणा प्राप्त होती है। हम यहाँ शिव तत्व के स्वरूप और साधना की व्याख्या करेंगे।

शिव शब्द लोक एवं वेद में मंगल वाचक है। किसी यात्रा पर निकलते समय हम स्वजनों के प्रति अपना उद्गार शिवास्तु पन्थानः अर्थात् तुम्हारी यात्रा सफल एवं मंगलमय हो- कहकर प्रकट करते हैं, मंगल शुभम्- अमरकोष। विश्वकोष के अनुसार शिव शब्द का प्रयोग मोक्ष, वेद, सुख के प्रयोजन में किया जाता है, शिवं च मोक्षे महादेवे सुखे, विश्वकोष। अतः सबका श्रेय, मंगलदायक, कल्याणकारी तत्व ही शिव तत्व है। जो शिव नहीं वह अशिव है, अमंगलदायक अथवा कष्टदायक है, अकल्याणकारी अशुभ है। शुभ तो स्वभावतः श्रेय, उपादेय है और अशुभ हेय एवं अनुपादेय है। अतः शिव एवं अशिव मानव स्वभाव के अपरिहार्य अंग है जिन्हें मानव की सहजात या जन्मजात प्रवृति भी कह सकते हैं।

---

*पूर्व प्रोफेसर, धर्म एवं दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भगवान रूप में शिव के रूप अनन्त, हैं, गुण असंख्य है, परन्तु मानवी बुद्धि इन्हें निर्गुण, निराकार एवं सगुण साकार रूप में ग्रहण करती है। अतः पौराणिक परम्परा में इनका वर्णन और व्याख्या निराकार और साकार रूप में प्राप्त होता है। निराकार रूप में ये निष्क, सर्वव्यापी, परब्रह्म, परम, शिव है और साकार रूप में सकल, भूतभावन भगवान शंकर कहलाते हैं। शिवलिंग उनके ज्योतिर्मय निराकार स्वरूप का प्रतीक है तो त्रिशूल-युक्त, सर्पों की माला पहने हुए, डमरूधर रूप उनके साकार स्वरूप का वाचक है। विश्व-ब्रह्माण्ड का प्रतीक प्रतिनिधि मानकर लिंग रूप में उनकी सर्वत्र पूजा- उपासना की जाती है। भारत क्षेत्रों में स्थापित बारह शिवलिंग द्वादश ज्योतिर्लिंग विश्व विख्यात है। निर्गुण एवं निराकार रूप में शिव का आकार लिंग है जो सृष्टि की सर्वव्यापकता एवं महत्ता का प्रतीक है। पुराणों में सृष्टि को अण्डाकार माना गया है। शिवलिंग का आकार भी अण्डे के समान है। स्कन्दपुराण में कहा गया है:-

आकाशः लिंगमित्याहुः पृथ्वी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वदेवानाँ लयनाल्लिंगमुच्यते।।

अर्थात् आकाश लिंग है, पृथ्वी उसकी पीठिका है, सभी देवों का वही आलय है, इसी में सबका लय होता है, अतः यह लिंग है। सृष्टि को लिंग रूप स्वीकार करना एक वैज्ञानिक मान्यता है। लिंग निर्मित यह ब्रह्माण्ड तत्वतः लिंगवत वक्राकार है। लिंग इसी का प्रतीक है जो सृष्टि को स्वयं में आत्मसात किये हैं। इस प्रकार शिवलिंग निराकार निर्गुण परब्रह्म का प्रतीक है। साकार रूप में शिव का निवास स्थान श्मशान है। गले में मुण्डमाला, कालपाश - महासर्प उनके गले में यज्ञोपवीत से लिपटे हैं, तीक्ष्ण त्रिशूल उनका अस्त्र है। उनके नेत्र तीन है, तीसरा नेत्र खुलते ही चारों ओर आग की वर्षा होती है, जिसे वे देखते हैं वह जलकर भस्म हो जाता है। प्रलय काल में वे ताण्डव नृत्य करते हैं, उनके पैरों की थिरकन से जरा-जीर्ण कूड़ा करकट प्रभूत दावानल में जल जल कर अन्तरिक्ष में विलय होता चला जाता है। शिव का स्वरूप विचित्रताओं से भरा है। उनके माथे पर चन्द्रमा है, जो मुदितावस्था का प्रतीक है अर्थात् योगी का मन सर्वदा चन्द्रमा के समान शीतल, प्रफुल्ल, रिक्त और निःशंक होता है, विषमताओं का उसके ऊपर प्रभाव नहीं। शिव का कंठ नीला है। पुराणों के अनुसार देवों और दानवों को सर्वनाश से बचाने के लिए शिव ने समुद्र मन्थन से निकले हुए हलाहल विष को पी लिया, तब से उनका कंठ नीला है। योगी सूक्ष्म शरीर पर अधिकार पा लेता है, जिससे उसके स्थूल शरीर पर पड़े तीक्ष्ण विषों का प्रभाव नहीं पड़ता, उन्हें भी वह सामान्य आहार के समान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पचा लेता है। वह स्वयं विष पीता है और दूसरों के लिए अमृत लुटाता है। उनके सारे शरीर पर भस्म रमा है। योगी अपने वीर्य को शरीर में रमा लेता है, जिससे उसका सौन्दर्य पढ़ता है। उसे वाह्य अलंकारों की आवश्यकता नहीं, उसका अक्षुण्ण संयम ही अलंकार है। शिव त्रिनेत्रधारी है, उनका तीसरा विवेक का नेत्र है। सामान्य मनुष्य चर्म चक्षुओं से तात्कालिक लाभ को देखते हैं, तीसरे नेत्र-विवेक से शिव दूरगामी परिणामों को देखते हैं। आशय यह है कि शिव-साधक को दूरदर्शी होना चाहिये, विवेक की दृष्टि के जागरण से कुविचार नष्ट होता है। चिता भस्म लेपन, मुण्डमाला धारण का प्रयोजन मृत्यु का स्वागत एवं सहगमन है। जन्म और मरण का चक्र सदा चलता है। इसमें सतत् सम्बन्ध स्वीकार करने वाला कुमार्ग पर पैर नहीं रखता, कुकर्म नहीं करता। शिव सर्वदा भूत-प्रेतों की सेना से घिरे रहते हैं। तात्पर्य यह है कि शिव भूत-प्रेतों को पतित, दुखी और असमर्थों को साथ लेकर चलते हैं। समत्व योग से सम्पन्न योगिराज शिव की दृष्टि में कोई त्याज्य नहीं, अस्पृश्य नहीं, पतित नहीं, अशुभ नहीं। शिव के समक्ष तो सभी समकक्ष हैं। समदर्शी की दृष्टि में कोई विषम नहीं। शिव के कंठ, भुजा और कन्धे पर सर्प लिपटे हैं, उन्हें काटते नहीं वरन् शिव के सम्पर्क से अपनी विशैली प्रकृति का परित्याग करते हैं। शिव का सच्चा साधक इसी रीति नीति को अपनाता है, वह विषैले सर्पों से भय नहीं खाता और न उनसे द्वेष करता, वरन् उन्हें गले लगाता है। उन्हें मारने की अपेक्षा उनकी प्रकृति में परिवर्तन करता है। साधक सर्प को सहचर बना लेता है। अतः शिव के शरीर पर सर्पों के लिपटे रहने से हमें यही शिक्षा मिलती है कि द्वेष प्रेम में दुर्भाग्य सौभाग्य में, कुरूपता सुरूपता में, मृत्यु-शय्या पर सुलाने वाला सर्प आलिंगन से अलंकरण में परिवर्तित हो सकता है। शिव के प्रिय आहार में भाँग, धतूरा और विल्वपत्र का उल्लेख है। भांग खेतों में उपजने वाला पौधा नहीं वरन् भंग है, जो विच्छेद एवं विनाश का कारण है। माया और जीव की एकता का भंग, अज्ञान आवरण का भंग, संकीर्ण स्वार्थपरता का भंग, कषय-कल्मषों का भंग आवश्यक है। इस प्रकार भंग तो अज्ञान-अंधकार का अंत है। शिव का वाहन वृषभ है जो सौम्यता एवं कर्मठता का प्रतीक है। शिव का साहचर्य उन्हें प्राप्त होता है जो स्वभावतः सरल एवं सौम्य होते हैं, जिनमें छल-छद्म नहीं होता। साथ ही जिनमें आलस्य न होकर निरन्तर कर्म करने की दृढ़ता होती है। शिव के सौम्य एवं पराक्रमी स्वरूप को गंगावतरण से स्पष्ट समझा जा सकता है। गंगा जी विष्णुलोक से आती है, उनका अवतरण एक महान् आध्यात्मिक शक्ति रूप में होता है। उसे संभालने का प्रश्न विकट था। भगवान शिव उसके उपयुक्त माने गये और भगवती गंगा को उनकी जटाओं में प्रश्रय मिला। गंगा ज्ञान की प्रचण्ड आध्यात्मिक रूप में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवतरित होती है। लोक कल्याण के लिए उसे धरती पर प्रवाहित करने के लिए शिव जैसा संकल्प शक्ति वाले महापुरुष की आवश्यकता थी। यह महान् क्रान्ति का सृजन है जो वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें शिव आदर्श हो, वही ब्रह्मज्ञान को धारण कर लोक हितार्थ प्रवाहित कर सकता है।

भगवान शिव का एक स्वरूप अर्धनारीश्वर है। यह प्रकृति में नर-नारी की सक्रिय भूमिका के साथ साथ नर-नारी में समता की प्रेरणा देता है। शिव और शक्ति अभिन्न है। उनके संबंध अविच्छिन्न है, उनकी लीला चिरन्तन एवं शाश्वत है। सृष्टि के आदि से एक ही परम चैतन्य अपना लीला नाट्य शिव शक्ति रूप में कर रहा है। इस चैतन्य ऊर्जा का व्यक्त अर्थात् गतिज रूप शक्ति है और स्थितिज रूप शिव है। अतः –

उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजंगमाः।
व्यक्तसर्वमुमारूप मण्यक्तं तु महेश्वरः।।

अर्थात् यह स्थावर- जंगम समूची सृष्टि उमा और रुद्ररूप है। इसमे जो व्यक्त है वह भगवती उमा है और अव्यक्त रूप भगवान महेश्वर है। इससे स्पष्ट है कि रुद्र रूप नर है, उमा नारी है, रुद्र ब्रह्मा है, उमा वाणी है, रुद्र विष्णु है, उमा लक्ष्मी है, रुद्र सूर्य है, उमा छाया है, रुद्र सोम है, उमा तारा है, रुद्र दिन है, उमा रात्रि है, रुद्र यज्ञ है, उमा वेदी है, रुद्र वह्नि है, उमा स्वाहा है, रुद्र वेद है, उमा शास्त्र है, रुद्र वृक्ष है, उमा वल्ली है, रुद्र गन्ध है, उमा पुष्प है, रुद्र अर्थ है, उमा अक्षर है, रुद्र लिंग है, उमा पीठ है। यही शिव - शक्ति का लीला- सन्दोह है। इस सत्य को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। सौन्दर्य लहरी में आचार्य शंकर कहते हैं–

शिवःशक्त्यायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभवितुं न चेदेवं न रक्तकुशलः स्पन्दयितुमपि।।

अर्थात् शक्ति के विना शिव अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि शक्ति के बिना सृजन-पालन-संहार कुछ भी सम्भव नहीं। अधिक क्या, इसके बिना तो स्वयं शिव स्पन्दनहीन हो जायेगें।

शक्ति और शिव का सम्बन्ध एक गम्भीर दार्शनिक समस्या है। संत कवि तुलसीदास ने एक नया समाधान दिया है। श्री रामचरितमानस के प्रारम्भ में मंगला चरण में वे कहते हैं–

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थामीश्वरम्।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् मैं उस श्रद्धा और विश्वास रूपी भवानी और शंकर की वन्दना करता हूँ। जिनके बिना अन्तःकरण में अवस्थित परमात्म-सत्ता को सिद्धजन नहीं देख पाते। इसमें पार्वती को श्रद्धा एवं विश्वास को शिव कहा गया है। श्रद्धा एवं विश्वास अन्तः करण की शक्तियाँ हैं। स्थूल शरीर की शक्ति क्रिया है और क्रिया का प्रेरक चिन्तन है जो सूक्ष्म शरीर की शक्ति है। बुद्धि का व्यापार विचार है, परन्तु विचार की दिशा का निर्णय अन्तः करण में उठने वाली प्रेरणायें, आकांक्षाएं जीवन दिशा का निर्धारण करती हैं। इस अन्तःकरण की धनीभूत भाव-संवेदना ही श्रद्धा है। कोई व्यक्ति वही होता है जो उसकी श्रद्धा होती है। क्रिया और विचारणा तो चेतन शक्तियाँ हैं, जो श्रद्धा के अनुगामी हैं। गीता में श्री कृष्ण का कहना है- श्रद्धामयोपडयं पुरुषः योगच्छन्दः स एवं सः, गीता- 18 अर्थात् व्यक्ति श्रद्धामय ही है, जिसकी जो श्रद्धा है, वह वही है। अत: जीव की स्थिति श्रद्धा के अनुसार ही है। आम्रपाली की श्रद्धा जब तक रूप-सौन्दर्य की अधिकाधिक प्रशंसा थी तब तक वह नगर-वधू थी, उसकी श्रद्धा में परिवर्तन हुआ और वह महान् भिक्षुणी वन गयी। लोगों में काम वासना को उभारने वाली विवेक को जगाने लगी, शरीर वैभव से सम्पन्न आत्म-वैभव से सम्पन्न हो गयी। रत्नाकर डाकू की श्रद्धा बदल गयी और वह महाकवि वाल्मीकि बन गया। अतः जैसी श्रद्धा वैसा ही व्यक्तित्व। अतः श्रद्धा आन्तरिक व्यक्तित्व की जननी पार्वती है। विश्वास श्रद्धा का सहचर शिव है। विश्वास विष और वासका योग है, विष का अर्थ प्रविष्ट होना और वास का अर्थ निवास करना है। अन्तःकरण में जो भाव गहराई से बैठ जाय वह विश्वास है, वही संकल्प बनता है। सुदृढ़ विश्वास कल्याणकारी शंकर है। इस प्रकार सच्ची श्रद्धा और सुदृढ़ विश्वास पार्वती और परमेश्वर हैं। दोनों सहचर हैं, अनन्यभाव से सम्पन्न है। अनन्य-भाव से सम्पन्न होने से दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य भी है। शक्ति के बिना शिव की अभिव्यक्ति नहीं तो शिव के बिना शक्ति का अस्तित्व नहीं। वाणी और अर्थ के समान दोनों सम्पृक्त या सम्बद्ध हैः वागार्धाविव सम्पृक्तौ- रघुवंश। जहाँ वाणी है वहाँ अर्थ है और जहाँ अर्थ है वहाँ वाणी। इसी प्रकार शिव और शक्ति में भी अभेद सम्बन्ध है। परन्तु इस अभेद का अर्थ भेद भिन्न अभेद नहीं वरन् भेद के साथ अभेद (भेद सहअभेद) है। शिव और शक्ति तो दो दो नाम है, वस्तुतः दोनों में ऐक्यभाव है। एक ही परम तत्व व्यक्त अवस्था में शक्ति और अव्यक्त में शिव कहलाता है। अतः इन्हें दो कहना अथवा इनमें भेद समझना तो उपलब्धि का अथवा अभिव्यक्ति का भेद है। तत्वतः तो इनमें अभेद है। वाणी और अर्थ का भेद, जल और प्रवाह का भेद केवल कथन मात्र का भेद है। तत्वतः वाणी और अर्थ, जल और उसका प्रवाह अभिन्न है। श्री रामचरित मानस में संत शिरोमणि तुलसीदास ने कहा हैः गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काश्मीर शैव दर्शन में चेतना का स्वरूप

कैलाश पति मिश्र*

काश्मीर शैव दर्शन तान्त्रिक अथवा आगमिक परम्परा का एक अद्वैतवादी दर्शन है। इस दर्शन में एक मात्र चेतना अथवा चैतन्य तत्त्व की ही सत्ता मानी गयी है। जड़ तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता इस दर्शन में स्वीकार नहीं की गयी है। जड़ तत्त्व अथवा इससे निर्मित जगत् को चैतन्य तत्त्व ही स्वयं को नानाविध जीव एवं जगत् के पदार्थों के रूप में आभासित करता है। काश्मीर शैव दर्शन में चेतना की विभिन्न विशेषताओं के अनुसार इसे विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य चेतना की कुछ प्रमुख विशेषताओं तथा उनसे सम्बन्धित अवधारणा का विवेचन करना है।

तत्त्व की दृष्टि से चेतना को आत्मा कहा गया है।[1] आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा का निषेध भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। ज्ञान की हर प्रक्रिया में ज्ञाता पूर्व सिद्ध है। जिस प्रकार कोई क्रिया कर्ता के बिना नहीं हो सकती उसी प्रकार कोई ज्ञान ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि आत्मा का निषेध अथवा आत्मा की सत्ता का खण्डन भी किया जाय तो यह बिना निषेधकर्ता अथवा खण्डनकर्ता की सत्ता माने संभव नहीं होगा।[2] इस प्रकार आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है। चेतना अथवा आत्मा को काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान रूप माना गया है तथा ज्ञान को आत्मा का स्वरूप ही कहा गया है। इसके अनुसार जिस प्रकार प्रकाश और प्रकाशमानता दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं। प्रकाशमानता प्रकाश का गुण नहीं है, वरन् प्रकाश का स्वरूप ही है। उसी प्रकार ज्ञान आत्मा अथवा चेतना का गुण नहीं वरन् स्वरूप ही है। अद्वैत-बेदान्ती और काश्मीर शैव दार्शनिक दोनों ही ज्ञान को आत्मा का स्वरूप होना मानते हैं, किन्तु दोनों की मूलभूत मान्यताओं में अन्तर है। अद्वैत-बेदान्त के अनुसार ज्ञान निष्क्रियता की अवस्था है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान क्रिया रूप हैं।[3] अद्वैत-बेदान्त के अनुसार ज्ञान वस्तु तन्त्र है जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान पुरुषतन्त्र है।

काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है तथा आगम हमें यह बताते हैं कि आत्मा अपने परमार्थ रूप में शिव है।[4] आत्म रूप होते हुए भी शिव परम तत्त्व है।[5] अपने परमार्थ रूप में शिव अनिर्वचनीय है। चैतन्य तत्त्व होने से शिव का कोई रूप अथवा आकार नहीं हो सकता क्योंकि रूप और आकार जड़ पदार्थ के होते हैं, चेतना का नही। अरूप एवं निराकार होने से शिव बुद्धि द्वारा अज्ञेय हैं। इसके परमार्थ स्वरूप का निर्वचन

*रीडर, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

बुद्धि की कोटियों में नहीं किया जा सकता। बुद्धि द्वारा सर्वथा अज्ञेय होने से इसे न तो सत् कहा जा सकता है, न असत् और न ही सदसत्। अनिर्वचनीय होने से शिव को 'अनुत्तर' कहा गया है।[6] यहाँ प्रश्न उठता है कि जब शिव अनिर्वचनीय है तो उसके स्वरूप का ज्ञान अथवा उसके स्वरूप के विषय में कथन अथवा विवेचन कैसे संभव है? इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि शिव के परमार्थ रूप की अनुभूति उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त कर की जा सकती है तथा शिव के स्वरूप का विवेचन आगम के आधार पर किया जा सकता है। आगम चूंकि उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त योगियों की अनुभूतियों पर आधारित हैं इसलिए वे प्रामाणिक हैं।

शिव पूर्ण हैं।[7] उसमें किसी भी तरह की कोई कमी अथवा अभाव नहीं है। वह अद्वय तत्त्व है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। समस्त पदार्थों में विद्यमान आत्मा ही शिव है। परमार्थतः वाह्य जगत् में ग्राह्य और ग्राहकादि भेद नहीं है। विश्वगत अनन्त वैचित्र्य रूप में वही एक तत्त्व स्फुरित हो रहा है।[8] वह परमतत्त्व परमसत् तथा निरपेक्ष सत् है क्योंकि वह निराकांक्ष तथा सभी सीमाओं से परे है।[9] परमशिव सत, चित् तथा आनन्द है। अद्वैत-वेदान्त में भी ब्रह्म को सत्, चित् तथा अद्वैत-वेदान्त के सच्चिदानन्द की व्याख्या में अन्तर है। अद्वैत-वेदान्त सच्चिदानन्द की व्याख्या निषेधात्मक अर्थ में अथवा नेति-नेति के सन्दर्भ में करता है। इसके अनुसार ब्रह्म को सत् कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्म असत् नहीं है। ब्रह्म को चित् कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्म अचित् नहीं है तथा उसे आनन्द कहने का तात्पर्य है कि वह सभी प्रकार की अपूर्णताओं तथा सीमाओं से परे है। काश्मीर शैव दर्शन सच्चिदानन्द की व्याख्या भावात्मक अर्थ में करता है। इसके अनुसार परमशिव सत् है अर्थात् उसकी सत्ता है, चित् है अर्थात् वह चेतन है तथा आनन्द है अर्थात् वह आनन्दघन है। इस दर्शन के अनुसार सत्ता और चेतन मूलतः तद्रूप हैं। सत्ता ही चेतना है और चेतना ही सत्ता है। चेतना को अपनी सत्ता और पूर्ण अथवा पूर्णानन्द होने का ज्ञान भी है क्योंकि चेतना (संवित् तत्त्व) स्वयं प्रकाश है।[10]

क्रिया अथवा क्रियाशीलता की दृष्टि से चेतना को शक्ति कहा गया है। 'शकन'[11] अर्थात् कुछ कर सकने को 'शक्ति' कहत हैं। काश्मीर शैव दर्शन में चैतन्य तत्त्व को क्रियाशील माना गया है। चेतन शब्द का अर्थ है 'चेतने की क्रिया' अर्थात् जानने की क्रिया करने वाला। इस प्रकार चेतन वही है जो चेतने की क्रिया करने में समर्थ एवं स्वतंत्र हो। 'घट' को चेतन नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको न तो अपने और न अपने से भिन्न किसी दूसरे के होने की चेतना है। अतः वह अचेतन है।[12] इसके विपरीत 'चैत्र' नामक व्यक्ति चेतने वाला चेतन है क्योंकि उसे स्वयं का तथा स्वयं से भिन्न नील, पीत, सुख, दुःख का बोध होता है।[13] काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार चेतना मूलतः अथवा स्वरूपतः चेतन है अर्थात् चेतने की क्रिया उसका स्वरूप ही है। न्याय दर्शन में चेतना को आत्मा का आकस्मिक गुण कहा गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्वैत-वेदान्त में आत्मा को चेतन तत्त्व तो कहा गया है, किन्तु मूल रूप में आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा में जो चेतन की क्रिया है वह मूल स्वरूप न होकर औपाधिक है जो माया अथवा अविद्या के कारण है। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है कि जो आत्मसत्ता है वह चेतन है, अपितु यह कि चैतन्य ही आत्मा है, जैसे कि राहु का सिर कहना मात्र एक औपचारिक प्रयोग है, वास्तव में राहु और सिर एक ही वस्तु है।[14] अद्वैत-वेदान्त के अनुसार चैतन्य में क्रियात्मकता माया के कारण आती है। क्रियाशीलता चैतन्य का स्वरूप या स्वभाव नहीं है। अद्वैत-वेदान्त क्रिया को कर्म के अर्थ में लेता है। इस प्रकार क्रिया एक ओर अपूर्णता का द्योतक है क्योंकि यह इच्छा से प्रेरित होती है तथा इसके मूल में कुछ पाने की भावना निहित होती है तथा दूसरी ओर यह भेदावस्था की सूचक है अर्थात् चैतन्य तत्त्व से इतर 'कुछ' है जिसे पाने की इच्छा होती है। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त के अनुसार पूर्णता वं अद्वैत की अवस्था में क्रिया का होना संभव नहीं है। इसके विपरीत काश्मीर शैव दर्शन की मान्यता है कि चैतन्य तत्त्व शिव मूलतः तथा स्वरूपतः क्रियाशील है। क्रिया का एक ऐसा स्वरूप है जो पूर्णता तथा अद्वैत की स्थिति में भी संभव है। इस प्रकार की क्रिया का पारिभाषिक नाम काश्मीर शैव दर्शन में 'स्पन्द' है।

स्पन्द शब्द 'स्पदि' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'किञ्चित् चलन[15] अर्थात् सूक्ष्म स्फुरण। चेतन तत्त्व स्वभावतः उच्छलनात्मक अर्थात् क्रियाशील है।[16] चैतन्य की इस क्रियाशीलता को ही 'विमर्श' कहा गया है। अद्वैत वेदान्त में चैतन्य तत्त्व ब्रह्म को केवल प्रकाश रूप अथवा ज्ञानरूप कहा गया है। वहाँ क्रिया अथवा विमर्श की अवधारणा नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन में चैतन्य सदैव 'प्रकाशविमर्शमय' अर्थात् ज्ञान-क्रिया रूप है।[17] स्पन्द शिव का सार अथवा हृदय है।[18] चैतन्य तत्त्व सदैव स्फुरणशील होता है तथा यह स्फुरणा अहं विमर्शात्मक होता है।[19] विमर्श के बिना प्रकाश की कल्पना व्यर्थ है। विमर्शहीन प्रकाश जड़ के तुल्य ही होता है।[20] चैतन्य तत्त्व विमर्श के बिना कभी नहीं रह सकता। यदि ऐसा होता तो चिद्रूपता के अभाव में सारे विश्व में जड़ कंकड़-पत्थर के अतिरिक्त कुछ नहीं होता अर्थात् कोई जीवित सत्ता देखने को नहीं मिलती। स्पन्द को चैतन्य की स्वातन्त्र्य शक्ति कहा गया है। इस स्वातन्त्र्य शक्ति से ही चैतन्य अपने आत्म स्वरूप में ही स्वेच्छा से इदं विमर्श रूप जगत् का अवभासन करता है। काश्मीर शैव शास्त्र में विमर्श की दो कोटियाँ बतायी गयी हैं- शुद्ध विमर्श (अहं विमर्श) तथा प्रपंच स्फुरण वैचित्र्यात्म विमर्श (इदं विमर्श)। जब विमर्श-क्रिया हृदय-प्रकाश स्वरूप आत्मा में ही स्थित रहती है तब यह शुद्ध विमर्श अथवा अहम् विमर्श कहलाती है तथा जब यही विमर्श-क्रिया इदमिति रूप क्षोभ का अनुभव करने लगती है तो विश्व विस्तार की अपेक्षा से दूसरी कोटि का अर्थात् इदम् विमर्श कहा जाता है।[21] इन कोटियों को अन्तः सृजन तथा वहिःसृजन भी कहा गया है।[22] कुछ भी कर सकने का सामर्थ्य ही स्वातन्त्र्य शक्ति है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार विमर्शात्मक स्पन्द-शक्ति ऐसा स्वातन्त्र्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एवं असीम सामर्थ्य है कि वह अवभासित पदार्थ को अपने रूप में लय कर सकती है, अपने आप को भावमण्डल के रूप में अवभासित कर सकती है, दोनों को एकाकार बनाकर धारण कर सकती है और दोनों से पृथक् रूप में भी अवस्थित रह सकती है।[23] अद्वैत-वेदान्त में भी ब्रह्म को स्वतन्त्र कहा गया है किन्तु वहाँ ब्रह्म में क्रिया-स्वातन्त्र्य नहीं माना गया है। ब्रह्म निरपेक्ष सत् है, इस अर्थ में उसे स्वतन्त्र कहा गया है। वहाँ स्वातन्त्र्य को 'सत्ता-स्वातन्त्र्य' के अर्थ में लिया गया है, अर्थात् सत्ता की दृष्टि से स्वातन्त्र्य की अवधारणा है। काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्य को दोनों ही अर्थों में लिया गया है। परमशिव निरपेक्ष तत्त्व होने से उसमें सत्ता-स्वातन्त्र्य तो है ही साथ में उसमें क्रिया-स्वातन्त्र्य भी है। क्रिया-स्वातन्त्र्य ही स्वातन्त्र्य का वास्तविक भाव है। चैतन्य की स्पन्दरूपी स्वातन्त्र्य शक्ति सब कुछ करने में समर्थ है।[24] यह स्वातन्त्र्य शक्ति विश्व के प्रत्येक दृश्यमान अथवा अदृश्यमान पदार्थ को सत्ता प्रदान करती है, इतना ही नहीं यह सर्वथा अनस्तित्ववान वस्तुओं, यथा-आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग आदि की भी कल्पना कर लेती है।[25] स्वातन्त्र्य परमशिव की मुख्य शक्ति है। उसकी अन्य शक्तियाँ उसी में अन्तर्भूत हैं।[26] यह परमेश्वर की कभी भी बाधित न होने वाली 'अनिरुद्ध इच्छा है।[27] इसे अनन्य निरपेक्ष कहा गया है।[28]

काश्मीर शैव दर्शन में चैतन्य तत्त्व को मूलतः स्वतंत्र सत्ता कहा गया है। स्वातन्त्र्य को ही परमेश्वर की पराशक्ति कहा गया है। शक्ति शिव से सर्वथा अभिन्न है। चैतन्य अपने को चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में प्रकाशित करता है। चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में अपने को प्रकाशित करना ही विमर्श है। आनन्द इसका अपर पर्याय है। यह परमेश्वर का ऐश्वर्य है। यह स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं है। अपने स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य से अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी परमेश्वर स्वरूपतः अखण्ड एवं पूर्ण रहता है। उसकी इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उसका स्वातन्त्र्य है।[29] जिसे परमात्मा का ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य कहा जाता है। वही विमर्शात्मा चिति है। शिव प्रकाशात्माचिति है। दोनों अविभक्त और अविनाभूत है। यही दशा परमशिव से अभिहित है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार प्रकाश और विमर्श सर्वदा एक रहते हैं। प्रकाश सदैव विमर्श से युक्त रहता है। विमर्श भी प्रकाश के बिना कभी नहीं पाया जाता। परमसत्ता केवल चेतन नहीं है, बल्कि चेतन जो स्वयं को प्रकाशित करता है। चित् स्वयं को चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में प्रकाशित करता है। इसलिए विमर्श को पराशक्ति, परावाक, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि कहा जाता है। तत्त्व की दृष्टि से प्रकाश को शिव तथा विमर्श को शक्ति कहा जाता है। शिव और शक्ति में पूर्ण तादात्म्य अथवा पूर्ण सामरस्य का सम्बन्ध है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सार्वभौम चेतना शक्ति (परमशिव या पराशक्ति) ही अपनी सृष्टि की इच्छा के प्रभाव से विश्व के असंख्य रूपों में प्रकट होती है। अपनी बाह्य अभिव्यक्ति के पूर्व सिसृक्षा सार्वभौम चेतना के अन्दर उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार हमारे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विचार अभिव्यक्त होने के पूर्व हमारी चेतना में रहते हैं। एक रस अद्वैत रूप परम चेतना से विश्व वैभिन्न्य उसी प्रकार प्रकट होता है जैसे मयूराण्ड के रस से रंगवैभिन्न्य प्रकट होता है। परमचैतन्य परमशिव ही जगत का मूल कारण है। वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। वह उपादान कारण इसलिए है कि जगत् उसके भीतर से ही प्रकट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् जिस उपादान का बना है वह चैतन्य ही है। शिव निमित्त कारण भी इसलिए है कि जगत् को अपने में से स्वयं ही बनाता है। जगत् की सृष्टि में शिव की 'स्वतन्त्र इच्छा' ही प्रमुख कारण है। परमशिव अपनी इच्छा के द्वारा' लीला के लिए इस विश्व की रचना करता है। जगत् रचना के लिए परमशिव को किसी उपादान या अधिकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कार्य मात्र उसकी इच्छा से संपादित हो जाता है। परमशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से सृष्टि करता है और सृष्टि दशा में स्वयं ही अवतीर्ण होता है। असीम होकर भी अपने को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन निहित नहीं होता है। सृष्टि तो उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है। उसे पञ्चकृत्यकारी कहा गया है (सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह करने वाला) अपनी लीला के लिए परमशिव सृष्टि करता है और स्वयं को बन्धन में डालता है। परन्तु वास्तव में वह बन्धन में या सीमित दशा में भी असीम और परमतत्त्व ही रहता है। उसके स्वरूप में कोई भी वास्तविक परिवर्तन नहीं आता। सारे परिवर्तन प्रतीति मात्र होते हैं। परमशिव का स्पन्द रूप आनन्द उसके अपने ही परमेश्वरता के विलास का विमर्श रूप है। इस स्वात्म आनन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द में स्पन्दमान रहता है और उसका यह आनन्द स्पन्दन ही विश्व बन जाता है। सृष्टि और प्रलय शिव की क्रीड़ा है जिसे उसके विमर्शरूपता का उन्मेष और निमेष कहा जाता है।

परमशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से स्वयं को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। जगत् के सृष्टि-क्रम की व्याख्या छत्तीस तत्त्वों के रूप में की जाती है। इनमें प्रथम पाँच शिव की विभिन्न शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं तथा शेष शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के माया रूपी शक्ति की अभिव्यक्ति हैं जिसे चैतन्य का आभास कहा जाता है। परमशिव का सृष्टि के लिए उन्मुख विश्वमय रूप शिव तत्त्व से अभिहित होता है। स्वतन्त्र चिद्घन संवित्स्वभाव परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही आभास रूप से अर्थात् पारमार्थिक कारण-कार्य भाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्व रूप में अवभासित करने की इच्छा करता है तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा अवस्था को ही शिव तत्त्व कहा जाता है। शिव तत्त्व परमशिव का प्रथम स्पन्द है।[30] इस तत्त्व में चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है। यह शुद्ध 'अहम्' के अनुभव की अवस्था है। परमशिव की आभासरूपता में दूसरा तत्त्व शक्ति तत्त्व है जो शिव का अभिन्न स्वरूप है। प्रकाशात्मा शिव का विमर्श स्वरूप ही शक्ति तत्त्व है। दोनों में अभिन्न एवं अविनाभाव सम्बन्ध है। वाह्योन्मुख परमशिव की उन्मुखतारूप क्रिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही शक्ति तत्त्व है।[31] शिव और शक्ति अभिन्न हैं। वास्तव में दोनों का भेद मात्र व्यावहारिक स्तर पर अथवा व्यवहार की दृष्टि से किया जाता है। शिव तत्त्व की अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्' होता है। शक्ति तत्त्व की अवस्था में यह अनुभव 'अहमस्मि' का रूप ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है। शिवाभास के क्रम में तीसरा तत्त्व सदाशिव है।[32] यह शिव के इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम् इदम्' होता है। 'अहम्' शिव का परिचायक है और 'इदम' विश्व का। इस अवस्था में 'इदम्' अंश अस्फुट रहता है और 'अहम्' अंश का प्रधान्य होने से वह 'इदम्' अंश को आच्छादित किये रहता है। शिव की इच्छा का बहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्त्व कहलाता है।[33] यह परमशिव के ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था है। इस स्तर पर अनुभव का प्रत्यय 'अहम्-इदम्' होता है। 'अहम्' होता है। यहाँ अहम् अंश गौण रहता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती हैं इस स्तर पर क्रिया शक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों की स्थिति मानी गई है, पर यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है। परमशिव के क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था शुद्ध विद्या तत्त्व है।[34] इस स्तर पर क्रिया-शक्ति की प्रधानता रहती है। यहाँ अनुभव का प्रत्यय 'अहम् इदमस्मि' रूप होता है। इसमें 'अहम् और 'इदम्' की बराबर की स्थिति रहती है।

काश्मीर शैव दर्शन में चेतना को वाक् शक्ति के रूप में भी माना गया है तथा सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया की व्याख्या वाक् शक्ति के प्रस्फुरण के रूप में भी की गइ है।[35] वाक् शक्ति की सृष्टि क्रम से चार स्तर हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। परा सृष्टि से परे की अवस्था है। यह वस्तुतः शिव-शक्ति रूप है जो शक्ति की दृष्टि से चित् एवं आनन्द का स्तर है।[36] यहाँ जगत् नहीं है। यहाँ केवल शिव-शक्ति तत्त्व है जिसमें जगत् रचना की इच्छा भी नहीं है। यह शुद्ध अहम् अथवा पूर्णाहम् या पूर्णाहन्ता की स्थिति है।[37] परावाक् शिव-शक्ति तत्त्व की परम अवस्था है।[38] जब परावाक् भूमि में अपने स्वातन्त्र्य से लीला के लिए जगत् रचना करने की इच्छा उठती है तो परावाक् भूमि में ही उत्पन्न इस नवीन वाक् भूमि को पश्यन्ती दशा कहते हैं। पश्यन्ती दशा में जगत् या इदम् केवल इच्छा रूप में रहता है। मध्यमा वाक् ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति का स्तर है। यहाँ जगत् पश्यन्ती की तुलना में अधिक स्पष्ट हो जाता है किन्तु अहम् में ही निहित रहता है। मध्यमा अवस्था में इदम् या जगत् चैतन्य में ही ज्ञान अथवा विमर्श रूप में रहता है किन्तु जब जगत् या इदम् बहिर्गत होकर वाह्याभास के रूप में स्थित हो जाता है तो यह वैखरी अवस्था है। वैखरी अवस्था क्रिया-शक्ति का स्तर है।[39] शब्दाभिव्यक्ति की दृष्टि से परावस्था का शब्द वह होगा जो वस्तुतः निःशब्द है अर्थात् जहाँ शब्दों का कोई रूप अभी प्रकटित नहीं हुआ है किन्तु जो सभी शब्दों के प्रकटन का स्रोत है। इस प्राथमिक शब्द को ॐ कहा गया है। हमारे भीतर शुद्ध चिति रूप में यह ॐ विद्यमान है। यह परावाक् है। जब हम शब्द प्रकटित करने के लिए बोलने की इच्छा करते हैं तो यह पश्यन्ती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक् है। इसके बाद बोले जाने वाले शब्द का पूर्ण रूप हमारे मन में स्पष्ट रूप से आ जाता है तो यह मध्यमा वाक् है। जब हम उसे मुख से उच्चरित करते हैं तो यह वैखरी वाक् है।

अनुभव की दृष्टि से चेतना की पाँच अवस्थायें काश्मीर शैव शास्त्र में वर्णित की गयी हैं। ये अवस्थायें हैं- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया और तुरीयातीत।[40] इनमें से दो अवस्थाएँ हैं। ये अवस्थाएँ चेतना की विश्वातीत, इन्द्रियातीत एवं निर्विकल्प अवस्था की द्योतक हैं। इनमें सूक्ष्मता एवं अतिसूक्ष्मता की दृष्टि से भेद किया जाता है, वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है। जाग्रत् अवस्था[41] संसारी जीव के इन्द्रियबोध की अवस्था है। इस अवस्था में प्रमाता विषय को अपने से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष करता है। इस अवस्था में ज्ञान विषयी-विषय रूप में होता है। प्रमाता इस अवस्था में तीन अन्तःकरण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों से निश्चय, अभिमान, संकल्प, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है।[42] इस अवस्था में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। स्वप्नावस्था[43] में प्रमाता के इन्द्रिय वर्ग का वाह्य प्रसार रुक जाता है तथा उसकी ज्ञान की सारी वृत्तियाँ केवल मानसिक संकल्पात्मक विकल्पात्मक रूप में केन्द्रीभूत हो जाती हैं। इस अवस्था में प्रमाता जाग्रत् अवस्था की ही तरह वाह्य पदार्थों का अनुभव करता है किन्तु केवल मानसिक विकल्पों के रूप में। इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता रहती है। गहरी नींद में पड़कर केवल चित्त के द्वारा ही विषयों को अनुभव करने की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में तमोगुण की इतनी अधिकता हो जाती है कि इन्द्रियों की शक्ति न ज्ञानरूप में और न ज्ञेय रूप में ही कुछ काम कर पाती है।[44] सुषुप्ति काल में विषयों की अनुभूति रहती तो अवश्य है परन्तु इस अवस्था से उठने के अनन्तर इसमें प्राप्त की हुई अनुभूतियों का स्पष्ट स्मरण न रहकर केवल धुंधला-सा स्मरण ही रहता है।

चेतना की इन प्रत्येक अवस्था में दूसरी अवस्था के अंश भी विद्यमान रह सकते हैं। इस प्रकार इन अवस्थाओं के पारस्परिक संयोजन और वियोजन के आधार पर अनेक अवस्थाओं का प्रादुर्भाव होता है। जाग्रत् अवस्था में जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का अंश तथा स्वप्न में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था हो सकती है तथा इसी प्रकार सुसुप्ति में जाग्रत, स्वप्न तथा सुसुप्ति की अवस्था रह सकती है। काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार इन सभी पाँचों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत) में वेदक अर्थात् अनुभव करने वाला प्रमाता एक ही होता है।[45] इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि यदि इनमें से प्रत्येक अवस्था का अनुभवकर्ता अलग-अलग होता तो एक अवस्था का अनुभव करने वाला प्रमाता दूसरी अवस्था से बिल्कुल अनभिज्ञ रहता जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान ही नहीं होता तो इन विभिन्न अवस्थाओं के अनुभव को बता पाना संभव न होता।[46] ये पाँचों अवस्थाएँ एक ही प्रमाता की स्वयं की अवस्थाएँ हैं।[47]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रमाता की पूर्णावस्था से अपूर्णावस्था की ओर अवरोहण-क्रम की दृटि से चेतना की सात अवस्थाओं का वर्णन काश्मीर शैव शास्त्र में मिलता है, जिसे सप्त प्रमाता कहा जाता है। इन अवस्थाओं को शुद्धाध्वा तथा अशुद्धध्वा के अनुसार दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रथम चार अवस्थाएँ शुद्धाध्वा अथवा शुद्ध वर्ग की हैं तथा शेष तीन अवस्थाएँ अशुद्धाध्वा अथवा अशुद्ध वर्ग की हैं। चेतना की अभिव्यक्ति की प्रथम अवस्था शिव प्रमाता की अवस्था है। तत्त्व की दृष्टि से यह शिव-शक्ति का स्तर है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'अहम्' होता है तथा शक्ति की दृष्टि से यह चिदानन्द की अवस्था है। अभिव्यक्ति की दूसरी अवस्था मन्त्र महेश्वर प्रमाता की अवस्थाहै। तत्त्व की दृष्टि से यह सदाशिव का स्तर है।[48] इस अवस्था में अनुभूति का रूप 'अहमिदम्' है तथा शक्ति की दृष्टि से यह इच्छा शक्ति की अवस्था है। अभिव्यक्ति की तीसरी अवस्था में शिव मन्त्रेश्वर प्रमाता से अभिहित होता है। तत्त्व की दृष्टि से यह ईश्वर की अवस्था है।[49] इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'इदमहम्' होता है तथा शक्ति की दृष्टि से यह ज्ञान शक्ति की अवस्था है। चौथी अवस्था में शिव मन्त्र प्रमाता या विद्या प्रमाता अथवा विद्येश्वर प्रमाता से अभिहित होता है। तत्त्व की दृष्टि से यह सद्विद्या का स्तर है।[50] इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'अहञ्चेदञ्च' है तथा शक्ति की दृष्टि से यह क्रिया शक्ति का स्तर है। अभिव्यक्ति की पाँचवीं अवस्थाम में शिव को विज्ञानाकल प्रमाता कहा जाता है। तत्त्व की दृष्टि से इस अवस्था में शिव पुरुष तत्त्व से अभिहित होता है। अभिव्यक्ति की छठीं अवस्था में शिव सकल प्रमाता से अभिहित होता है तथा सातवीं अवस्था में शिव को प्रलयाकल प्रमाता कहा जाता है। अभिव्यक्ति की छठीं और सातवीं अवस्था में भी शिव पुरुष तत्त्व से अभिहित होता है। ये तीन अवस्थाएँ, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल मलों के प्रभाव की अवस्थाएँ हैं तथा अशुद्धाध्वा की अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं में शिव की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। विज्ञानाकल अवस्था में शिव केवल आणवमल से युक्त होता है। सकलावस्था में तीनों मल (आणव, माया और कार्म) क्रियाशील होते हैं।[51] प्रलयाकल अवस्थामें तीनों मल सुषुप्त रहते हैं। आत्मा इस स्तर पर सुषुप्तावस्था में रहता है।

सन्दर्भ-

1. चैतन्यमात्मा, शिवसूत्र, प्रथम सूत्र.

2. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धेमहेश्वरे।

   अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।। ई0प्र0वि0, 1/1/2

3. एवमन्तर्वहिर्वृत्तिः क्रिया कालक्रमानुगा।

   मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी।। ई0प्र0वि0, 3/1/1

4. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिप्रः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्; स च स्वतः सिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेवरः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव एव तंत्रालोक, 1/56 टीका.

5. अस्मद्रूप समाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्तया तदात्मने।। शिवदृष्टि, 1/1

6. न सन्न चासत्सदसन्न च तन्नोभयोज्झितम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमिप्येतदनुत्तरम्।। तंत्रालोक, 2/28.

7. तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते। तंत्रालोक, 1/108.

8. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य। एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं, अभेदेनैव स्फुरति।। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सू0 3, टीका

9. तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते।
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः।। तंत्रालोक, 1/59.

10. संवित्तत्त्वं स्वप्रकाशम्............ । तंत्रलोक, 2/10.

11. 'शकनं शक्तिः' – सामर्थ्य विश्वनिर्माणादिकारि भैरवस्वरूपम्। वि0भै0, पृ0 13.

12. घटेन स्वात्मनि न चमत्क्रियते, स्वात्मा न परामृश्यते, न स्वात्मनि तेन प्रकाश्यते, न अपरिच्छिन्नतया भास्यते ततो न चेत्यत इत्युच्यते। ई0प्र0वि0, 1/5/13.

13. चैत्रेण तु स्वात्मनि अहमिति संरम्भोद्योगोल्लासविभूतियोगात् चमत्क्रियते.......नीलपीत सुख दुःखतच्छून्यताद्यसंख्यावभासयोगेन अवभास्यते, ततः चैत्रेण चेत्यत इत्युच्यते। ई0प्र0वि0, 1/5/13.

14. चैतन्यं चितिः चेतनं आत्मा इति राहोः शिर इतिवत् काल्पनिकम्, वस्तुत एकमेव सर्वम्। शि0सू0वि0, 1/1, टिप्पणी 21.

15. किञ्चिच्चलनमेतावदनन्य स्फुरणं हि यत्।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना।। तंत्रालोक, 4/184.

16. स्वात्मन्युच्छलनात्मकः। तंत्रालोक, 4/183.

17. चितिक्रिया प्रकाशविमर्शः, तस्य भावः चैतन्यं स्वतन्त्र्यम्। शि0सू0वि0, 1/1 टिप्पणी 21.

18. सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः। ई0प्र0वि0, 1/5/14.

19. हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वकः।
भावग्रहादिपर्यन्तभवी सामान्यसंज्ञकः।। स्पन्दः सकथ्यतेशास्त्रे, तंत्रालोक, 4/182-83.

20. स्वभावभवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।। ई0प्र0वि0, 1/5/11.

21. यदा स्वस्मिन हृदयप्रकाशस्वरूप एव आत्मनि तिष्ठति, तदा विमर्शः शुद्धो विमर्श एव इत्येवं व्यवह्रियते, यदा तु विकल्पोपश्लेषणलक्षणक्षोभमनुभवति;तदा विश्वविस्तारः प्रपंच स्फुरणवैचित्र्यात्मा विमर्श इति। म0म0प0री0/पृ0 34.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

22. सृजन्ती बहिर्विश्वमन्तश्च संवित् परादेवताहं परामर्शरूपा। र0प025.
23. विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं परीकरोति, उभयमुं, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवंस्वभावतः।।ई0प्र0वि0, 1/5/13.
24. इदमेव संविदः संवित्त्वं यत्- 'सर्वम् आमृशतीति'। तंत्रालोक विवेक, 4, पृ0 214.
25. सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। सा च पुष्पादिकमपि व्याप्नोति इति महती, देशकालौ नीलादिवत् सैव सृजति ताभ्यां विशेषणीया न भवति। ई0प0वि0, 1/5/14.
26. स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यम् परमात्मनः। ई0प्र0वि0, 1/5/13.
27. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निवृतचिद्वपुः।
अनिरुद्धंच्छाप्रसरः प्रसरदृक्-क्रियः शिवः।। शिवदृष्टि, 1/2.
28. अनन्यनिरपेक्षतेव परमार्थतः आनन्दः ऐश्वर्यम्, स्वातन्त्र्यम्, चैतन्यम्। ई0प्र0वि0, 1/5/14.
29. शिवदृष्टि, 1/2
30. यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।। षटत्रिंशत्तत्त्वसंदोह,1.
31. इच्छा सैव स्वच्छा संततसमवायिनी सती शक्तिः।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य।। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, 2.
32. स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य।
निवसन्स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह,3.
33. विश्वं पश्चात्पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जातः।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह,4
34. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह,4.
35. परात्रिंशिकाविवरण, पृ04.
36. चिन्मात्रमेव देवी च सा परा परमेश्वरी। तंत्रालोक, 6/180
37. निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम्।। ई0प्र0वि0, मंगलाचरण.
38. चितिः प्रत्यवर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। ई0प्र0वि0,1,पृ0203.
39. वैखरी नाम क्रिया
ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक्। इच्छा पुनः पश्यन्ती
सूक्ष्मा समरसता वृत्तिः।। महार्थमंजरी, 49, पृ0 105.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

40. जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम्।
इतिपञ्च पदान्याहुः तंत्रालोक, 10/228.

41. 'ज्ञानं जाग्रत्'। शिवसूत्र, 1/8.

42. बौद्धं गार्वं च सांकल्पं शाब्दं स्पार्शं च रूपजम्।
रसजं गन्धजं चान्यदैन्द्रियज्ञानमेव यत्।।
अत्र गृहीतृग्रहणग्राह्यरूपा चिदात्मनः।
स्फुरत्येव ज्ञानशक्तिर्जाग्रद्वृत्तिरिहैव सा।। शिवसूत्र वार्तिक, सू0 8.

43. स्वप्नो विकल्पाः। शि0सू0 1/9.
दृष्टिस्वभावस्य विभोरन्तर्नवनवोदयः।
विकल्पनां स्मृतः स्वप्नस्तद्वाह्यार्थनिरासतः।। शि0सू0वा0, सू0 9.

44. अविवेको मायासौषुप्तम्। शिव सूत्र 1/10.
ज्ञानज्ञेय स्वरूपायाः शक्तेरनुदयो यदा।
चिद्रूपस्थाविवेकः स्यादसावेवाविमर्शतः।।
सैव माया वृत्तिजालपोषकत्वात् प्रकीर्तिता।
अथस्मृतीस्वात्म संस्थे चिद्रूपे सा सुषुप्तता।। शि0सू0वा0, सू0 10.

45. इति पञ्चपदान्याहुरेकस्मिन् वेदके सति। तंत्रालोक, 10/229.

46. एकस्मिन् वेदके सतीति। अनेकस्मिन् वेदके अन्यस्य जाग्रदन्यस्य स्वप्न इत्यवस्थानामवस्थात्वं पञ्चात्मकत्वं च न स्यात्। तंत्रालोक विवेक, 10/228.

47. एकमेव ह्यवस्थातारमधिकृत्यासां तथाभावो भवेदिति भावः। तंत्रालोक विवेक, 10/228.

48. तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वंग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः
परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः। प्रत्यभिज्ञाहृदमु, सू0 3 टीका.

49. ईश्वर तत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं तथाविधएव ईश्वर भट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वर वर्गः। प्रत्यभिज्ञाहृदयमु, सू0 3की टीका.

50. विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्। प्रत्यभिज्ञाहृदयमु, सू0 3 की टीका.

51. मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मनः तादृगेव तदभेदसारं सकल प्रलयाकलात्मक पूर्वावस्थापरिचितमेषां प्रमेयम्। मायायां शून्य प्रमातृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्। क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवं विधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति। प्रत्यभिज्ञाहृदयमु, सू0 3 की टीका.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दी काव्य परम्परा में शिव

अवधेश प्रधान*

यद्यपि हिंदी प्रदेश का कोई भी गाँव ऐसा न होगा जहाँ शिवाला न हो और शिव की नगरी काशी शैवमत का ही नहीं, बल्कि हिंदी प्रदेश का भी प्रमुख केन्द्र है। इसके बावजूद हिंदी काव्य परंपरा में जितना प्रभाव राम और कृष्ण का है,उतना शिव का नहीं। भक्ति आंदोलन के दौर में वैष्णव भक्ति के समानांतर शैव भक्ति की जो धारा दक्षिण भारत के साहित्य में दिखाई देती है, (जिसके एक श्रेष्ठ प्रतिनिध कन्नड़ संत बसवेश्वर हैं), वह उत्तर भारत के भक्ति साहित्य में लुप्त प्राय है। हिन्दी काव्य परंपरा में शिव का जो थोड़ा-बहुत आख्यान सुलभ है, वह अधिकांशतः वैष्णव कवियों द्वारा रचा गया है। एक बात और याद रखने की है कि शिव के पौराणिक स्वरूप और आख्यान के समानांतर लौकिक स्वरूप और आख्यान की भी परंपरा लोक में चिरकाल से चलती आई है और लोकमानस में लोकसाहित्य के माध्यम से उसकी धारा अब भी प्रवहमान है। हिन्दी काव्य परंपरा में शिव के पौराणिक स्वरूप के साथ साथ इस लौकिक रूप की भी अभिव्यक्ति हुई है। इसका प्रमाण हमें सबसे पहले कवि विद्यापति की पदावली में मिलता है।

यह सबको विदित है कि विद्यापति ने मुख्य रूपसे राधाकृष्ण के श्रृंगार और प्रेम का गान किया, लेकिन जैसा कि कहा जाता है, वह शैव थे और जीवन के अंतिम पहर में जैसे करुणाविगलित स्वर में उन्होंने शिव से आत्मनिवेदन किया है। उससे लगता है कि उनकी शिवभक्ति औपचारिक नहीं, वरन् हृदय की गहराइयों में प्रतिष्ठित थी। उनके पदों में शिव के पौराणिक स्वरूप के साथ लौकिक स्वरूप की भी मार्मिक व्यंजना हुई है। वे शिव के अर्धनारीश्वर रूप की जय जयकार करते हैं, जिसका आधा भाग पुरुष, आधा भाग नारी है, जिसका आधा वक्ष स्थल सपाट, आधा वर्तुलाकार है, गले में एक तरफ हड्डियों की माला, दूसरी तरफ गजमुक्ता का हार है, आधे शरीर में चंदन चर्चित है तो आधे में भस्म रमी हुई है, आधा भाग चेतन है तो आधा जड़-अचेतन, आधा योगलीन है तो आधा भोगासक्त, आधा ढँका है तो आधा नग्न, आधे में रेशम की छटा है तो आधे में मूंज की डोरी, आधे मस्तक पर चंद्रमा है तो आधे में सिंदूर आधा विक्षोभकारी और विरूप है तो आधा भुवन मोहिनी शोभा से मंडित है (पदा0 231)। इसी प्रकार उन्होंने हरि-हर रूप का वर्णन किया है, जिसके आधे भाग में पीतांबर है तो आधे भाग में बाघंबर, कभी वह पंचानन रूप लेता है तो कभी चतुर्भुजरूप, वह कभी गोकुल में गाय चराता है तो कभी डमरू बजाकर भीख मांगता है (खन गोकुल भए चराइअ गाय, खन भिखि मांगए डमरू बजाय)। वह एक ही विग्रह है जो कभी

*रीडर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैकुंठ में निवास करता है तो कभी कैलाश में (पदा0 232)। रावण को वर देने वाले शिव की चर्चा करते हुए विद्यापति कहते हैं, शिव कितने भोले हैं कि उन्होंने ऊँच-नीच, गुण-अवगुण का कुछ भी विचार नहीं किया और रावण को "एक लाख पूत सवा लाख नाती" और "कोटि सौबरनक दान" से कृतार्थ किया (पदा0 248) ।यहाँ शिव के प्रलयंकर रूप के बजाय उनके वत्सल और दयालु रूप की महिमा का गान है- गुन अवगुन हर मन नहिं अनाथ, सेवक क हरथ कलेस, गे माई। इसी तरह शिव का योगी रूप है- विद्यापति के शब्दों में "अनहद रूप"। "जोगिया एक हम देखलों गे भाई। अनहद रूप कहलो नहिं जाई।" पाँच मुंह और तीन नेत्रों वाला, सिर पर गंगा और चंद्रमा को धारण करने वाला, बाघ की खाल पहने इस योगी में, भवानी ने पता नहीं, कौन सा गुण देखकर मन ही मन अपना वर मान लिया जबकि उसके माता-पिता, कुल-गोत्र का कुछ भी पता नहीं-कुल नहिं, सिलनहिं, तात महतारी(पदा0 238)।यही अड़भंगी योगी जब दूल्हा बनकर पार्वती को ब्याहने आता है तो पार्वती की माँ मैना (मनाइन) व्याकुल हो उठती हैं-यह बौड़म वर (उमतवर) तो घोड़े पर कौन कहे, बूढ़े बैल पर चढ़कर आया है, बैल की पीठ पर बघछाला बिछाकर उसे साँप की रस्सी से कस दिया है, डिमिक डिमिक डमरू बजाता हड्डियों की माला खटर खटर करता आ रहा है, मकर-मकर भाँग भकोस रहा है, जिससे उसके गाल छटर-पटर कर रहे हैं, मस्तक पर कहाँ तो चंदन का लेप लगाता, कहाँ तो भस्म रमाए हुए हैं; पहनने ओढ़ने की बात कौन कहे, वह तो पूरा दिगंबर है और उसके साथ भूत-पिशाचों का दल ही बराती बन कर आया है (पदा0233)।मैना, जो हो जाय, ऐसे वर से पार्वती का विवाह नहीं होने देंगी।माता का हृदय हाहाकार कर उठता है- अगर ऐसा बूढ़ा मेरा जमाई बना तो मैं इस घर-आँगन में नहीं रहूँगी- "हम नहिं आज रहब यहि आंगन, जो बुढ़ होएत जमाई गे माई।" पहला बैरी तो विधाता हुआ, दूसरा बैरी हुआ स्वयं बेटी का बाप, तीसरा वैरी वह "नारद बामन" हुआ जो हमारे घर में बूढ़ा जमाई लाया।सबसे पहले मैं डमरू तोड़ डालूँगी फिर रूद्र की माला।बैल को हांक कर बारात को भगा दूंगी और बेटी को लेकर भाग जाऊंगी। धोती, लोटा, पत्रा-पोथी सब छिनवा लूँगी और नारद बामन कुछ बोले तो उनकी दाढ़ी पकड़ कर घसीटवा दूँगी(पदा0235)। "नाहिं करब बर हर निरमोहिया" इस पद में मैना कहती है, शिव के तन पर वित्ता भर भी वस्त्र नहीं है, काँख में बघछाला दबाए रहते हैं, घर-मकान तो कुछ बनाया नहीं, बनबन डोलते फिरते हैं, मसान जगाते हैं- बनबन फिरशि मसान जगावयि घर आँगन ऊ बनौलनि कहिया। न सास-ससुर, न ननद-जेठानी, बेटी भला वहां जाकर किसके पास बैठेगी। संपत्ति के नाम पर एक गोल ढकपोल बूढ़ा बैल है और है भाँग की एक झोली(पदा0236)।एक पद में मैना कहती है कि मैंने इतना जप-तप क्या इसीलिए किया था कि मेरी बेटी ऐसे बौड़म से ब्याही जाय? ससुराल में वह बैल के लिए घास काट कर लाएगी, बैल चराएगी, घर में भाँग-धतूरा कूटेगी। बेचारी एक पल भी बैठ नहीं पाएगी, हमेशा हुजूरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में खड़ी रहेगी(पदा0242)। विवाह मंडप में शिव चौके पर बैठे, उन्होंने सिर पर मौर की जगह जटाएँ छिटका ली थी, पुरोहित बराबर वैवाहिक विधियाँ करने का अनुरोध करते रहे पर महादेव ने ऐसा हठ पकड़ लिया था कि कोई विधि करने को तैयार ही न हुए। किसी तरह विधि ा शुरू भी हुई तो उनके गले से सरक कर साँप गिर पड़ा(पदा0240)। विवाह मंडप का ऐसा ही एक और अड़भंगी रूप है-वह बावला जोगी जब ब्याहने आया, टपर टपर करता हुआ बसहा बैल था, खटर-खटर करती हुई गले में रुंडमाला, शिव भकर-भकर भाँग भकोस रहे थे और डमरू बजा रहे थे, उन्होंने ऐंयन मिटा दी, मंगल कलश फोड़ दिया, चौमुख दिया भला क्या जलता(पदा0244)। शिव पार्वती के गृहस्थी का भी अत्यंत लोक-सुखद, सहज और प्रसन्न चित्र विद्यापति ने अंकित किया है। एक पद में पार्वती चिंतित हैं कि मेरा बूढ़ा जोगी आज किधर निकल गया, उसके लिए पिसी हुई भाँग जस की तस रखी रह गई है(पदा0237)। एक पद में पार्वती शिव को समझाती हैं कि मैंने तुमसे बराबर कहा कि यह भीख मांगना छोड़ दो, इससे गुण-गौरव का नाश होता है। निर्धन कहकर सभी उपहास करते हैं, न कोई आदर करता है न अनुकंपा। देख लो, तुम्हें लोग धतूरे का फूल चढ़ाते हैं और विष्णु को चंपा का। तुम खट्वांग लिए घूमते हो इसे काट कर हल बना लो और त्रिशूल को तोड़ कर हल का फाल। बसहा बैल को लाकर हल में जोतो, गंगा की धारा से सिंचाई करो(पदा0238) इन पदों में अंकित शिव की छवि पर घरेलू और किसानी लोक मानस की गहरी छाप सुस्पष्ट है। शिव के अड़भंगी रूप में कवियों को, विशेषतः लोक कवियों को, हांस्य और अद्भुत रस का मसाला बराबर मिलता रहा है। विद्यापति के एक पद में जब पार्वती शिव से डमरू बजाबजा कर नटवेष में नृत्य करने की प्रार्थना करती हैं तो शिव अपनी समस्या इस प्रकार बयान करते हैं- नृत्य के आवेग में साँप सरक कर गिर पड़ेगा और धरती पर लोटने लगेगा, कार्तिकेय का पालतू मोर उसे तुरंत धर रखा था, कहीं चंद्रमा से अमृत चू पड़ा और कुछ बूदें बाघंबर पर गिर पड़ी और बाघंबर जिंदा बाघ बन गया तो बसहा बैल को फाड़ खाएगा(पदा0245)। भव चाहे हों निपट निहंग लेकिन हैं वे आढरदानी, अपने भक्तों का भंडार भरने में विलम्ब नहीं करते। पार्वती उनके इस फक्कड़ औढ़रदानीपन से बहुत परेशान हैं- मेरा जोगी जगत को सुखदेने वाला है और दुख तो वह किसी को नहीं देता। वह तो भाँग के नशे में भूला रहता है, लोग उसे धतूरा खिलाकर सारा धन ले लेते हैं। मेरे दो ही तो बेटे हैं- कार्तिकेय और गणेश, उनके तन पर रत्तीभर भी सोना नहीं है, कोई ठिकाने का गहना तो दूर की बात। दूसरों के पुत्रों को सोने-चाँदी के गहनों से लाद देते हैं, स्वयं रुद्राक्ष की माला धारण करते हैं। छन भर में कोटि धन देते हैं, लेकिन अपने बेटों के लिए तो उनसे कुछ भी नहीं जुड़ता(पदा0246)। "सबके ओढ़ावे भोला साल दुसलवा, आप ओढ़य मृगछलवा" जैसी पंक्तिया तो लोकसाहित्य में ऐसी घुल मिल गई हैं कि पता ही नहीं चलता कि इनकी रचना विद्यापति ने की है या किसी और ने।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ पदों में विद्यापति ने अपनी अन्तर्व्यथा शक्तिभक्ति स्वरों में सीधे शिव के सामने रखी है। शिव हो उतरब पार कवन विधि। न जप किया न तप, न दान; तीन पन बीत गए भोग-विलास में इसलिए चौथेपन में कवि सबकी आशा छोड़कर महेश्वर की शरण में जाता है- निरधन जानि के हरहु क्लेश। हे शिव, मेरे ऊपर अपनी ममता कभी न छोड़ना। हम परम पतित अधम नर हैं। मेरे समान पतित संसार में कोई नहीं है, न तुम्हारे समान अधमों का अधारक कोई दूसरा है(पदा0 241)। एक पद में विद्यापति का भक्त हृदय अपने भोलानाथ के सामने बिल्कुल द्रवित हो उठा है- कवन हरब दुःख मोर हे भोलानाथ दुख में ही जन्म हुआ, दुख में ही सारा जीवन बीत गया, सुख स्वप्न में भी नहीं हुआ- दुखहिं जनम मेल, दुखहि गमाएब सुख सपनेहु नहिं मेल (पदा0 243)।

निर्गुण भक्तों ने भगवान् के सगुण-साकार रूप की उपेक्षा ही नहीं, कभी कभी तो अवमानना भी की थी, जिसका कुछ आभास नामदेव की इस पंक्ति से हो सकता है- "पाँड़े, तुम्हारा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था!

पांड़े, तुम्हारा रामचंद्र सो भी आवत देखा था।

रावन सेंती सरवर होई, घर की जोन गंवाई थी! (इति0 पृ071)

फिर भी योगी शिव का 'अनहद रूप' एक हद तक निर्गुनिया साधकों के मन के मेल में था शायद इसी लिए रैदास की बानी में यह पद देखकर प्रीतिकर आश्चर्य होता है-

गोविन्दे, तुम्हारे से समाधि लागी।
उर भुजंग, भस्म अंग, संतत बैरागी।
जाके तीन नैन अमृत बैन सीस जटाधारी।
कोटि कलप ध्यान अलप मदन अंतकारी।।
जाके लील बरन अकल ब्रह्म गले रूंडमाला।
प्रेम मगन फिरत नगन संग सखा बाला।।
अस महेश निकट भेस अजहूँ दूरस आसा।
कैसे राम मिलौं तोहि गावै रैदासा।। (रैदास की बानी/63

सहज समाधि के अभ्यासी निर्गुनिया साधकों को समाधि लीन शिव से प्रेरणा मिलती हो, यह स्वाभाविक है, फिर भी निर्गुण काव्यधारा में रैदास का यह पद एक अपवाद ही है और अपवाद नियमों का स्थापन्न कभी नहीं हो सकता।

निर्गुण धारा के प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने अपना संदेश कहने के लिए हिंदू घरों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

लोकप्रिय प्रेम कहानियों का सहारा लिया था। इन प्रेम कहानियों में शिव पार्वती का प्रसंग प्रायः कथानक रुढ़ि (Motif) के रूप में आता है। लोक कथाओं में जब भी नायक और नायिका में से कोई संकटग्रस्त होता है, उनकी सहायता के लिए अचानक शिवपार्वती प्रकट होते हैं। जायसी के 'पदमावत' में पार्वती-महेश की भूमिका रत्नसेन को पद्मिनी से मिलाने वाले समर्थ सहायक की है। पद्मिनी के विरह में व्याकुल रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए पार्वती अप्सरा का रूप धरकर रत्नसेन के पास जाती हैं और कहती हैं-मुझे इंद्र ने भेजा है, पद्मिनी को भूल जाओ और अब इस अप्सरा के साथ सुख भोगो (तब हौं तो पह इंद्र पठाई) गई पद्मिनी, तैं अछरी पाई। रत्नसेन ने कहा भले अप्सरा का रूपरंग लेकर आई हो पर मुझे पद्मिनी के अलावा किसी और से बात करना भी पसंद नहीं है। (भलेहिं रंग अछरी तोर हाता। मोहिं दूसरे सौं भाव न बाता।) पार्वती शिव से रत्नसेन की अनन्य प्रेमनिष्ठा के बारे में बताती हैं। शिव कोढ़ी का रूप धरकर बैल पर चढ़े हुए रत्नसेन के पास पहुंचते हैं और उसकी अन्तर्व्यथा के बारे में पूछते हैं। रत्नसेन देखता है कि इस कोढ़ी के घाव पर मक्खियाँ नहीं बैठती, इसकी पलकें नहीं गिरतीं, निश्चय ही यह कोई सिद्धपुरुष है, फिर उन्हें महादेव के रूप में पहचान कर उनके पैर पर गिर पड़ता है। शिव प्रसन्न होकर उसे सिद्धि गुटिका देते हैं और सिंहलगढ़ में घुसने का रास्ता बतलाते हैं। शिव एक बार और उसकी सहायता करते हैं जब उसे सूली देने की तैयारी हो रही है। शिव और पार्वती भाँट और भाँटिनी का रूप धरकर पहुंचते हैं। भाँट पद्मिनी के पिता राजा गंधर्वसेन को समझाने का प्रयास करता है कि यह कोई साधारण योगी नहीं, वरन् राजा रत्नसेन है और पद्मिनी के योग्य वर है। गंधर्वसेन नहीं मानता; अंत में जब उसकी सेना से रत्नसेन के साथी जोगियों का घमासान युद्ध होने लगता है तब हनुमान आदि देवताओं के साथ महादेव भी उसकी सहायता में डट जाते हैं। गंधर्वसेन ने देखा कि युद्ध में शिव का घंटा और विष्णु का शंख बज रहा है, आगे आगे हनुमान लंगूर उठाए चल रहे हैं, बलि, बासुकि, इंद्र, राहु, सूर्य, चंद्र-सब रत्नसेन की सहायता में लगे हैं और महादेव तो सीधे रणभूमि में खड़े हैं-जहवाँ महादेव स खड़ा। शीश नाइ नृप पाँयन्ह परा।" गंधर्वसेन ने कहा- हे प्रभु, आप स्वामी हैं, मैं आपका सेवक, क्रोध मत कीजिए कन्या आपकी है, चाहे जिसे दीजिए- जेहि चाहिय तेहि दीजिए, बारि गोसाईं करें।

विद्यापति ने शिव चरित्र के जिस पौराणिक और लौकिक रूप का आख्यान अपने पदों में किया था और शिवभक्ति का भी जो यत्किंचित् स्वर संज्ञान किया था उसका पूर्ण उत्कर्ष तुलसीदास की वाणी में हुआ। "वैष्णवानां यथा शंभुः"- यह सूत्र जैसा तुलसी दास की भक्ति में चरितार्थ हुआ है वैसा उत्तर भारत में और कहीं नहीं। रामचरितमानस के आदि रचयिता शिव हैं, उन्होंने लंबे काल तक स्वरचित रामचरित को अपने मानस में ही रखा और समय पाकर उसे पार्वती को सुनाया (रचित महेश निज मानस राखा, पाइ सुरामउ सिव सन भाखा)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसीलिए उसका नाम रामचरितमानस है। तुलसीदास ने कवि के रूप में जो उसका आख्यान किया, उसके पीछे शंभु की कृपा है– शंभु प्रसाद सुमति हियतुलसी, रामचरितमानस कवि तुलसी। रामचरित के प्रथम कवि शिव, उनकी कृपा से उसके अवधी संस्करण के रचयिता हुए तुलसीदास; और इस तुलसीकृत मानस में जो रामचरित के चार वक्ता-श्रोता हैं उनमें प्रथम वक्ता-श्रोता हैं शिव और पार्वती। दूसरे वक्ता याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को रामचरित सुनाने से पहले शिवचरित सुनाया– "प्रथमहिं कहिं मैं सिवचरित, बूझा मरम तुम्हार सुचि सेवक तुम्हराम के रहित समस्त बिकार।"(बाल0104) अर्थात् शिव-भक्ति रामभक्ति की कसौटी है। "सिवपद कमल जिन्हहिं रति नाहीं, रामहिं ते सपनेहु न सोहाहीं। बिनु छल विस्वनाथ पद नेहू, रामभगत कर लच्छन एहू" (103.5 बाल0)। सिव सम को रघुपति व्रतधारी, बिनु अघ तजी सती अस न्यारी-राम के ब्रह्मत्व की परीक्षा लेने के लिए सती ने सीता का वेष धारण कर लिया था, इसी कारण शिव ने उनका परित्याग कर दिया था। जैसे जैसे वैष्णव मत का प्रभाव बढ़ा वैसे वैसे शिव का वैष्णवीकरण हुआ, शिव विष्णु भक्त होते गए, राम भक्त होते गए। तुलसीदास ने इस प्रक्रिया को अन्योन्य संबंध पर घटाकर बिलकुल सुसंगत रूप दे दियाः शिव पक्के रामभक्त हैं तो राम भी पक्के शिवभक्त । एक ओर "सिव सम को रघुपति व्रतधारी" तो दूसरी ओर को सिव सम रामहि प्रिय भाई"। शिव की भक्ति के बिना कोई राम की भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता– यह स्वयं राम का मत है, वह भी साधारण मत नहीं, असाधारण 'गुप्त मत'–

अवरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।। (उत्तर045)

सेतु बांध से पहले राम ने समुद्र के किनारे *शिवलिङ्ग* की स्थापना और विधिवत् पूजा की और कहा– "सिव समान मोहि प्रिय न दूजा। सिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुं मोहिं न पावा।" (लंका0 1.7-8)। किष्किंधा कांड में उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि शंकर का द्रोही कभी सुख नहीं पाता-चातक रटत तृषाअति ओही, जिमि सुख पाव न संकर द्रोही (1.5)। शिव भक्ति और रामभक्ति के अन्योन्य संबंध की घोषणा करते हुए स्वयं राम कहते हैं–

संकरप्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नरकहिं कलप भरि घोर नरक महुं बास (लंका02)

उत्तरकांड में काकभुसुंडि ने गरुड़ को जो अपबीती सुनाइ थी उसके अनुसार वे पूर्वजन्म में जितने घनघोर शिवभक्त थे, उतने ही कट्टर रामद्रोही। गुरु के बार बार समझाने पर भी वे अपने कट्टरपन पर डटे रहे। अंत में उन्हें शिव का घोर शाप झेलना पड़ा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव के विवाह की कथा को लेकर मानस से पहले तुलसीदास ने 'पार्वती मंगल' की रचना की थी। दोनों में शिव के अटपटे वेष, उनकी अटपटी बारात, मैना की व्याकुलता आदि के चित्र हैं; उनमें तुलसीदास ने शिव के पौराणिक और लौकिक स्वरूपों का सुसंतुलित समन्वय किया है और कहीं कहीं तो कुमारसंभव' की भी छाया ले ली है, लेकिन शिव-पार्वती के दाम्पत्य श्रृंगार को उन्होंने बिल्कुल बचा दिया है और इसका कारण बताते हुए कहा है- जगत मातु-पितु संभु भवानी, तें सिंगार न कहेउ बखानी। जगत मातु-पितु' में कालिदास के 'जगतः पितरौ' की याद दिलाते हुए मानों उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मेरा रास्ता कालिदास से अलग है। शैव होते हुए भी विद्यापति सुरत क्रीड़ा के चटकीले चित्र अंकित करते समय नायिका के पयोधर की उपमा 'कनक संभु' से दे सकते हैं; तुलसी दास के लिए इस तरह की कल्पना भी असंभव है। राम की तरह शिव के भी उदात्तचरित्र की मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रखते हैं। विनय पत्रिका में राम से भी पहले उन्होंने शिव की वंदना की है जिसमें शिव के दीनदयालु, कालकूटपायी और त्रिपुर हंता पौराणिक रूप के साथ साथ उनके औढरदानी रूप की प्रशंसा बिल्कुल लोक स्तर पर व्यंग-विनोद की शैली में की है। ब्रह्मा पार्वती से शिव की शिकायत करते हुए कहते हैं कि आपके पति बड़े बावले हैं, बस देते ही रहते हैं, जरा अपने घर की बरबादी तो देखिए। मैंने जिनके भाग्य में कभी सुख नहीं लिखा था, उनके लिए भी शिव जी के कारण स्वर्ग की व्यवस्था करते करते मैं आजिज आ गया हूँ। सृष्टिविधाता का यह अधिकार तो अब किसी और को सौंपिए, इससे अच्छा तो भीख माँगना है (विनय0 5)। 'मानस' में रुद्राष्टक जैसे स्तोत्र में शिव पौराणिक देवता ही न रहकर परम तत्त्व परमात्मा का रूप जाते हैं- "नमामीश मीशान निर्वाण रूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं। निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदा काशमाकाशवासं भजेऽहं' आदि मानस के आरंभिक श्लोक में भवानी-शंकर श्रद्धा-विश्वास स्वरूप हैं, जिनके बिना सिद्ध अपने अंतः करण में स्थित ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकते। विनयपत्रिका के आरंभिक 12 पदों में तुलसी दास ने शिव का विभिन्न रूपों में अनुध्यान किया है- कहीं वे कर्पूरगौरं, भुजगेन्द्रहार, त्रिनेत्र, डमरूत्रिशूलधारी वृषभवाहन उमापति हैं, कहीं विषपायी, श्मशाननिवासी, मुंडमाली हैं जिनका घर कैलास में है लेकिन आसीन काशी में रहते हैं- भवन कैलास, आसीन काशी। इसी के साथ 'रुद्राष्टक' वाला ब्रह्मरूप भी है- अकल, निरुपाधि, निर्गुण, निरंजन, ब्रह्म कर्मपथमेकमज निर्विकारं। कहीं कहीं शिव के साकार और निराकार रूप को मिला भी दिया गया है-नौमि करुणाकरं गंगाधरं, निर्मलं, निर्गुणं, निर्विकारं। शिव की नगरी काशी तुलसीदास को अत्यंत प्रिय थी, उन्होंने स्वयं अपना जीवन लंबे समयतक काशी में बिताया, उन्होंने काशी की वंदना बड़े भक्तिभाव से की है। काशी की पौराणिक महिमा एक ओर और तुलसी के समय की काशी का सामाजिक यथार्थ दूसरी ओर। काशी के असामाजिक तत्वों ने जब उन्हें सताना शुरू किया तो उन्होंने शिव से प्रार्थना की-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बासर दासनि के ढका रजनी चहुंदिसि चोर।

संकर निजपुर राखिए चितै सुलोचन कोर।।

ये उपद्रवी दिन में धक्का देते हैं, रात को चोरी करते हैं, हे शंकर! कृपादृष्टि फेरकर अपने नगर में मेरी रक्षा कीजिए। विनय पत्रिका में उन्होंने इस दुःख और संताप के प्रति शिव का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है– वामदेव! मैं आपके गाँव में इतने दिन से रह रहा हूँ। मैंने कभी कोई निहोरा नहीं किया लेकिन आपके ही गणों (किंकरों) ने मुझे मजबूर कर दिया, उन्हें बरजिए ताकि वे अपनी कठोर करतूत से बाज आएं– "गाँव बसत बामदेव, मैं कबहूँ न निहोरे। अधिभौतिक बाधा भई, ते किंकर तोरे। बेगि बोलि, बलि, बरजिए करतूति कठोरे। अंतिम दिनों में जब रुग्ण हो गए तो उन्होंने शिव से नीरोग होने की प्रार्थना की, यह प्रार्थना 'कवितावली' के अनेक छंदों में दर्ज है, इन छंदों में तुलसीदास की पीड़ा– व्याकुल पुकार अत्यंत मर्मस्पर्शी है।" जीवे की न लालसा, दयालु महादेव मोहि, मालूम है तोहि मरिबेइ को रहतु हैं। विनयपत्रिका और कवितावली के संकेतों से स्पष्ट है कि तुलसीदास को सताने वाले शिव के ही 'किंकर' थे। संभव है, काशी के तत्कालीन कट्टर शैवों को तुलसीदास की उदार समन्वयवादी विचार धारा से खतरा महसूस हुआ हो और उन्होंने उन्हें तरह तरह से परेशान किया हो। तब भी तुलसीदास के मन में शिव के प्रति, शिव की नगरी के प्रति भक्ति जैसी की तैसी बनी रही। जब वाराणसी में रुद्र की बीसी आई और महामारी में पूरा शहर बेहाल हो उठा तो तुलसीदास काँप उठे– विश्वनाथ की पुरी में यह कलिकाल की कैसी दुहाई फिर रही है। यहां के पुरुष शिव रूप, यहां की स्त्रियाँ पार्वती रूप हैं, फिर भी यह शहर बेहाल क्यों है? (कवितावली उत्तर कांड 169,170)। एक जगह इस महामारी का भयंकर चित्र अंकित करते हुए तुलसीदास कहते हैं–शिव का शहर एक तालाब की तरह है जिसमें यहाँ के रहने वाले स्त्री पुरुष जल जंतुओं जैसे हैं, जैसे मछलियों में माजा बीमारी आती है वैसे ही यह महामारी आई है, लोग मछलियों की तरह उठलते हैं, उतराते हैं, फिर तड़पते हुए मर जाते हैं, जलथल सर्वत्र मृत्यु ही मृत्यु के दृष्य हैं। (176, उत्तर, कवि0)। शिव की नगरी के प्रति उनके मन में अंत तक श्रद्धा और प्रीति बनी रही और यह अकारण नहीं है कि उन्होंने यहीं रहते हुए अपने शरीर का त्याग किया।

भक्ति आंदोलन के बाद समूचे रीतिकाल में राधाकृष्ण के श्रृंगार की धारा बहती रही जिसमें पद्माकर जैसे दो–चार कवियों के दो चार छंद मिल सकते हैं जिनमें शिव के अटपटे वेष और उनकी अटपटी गृहस्थी को लेकर विनोद और भक्ति के मिश्रित चित्र अंकित हैं। तुलसीदास ने शिव चरित और शिवभक्ति को जो उदात्त रूप दिया था उसका विकास इन दो चार फुटकर छंदों की परंपरायुक्त वाणी द्वारा संभव नहीं था। आधुनिक काल में शिव के पौराणिक चरित को परंपरा सिद्ध पद्धति पर 'रत्नाकर' जी ने 'गंगावतरण' काव्य में छंदोंबद्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया जिसमें आकाश से उतरती हुई वेगमती गंगा की धारा को अपनी जटाओं में संभालने को उद्यत शिव का अत्यंत ओजस्वी और प्रभावशाली चित्र अंकित है। शिव की छवि को आधुनिक अर्थों की आभा से छायावादी कवियों ने- विशेषतः प्रसाद ने मंडित किया। प्रसाद ने शिव के पौराणिक रूप के बजाय कश्मीरी शैवागम की दार्शनिक भूमिका में अधिष्ठित तात्विक रूप को लिया और जगत् को असत्य न मानकर अमूर्त परम शिव का ही मूर्त्त मंगलमय विग्रह माना-

अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपुमंगल यह सत्य सतत चिर सुंदर।।

(कामायनी, आनंदसर्ग)

उन्होंने जीवन में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सामंजस्य की संकल्पना के आधार पर 'त्रिपुर' की बिलकुल नई धारणा प्रस्तुत की और महाकालेश्वर के महानृत्य का भी ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जिसमें पौराणिक शिव से संबंधित केवल कुछ शब्दों के संकेत लिये गए हैं लेकिन उनसे व्यंजित भाव मूर्ति सर्वथा नई है -

जैस- वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन!
आलोक पुरुष! मंगल चेतन!
केवल प्रकाश का था कलोल
मधु किरनों की थी लहर लोल
x x x x
बन गया तमस या अलक जाल
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित
थी शून्य भेदिनी सत्ता चित्
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित
स्वर लय होकर दे रहे ताल
थे लुप्त हो रहे दिशा-काल।
x x x x
लीला का स्पंदित आह्लाद
वह प्रभापुंज चितिमय प्रसाद!

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आनंदपूर्ण तांडव सुंदर
झरते थे उज्ज्वल श्रमसीकर
बनते तारा, हिमकर, दिनकर
उड़ रहे धूलिकण से भूधर
संहार सृजन से युगल पाद-
गतिशील, अनाहत हुआ नाद!

यह शिव की अत्यंत ओजस्वी मूर्ति छायावादी काव्य संवेदना और सृजनात्मक कल्पना को छोड़कर केवल पौराणिक अवधारणा के सहारे रचना संभव नहीं। छायावादी कवि लौकिक प्रकृति में अलौकिक सत्ता का आभास पाया करता है, यह बात प्रसिद्ध है। कामायनी में एक जगह हिमालय के बर्फीले शिखर शिव के मस्तक पर सुशोभित चंद्र का आभास देते हैं और हिमालय के चरणप्रांत में स्थित मानसरोवर की लहरें नृत्य निरत 'गौरी' का। इसी प्रकार 'राम की शक्तिपूजा' में निराला रात के आकाश में शिव का आभास देते हैं- अंबर में हुए दिगंबर अर्चित शशि-शेखर। पतझर की रूखी डाल बसंत में हरियाली की साड़ी पहन लेगी, जैसे तपस्यानिरत अपर्णा शिव को वर रूप में पाने के बाद उल्लसित हो गयी थी- रूखी यह डाल, वसन वासंती लेगी। देख, खड़ी करती तप अपलक, हीरक सी समीर-माला जप शैल-सुता अपर्ण-अशना, पल्लव-वसना बनेगी- वसन वासंती लेगी।" वसंत की इस हरियाली का सुख सारे संसार को वैसे ही मिलेगा जैसे शिव का वरदान – गरलामृत शिव आशुतोष-बल विश्व सकल नेगी-वसन वासंती लेगी। शिवका दिगंबर रूप निराला के लिए हास्य का आलंबन नहीं है, उसमें उन्हें विराट का बोध होता है-तू दिगंबर, विश्व है घर, ज्ञान तेरा सहज वर कर। (अर्चना, 88) जीवन के अंतिम दिनों में जब वे भक्ति और शरणागति के गीत रच रहे थे, उन्होंने शिव के तांडव का ओजस्वी चित्र अंकित किया-

"डमड डमड डिम डमरू निनाद है, तांडव नचे शिव, प्रवाद उन्माद है।"

छायावाद के बाद आधुनिक जीवन में तीव्र परिवर्तन के कारण संवेदना के धरातल पर भी अनेक परिवर्तन हो गए जिससे कविता में पैराणिक मिथकीय कल्पनाओं चरित्रों और चित्रों को पारंपरिक ढंग से बरतने की संभावना क्रमशः छीजती गई। इसी लिए एक ओर पौराणिक चरित्रों और आख्यानों पर आधारित पुराने ढंग के काव्यों की रचना समाप्तप्राय हो गई दूसरी ओर आधुनिक जीवन दर्शन को कहीं कहीं प्रभावशाली रूप देने के लिए पौराणिक चरित्रों और आख्यानों की कलात्मक उपयोगिता की खोज होने लगी। इस दृष्टि से उत्तरवर्ती कविता में जहां तहां शिव के गरलपान, ताण्डव नृत्य आदि अर्थ संदर्भो को सांकेतिक और कलात्मक उपयोग दिखाई देता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

संस्कृत वाङ्मय में शिवलिङ्ग का मूर्तन

शैलजा पाण्डेय*

त्वं *लिङ्ग*रूपी तु महाप्रभावो वेदान्त वेद्यो ऽसि महात्मरूपी।
येनैव सर्वे जगदात्ममूलं कृतं सदानन्दपरेण नित्यम्।।

–स्कन्दपुराण, माहेश्वर, केदार0, 7/2

शिव लिंग का पूजन अत्यन्त प्राचीन काल से शिव-मूर्ति के सदृश ही प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद में शिश्न देव[1] का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ देव-विग्रह की प्रतीति नहीं होती। वहाँ शिश्न देव शब्द का तात्पर्य असंयत कामीजनों से सम्बद्ध है।[2] श्वेताश्वेतर उपनिषद् में योनिस्थ देवता को ईशान कहा गया है।[3] *शिवलिङ्ग* की स्पष्ट परिकल्पना पुराणों से स्फुटित एवं विकसित हुई है। कल्पान्त होने पर ब्रह्म एवं विष्णु के मध्य सृष्टिकर्तृत्व के विषय में विवाद उत्पन्न हुआ। विवाद के समय उनके सम्मुख अग्निमय स्तम्भ के सदृश *शिवलिङ्ग* प्रकट हुआ। उस अग्नि *लिङ्ग* से त्रिनेत्र, त्रिशूलहस्त, सहस्रपात् एवं सहस्रहस्त शिव का प्राकट्य हुआ।[4] स्कन्द पुराण के अनुसार *शिवलिङ्ग* का ओर-छोर अज्ञात था एवं उसने तीनों लोकों को व्याप्त कर रखा था।[5] *शिवलिङ्ग* की व्याख्या करते हुये इसे उद्भव, स्थिति एवं विलय का कारण कहा गया है।[6]

शिव पुराण में *लिङ्ग* के दो स्वरूपों –सूक्ष्म एवं स्थूल *का वर्णन प्राप्त होता है। सूक्ष्म लिंग ओंकार है एवं स्थूल लिङ्ग* ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड की आकृति *लिङ्गाकार* अथवा अण्डाकार कही गई है।[7] *लिङ्ग* पुराण के अनुसार आकाश *लिङ्ग* एवं पृथिवी भग संज्ञिका पीठिका है।[8] इस प्रकार *शिवलिङ्ग* सृष्टि के कारण स्वरूप प्रकृति एवं पुरुष की, अर्धनारीश्वर एवं भवानी सहित भव की मूर्ति है।[9]

संस्कृत साहित्य में *शिवलिङ्ग* के विविध रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। कालिदास ने शिवमूर्तियों के रूप में आठ *शिवलिङ्गों* का वर्णन किया है– अग्नि, वायु, आप, आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र एवं यज्ञ कर्ता।[10]

लोक में प्राप्त *शिवलिङ्ग* दो प्रकार –स्वयम्भू एवं मनुष्यकृत– के परिलक्षित होते हैं। *स्वयम्भूलिंगो को वाणलिंग भी कहा जाता है। बाणलिङ्गों* की उत्पत्ति के स्थान गंगा, सरस्वती, नर्मदा नदियाँ, वाराणसी, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, केदार एवं प्रभास क्षेत्र कहे गये हैं।[11] रेवा नदी एवं नर्मदा नदी से उत्पन्न लिंगों को 'नर्मदेश्वर' कहा जाता है।[12] राजधर्म कौस्तुभ के अनुसार

*गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, उ.प्र.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नर्मदा के साथ देविका, गंगा एवं मयुना नदी से भी *बाणलिङ्ग* प्राप्त होते है।[13] *बाणलिङ्ग* के अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं। शंखाभमस्तक *लिङ्ग* वैष्णव, पद्माभमस्तक *लिङ्ग* ब्राह्म, चक्राभमस्तक शाक्र, शिरोयुग्म युक्त आग्नेय, त्रिपद याम्य, खड्गाम निर्ऋति *लिङ्ग*, कलसाकृति युक्त वारुण, ध्वज के सदृश वायव्य, गदा के सदृश कौबेर, त्रिशूलाभ ईशान, अस्त्रशूलांकित *लिङ्ग* रौद्र *लिङ्ग* के रूप में पहचाने जाते हैं।[14] मय के अनुसार इन लिंगों का शोधन नहीं किया जाना चाहिये।[15] मनुष्यकृत *शिवलिङ्गों* का विस्तार से वर्णन पुराणों एवं शिल्प ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इनमें कुछ *शिवलिङ्ग* पूजा के उद्देश्य से निर्मित किये जाते हैं एवं पूजनोपरान्त उनका विसर्जन कर दिया जाता है। इनमें लवण, घृत, वस्त्र एवं कच्ची मिट्टी से निर्मित *शिवलिङ्गों* की गणना की गई है। स्थायी *शिवलिङ्गों* में पक्की मिट्टी से निर्मित, काष्ठ निर्मित, प्रस्तरमय, मुक्तामय, लौह-निर्मित, सुवर्णमय, रजत-कल्पित, ताम्रमय, पीतल-निर्मित, रंग तथा रसमय (पारद आदि से निर्मित) *लिङ्ग* आते हैं।[16] पद्म पुराण[17] में सुवर्ण, रजत, लता सूत्र, काष्ठ, वस्त्र एवं मृदा निर्मित *शिवलिङ्गों* की तथा मत्स्य पुराण[18] में रत्नज, स्फाटिक, पार्थिव एवं काष्ठ-लिंगों की चर्चा की गई है। मेरुतन्त्र[19] में 50 से अधिक *शिवलिङ्गों* के प्रकार उल्लिखित हैं।

शिवलिङ्गों का प्रकल्पन एवं प्रकार-

दानवों के स्थपति मय ने "मयमत" में लिंगों के भेद का विस्तार से वर्णन किया है। मय के अनुसार *शिवलिङ्ग* के प्रमुखतः तीन भेद हैं- सकल, निष्कल एवं मिश्र। मिश्र *शिवलिङ्ग* सकल एवं निष्कल शिव-लिंगों का मिश्रित रूप है तथा मुख-*लिङ्ग* इसी के अन्तर्गत आता है।[20] इन तीनों के भी मानभेद से ज्येष्ठादि अनेक भेद बनते हैं। निर्माण शैली की दृष्टि से *शिवलिङ्गों* के नागर, द्राविड एवं बेसर[21] भेद होते हैं, जिनका वर्णन मय ने विस्तार से किया है।

धारा-लिङ्ग-

सामान्तया *लिङ्ग*-रचना वृत्ताकार होती है। किन्तु जब सामान्य शिव-*लिङ्ग* में सहस्र-संख्या में छोटे-छोटे *शिवलिङ्ग* निर्मित होते हैं, तब उसकी संज्ञा धारा-*लिङ्ग* हो जाती है। ये लघुलिंग रेखा के सदृश निर्मित होते हैं।[22] रुद्राभिषेक के समय *लिङ्ग* पर गिरने वाली जलधारा विभिन्न धाराओं में विभक्त होकर बहती है। इसे साहस्र *लिङ्ग* भी कहते हैं।[23] यह फलकाकार, दो कोणों वाला, तीन कोणों वाला, पाँच-छः-सात-नौ-ग्यारह या बारह कोणों वाला बनता है।[24] इसका शिरोभाग शूल के अग्र भाग के सदृश, श्रृंग के सदृश या अन्य प्रकार का भी हो सकता है।[25]

धारा-लिंगों की चर्चा विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होती है। गोपी नाथ राव महोदय ने प्रस्तरनिर्मित 108 *शिवलिङ्गों*, साहस्र *लिङ्ग* एवं विभिन्न प्रकार के धारा-लिंगों का विस्तृत वर्णन किया है।[26]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक धारा *लिङ्ग* का ऐतिहासिक साक्ष्य डॉ0 ओ0पी0एल0 श्रीवास्तव ने भी प्रस्तुत किया है।[27] यह ललितपुर, उत्तर प्रदेश के चाँदपुर स्थान में प्राप्त होता है। यहाँ सहस्रलिंग (हजारिया महादेव) मन्दिर है। इसमें एक ओर गणेश का अंकन किया गया है। *लिङ्ग* के दूसरी ओर पार्वती उत्कीर्ण हैं। पार्वती के दूसरे पार्श्व में कार्तिकेय उत्कीर्ण हैं एवं उनके विपरीत सूर्य अंकित हैं। इस मंदिर के प्रवेश-द्वार पर ऊपर ताण्डव-नृत्य करते शिव अंकित हैं। द्वार के एक ओर ब्रह्म एवं दूसरी ओर शिव का अंकन प्राप्त होता है। इसके सामने चार स्तम्भों वाले छत के नीचे शिव के वाहन नन्दी की प्रतिमा प्राप्त होती है।

मुख-लिङ्ग-

कतिपय शिव-लिंगों में अन्य देवों के साथ अथवा एकाकी ही शिव का मुख उत्कीर्ण रहता है। कुछ में शिव देवता के सभी अंगों का अंकन होता है। इस प्रकार के शिव-लिंग को मुख-*लिङ्ग* कहा जाता है। अग्नि पुराण एवं रूप-मण्डन आदि शिल्प ग्रन्थों में इनकी रचना वर्णित है।

चतुर्मुख शिवलिङ्ग-

अग्नि पुराण के अनुसार शिव *लिङ्ग* से मुख-*लिङ्ग* बनाते समय उसके 18 भाग किये जाते हैं। उनमें द्वादशांश छोड़कर 6 भागों द्वारा 6 स्थानों की अभिव्यक्ति करनी चाहिये। प्रथमतः सिर की संरचना, इसके पश्चात् ललाट एवं नासिका की संरचना की जाती है। पुनः मुख, चिबुक, ग्रीवा बनायी जाती है। दो भागों से दोनों भुजायें एवं दोनों नेत्र *लिङ्ग* के प्रमाण के अनुसार निर्मित होते हैं। हाथ मुकुलाकार होते हैं। *लिङ्ग* के अष्टमांश से चार मुख निर्मित होते हैं एवं सभी मुख समान होते हैं।[28]

त्रिमुख शिवलिङ्ग-

त्रिमुख *शिवलिङ्ग* में चतुर्मुख की अपेक्षा कान एवं पैर बड़े होते हैं। ललाट आदि अंग चतुर्मुख के समान ही होते हैं। चार भागों से दो भुजायें निर्मित होती हैं, जिनके पिछले भाग पुष्ट होते हैं। *लिङ्ग* के विस्तार से आठवाँ भाग लेकर मुखों का निर्गम किया जाता है।[29]

एकमुख शिवलिङ्ग-

एकमुख *शिवलिङ्ग* में मुख पूर्व दिशा में रखा जाता है एवं नेत्रों के भाव सौम्य होते हैं। पाँचवें भाग से *लिङ्ग* के ललाट, नासिका, मुख एवं ग्रीवा का निर्माण होना चाहिये। इस *शिवलिङ्ग* में भुजायें नहीं बनती हैं। मुख का निर्गम *लिङ्ग* के विस्तार के छठें भाग से करना चाहिये।

सभी मुख लिंगों में मुख की आकृति कुक्कुराकार या त्रपुषाकार[30] (अण्डाकार) रखी जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य देवों के साथ मुख लिङ्ग (लिंगोद्भव प्रतिमा)–

अगस्त्य ऋषि ने मुखयुक्त *शिवलिङ्ग* के प्रसंग में अन्य देवों का भी वर्णन किया है। *लिङ्ग* के मध्य भाग में चन्द्रशेखर के सदृश प्रतिमा बनती है। अधोभाग में देवता के दोनों पैर गूढ होते हैं। *लिङ्ग* के ऊर्ध्वभाग में हंस रूप ब्रह्मा तथा अधो भाग के दाहिने ओर वराह स्थित होते हैं। बायीं ओर पार्श्व में ब्रह्मा तथा दक्षिण-पार्श्व में विष्णु अंजलि बाँधे हुए निर्मित होते हैं।[31] इस प्रकार की लिंगोद्भव प्रस्तर प्रतिमा एहोल क्षेत्र के दशावतार गुफा में प्राप्त होती है।[32]

बरहद से प्राप्त शिव *लिङ्ग* की यह लिंगोद्भव प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[33] यह पीपल के पेड़ के नीचे एक चबूतरे पर बनी है। इसके तीन भाग है- ब्रह्म भाग (योनि से सम्बद्ध अधोभाग), विष्णुभाग (मध्य भाग) एवं रुद्र भाग (शीर्ष भाग)। विष्णु भाग पर पूर्व में सूर्य, उत्तर में गणेश, पश्चिम भाग में शिव एवं पार्वती तथा दक्षिण भाग में शिव के साथ नन्दी अंकित हैं। रुद्र भाग में देतवा अंकित हैं, जो शिव पर दूध, फूल एवं चन्दन चढ़ा रहे हैं। शिव एवं पार्वती कल्याण सुन्दर में प्राप्त मूर्ति से समीकृत है।

शिवलिङ्ग के उत्तरी भाग में गणेश अपने वाहन पर बैठे हैं। उनके हाथ में परशु एवं सूड़ में मोदक है। उनके दाहिने शिव खड़े हैं जहाँ नन्दी अंकित है जो अपने मुख से शिव का दाहिना हाथ स्पर्श कर रहा है। शिव सुन्दर वस्त्रों में सुसज्जित हैं। निचले अंगों में घुटनों से ऊपर तक धोती है, जिसकी किनारी कलात्मक है। *लिङ्ग* के पूर्वी भाग में सूर्य हैं, जिनके दाहिनी ओर दण्ड एवं बायीं ओर पिंगल अंकित है। दोनों हाथों में कमल, सिर पर किरीट एवं पैरों में उपानह है। इनके पाद देश में अरुण अथवा सन्ध्या का अंकन नहीं प्राप्त होता। सूर्य के पश्चिम में शिव-पार्वती खड़े हैं। पार्वती शिव के वाम भाग में हैं एवं दाहिने हाथ से शिव के बायें हाथ को पकड़ी हुई हैं। यह शिव *लिङ्ग* सर्वतोभद्र श्रेणी का है। यह *शिवलिङ्ग* सम्भवतः आठवीं शताब्दी का है।

मुखलिंगों के ऐतिहासिक साक्ष्य-

शिव के मुख *लिङ्ग* के दर्शन भारत एवं विदेश सभी स्थानों पर प्राप्त होते हैं। एक मुखलिंग दक्षिणी थाईलैंड की खुदाई से प्राप्त है। इसका काल दसवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है। यह शिव *लिङ्ग* अलंकृत है। इसके ऊर्ध्व-भाग में अर्ध-चन्द्र अंकित है। चेहरे का अंकन अत्यन्त स्पष्ट है एवं मुख पर मूँछें बनी हैं। दोनों नेत्र ध्यान की स्थिति दर्शाते हुए बन्द हैं। ललाट पर तीसरा नेत्र अंकित है। मूर्ति का शिरमुकुट युक्त है एवं कानों में आभूषण है।[34]

इसी प्रकार इन्डोनेशिया से प्राप्त शिव का एक चतुर्मुख *लिङ्ग* कलकत्ता के इन्डियन म्यूजियम में संग्रहीत है।[35] यह *लिङ्ग*-प्रतिमा सातवीं शताब्दी की है एवं इस पर जावा के शिल्प कला की छाप है। इस *लिङ्ग* पर शिव की पूरी प्रतिमा अंकित है। शिव घुटने तक धोती पहने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant2

हैं। इन्हें कुण्डल, बाजूबन्द, कंगन एवं जनेऊ पहने दर्शाया गया है। सामने का दाहिना हाथ मुड़ा है एवं उसमें अक्षमाला लिपटी है। पिछले दक्षिण हस्त में वज्र है। सामने बायें हाथ से धोती पकड़े हुए हैं किन्तु पीछे का बायाँ हाथ खण्डित है। सिर पर अलंकृत मुकुट है, जिस पर सुन्दर डिजाइन बनी है। तीसरी आँख ललाट के मध्य अंकित है, जो बहुत स्पष्ट नहीं है।

शिव के मुख-*लिङ्ग* देश के विभिन्न भागों में प्राप्त होते हैं। एकमुख *शिवलिङ्ग* उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं बिहार में कई स्थानों पर प्राप्त होते हैं। लखनऊ एवं प्रयाग के संग्रहालय में चतुर्मुख-*लिङ्ग* संग्रहीत हैं।[36] एकमुख एवं चतुर्मुख *शिवलिङ्गों* के कई उदाहरणों की चर्चा गोपी नाथ राव ने अपने ग्रन्थ में की है।[37] आन्ध्र प्रदेश के गुडीमल ग्राम का मुखलिंग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसे प्रथम शताब्दी (ईसा) की रचना इतिहासकार मानते हैं।[38] वासुदेव उपाध्याय के अनुसार मुखलिंग की संरचना गुप्तकालिक स्थापत्य-शिल्प की एक विधा है।[39]

शिव-लिङ्ग निर्माण विधि-

संस्कृत वाङ्मय में *शिवलिङ्गों* के मूर्तन की प्रक्रिया भी प्राप्त होती है। श्रेष्ठ *शिवलिङ्ग* वही होता है जो सुस्निग्ध, एवं सुन्दर वर्ण का[40] हो एवं सघन, आघात रहित, मृदु, अच्छे गन्ध वाली, कान्ति युक्त एवं श्रेष्ठ शिला-खण्ड से निर्मित हो।[41] *लिङ्ग* निर्माण के लिए भूमि में गड़ी हुई, श्वेत, रक्त, पीत अथवा कृष्ण वर्ण की शिला ग्रहण करनी चाहिये जो सुन्दर, जीर्णतारहित एवं उचित लम्बाई-चौड़ाई से युक्त हो।[42] *लिङ्ग* निर्माण के लिए एकवर्ण की, स्निग्ध, गज-घण्ट के समानस्वर वाली एवं सीधी पुंशिला ग्रहण करनी चाहिये[43] एवं उसकी पिण्डिका के लिए स्थूल मूल एवं आगे पतली स्त्री-शिला ग्रहण करनी चाहिये। इस शिला से निकलने वाला स्वर काँसे की धातु से निकलने वाले स्वर जैसा होता है।[44]

शिव-*लिङ्ग* निर्माण के लिए चौकोर प्रस्तर-खण्ड को दो भागों में बाँट कर एक भाग को 8 भागों में विभक्त करना चाहिए। उन 8 भागों में 3 भाग छोड़कर 5 भाग से चौकोर विष्कम्भ निर्मित करना चाहिए। प्रस्तर-खण्ड को चौड़ाई में तीन भागों में विभक्त करना चाहिये जिन्हें नीचे से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश का भाग कहा जाता है। अधोभाग को चतुरस्र, मध्यभाग को अष्टास्र रखा जाता है एवं ऊर्ध्व भाग में *शिवलिङ्ग* बनता है। ऊर्ध्व भाग को आठ भागों में विभक्त कर शिरो भाग को छत्राकार बनाना चाहिये। अधो भाग को पिण्डिका पर स्थापित करना चाहिए।[45]

शिवलिङ्ग की पिण्डिका एवं पीठ-

इसे लिंगपीठ पर निर्मित कहा गया है। पीठ की ऊँचाई एवं लम्बाई *लिङ्ग* के अनुसार होनी चाहिए। पीठ के मध्य में खात खोदकर उसके तीन भाग करने चाहिये एवं तीसरे भाग से 'बाहुल्य' की रचना करनी चाहिये। बाहुल्य के तीसरे भाग से मेखला एवं मेखला के अनुसार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

खात तैयार करना चाहिये। उसे नीचे झुका हुआ बनाना चाहिये अथवा मेखला के 16वें भाग के बराबर खात का निर्माण करे एवं उसी के अनुसार पीठ की ऊँचाई बनवाये। पीठ का एक भाग भूमि में रहेगा एवं एक भाग से पिण्डिका का निर्माण होगा। तीन भागों से कण्ठ एवं एक भाग से उसकी पट्टिका का निर्माण करना चाहिये। इसी प्रकार उसके दो भागों से ऊर्ध्व पट्ट तथा एक भाग से शेष पट्टिकायें निर्मित होनी चाहिए। प्रत्येक भाग इस प्रकार निर्मित हो जिससे कण्ठ तक पहुंचा जा सके। इसके पश्चात् एक भाग से जल निकलने का प्रणाल बनाना चाहिए। प्रणाल के तृतीय भाग से निर्गम निर्मित होता है। उसका ढाल कुछ नीचे होना चाहिये। इस प्रकार पिण्डिका तैयार कर उस पर *शिवलिङ्ग* स्थापित किया जाता है।[46]

मत्स्य पुराण में विविध प्रकार की पीठिकाओं की चर्चा की गई है। "'स्थण्डिला' चौकार एवं मेखलाहीन, 'वाणी' द्विमेखला, 'यक्षी' त्रिमेखला, 'वेदी' आयताकार, प्रमथप्रिया 'मण्डला' मण्डलाकार, 'पूर्णचन्द्रा' रक्त वर्ण की एवं मध्य में दो मेखलाओं से युक्त, 'वज्रा' षट्कोण एवं त्रिमेखला, मूलभाग में कुछ छोटी एवं षोडश कोणों वाली 'पद्मा', अर्धचन्द्र' धनुषाकार, ऊपर से त्रिशूल के सदृश एवं पूर्व तथा उत्तर की ओर कुछ ढलावदार 'त्रिकोणा' पीठिका कही गई है। इनमें 'वेदी' पीठिका शिव *लिङ्ग* की स्थापना के लिए अनुकूल नहीं होती है।[47] रूपमण्डन में भी पीठिकाओं की संरचना वर्णित है।[48] शिव *लिङ्ग* की पीठिका एवं *लिङ्ग* की द्रव्य जाति एक होनी चाहिए।[49]

पिण्डिका में *शिवलिङ्ग* इस प्रकार स्थापित करना चाहिए जिससे उसका शीर्ष भाग मूल से बिल्कुल सीधा रहे। जिस *लिङ्ग* के नीचे का भाग प्रमाण से अधिक होता है वह अप्रशस्त माना गया है। मनोहर एवं उत्तम लक्षणों से युक्त सौम्य शिव-*लिङ्ग* सुख-समृद्धि एवं सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला होता है।[50]

इस प्रकार *शिवलिङ्ग* निराकार ब्रह्म का साकार प्रकटीकरण है। इसका प्राकट्य प्रथमतः ज्योतिर्मय था जो कालान्तर में द्वादश ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थापित हुआ। अपने आधार-भूत पिण्डिका के साथ यह *शिवलिङ्ग* सृष्टि के कारण प्रकृति-पुरुष संयोग का अनुपम विग्रह है।

संदर्भ-

1. ऋग्वेद, 7/21/5, 10/99/3.
2. वही, द्रष्टव्य सायण एवं वेकेंट भाष्य
3. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 4/11, 5/2.
4. शिवपुराण, विद्येश्वर संहिता, 5-7, तु0 लिङ्ग0, 6-10अ0, कूर्म0 1/25/66-74, वायु0 1/55.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

5. त्वयालिङ्गस्वरूपेण व्याप्तमेतज्ज् गत्त्रयम् । स्कन्द0, माहेश्वर0, केदार0, 7/4

6. उद्माति स्थितिमाप्नोति तथा विलयमेति च ।
तल्लिंग लिंगमित्याहुलयनात् तत्त्ववित्तमाः ।। स्कन्द0, माहेश्वर0, केदार0, 6/24

7. तदेवं *लिङ्गं* प्रणवं सार्वकामिकम् ।
सूक्ष्मप्रणवरूपं हि सूक्ष्मरूपं तु निष्कलम् ।
स्थूललिङ्गं हि सकलं तत्पञ्चाक्षरमुच्यंते ।।
शिवपुराण, कल्याण' शिवाङ्क, 1933, पृ0 253.

8. वचनाद्वो महाभागाः प्रणम्योमां तथा भवत् ।
स भगाख्या जगद्धात्री लिंगमूर्तेस्त्रिवेदिका ।।
*लिङ्ग*स्तु भगवान्द्वाभ्यां जगत्सृष्टिः द्विजोत्तमाः ।
*लिङ्ग*मूर्तिः शिवो ज्योतिस्तमसश्चोपरि स्थितः ।
लिंगवेदिसमायोगादर्धनारीश्वरोऽभवत् ।। *लिङ्ग*0, 100//6,7

9. प्रकृत्यन्तर्गतं *लिङ्गं लिङ्ग*स्यान्तर्गता च सा ।।
शक्त्या लिंगं च संछन्नं तदा सर्वमदृश्यत ।
*लिङ्गे*न शक्तिः संछन्ना परस्परमवर्तत ।। स्कन्द0, माहेश्वर0, केदार0, 10/45

10. अभिज्ञान शाकुन्तल, 1/1, एवं
त्रिपाठी, गयाचरण – वैदिकदेवता उद्भव एवं विकास,2, पृ0 547

11. रूपमण्डन, 4/72-73, तु0 अपराजित पृच्छा, 205

12. उपाध्याय, वासुदेव- प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ0 113

13. राजधर्मकौस्तुभ, *लिङ्ग*लक्षणम्, 13,14, पृ0 46.

14. वही, शैवसिद्धान्त शेखरमत, 10-12, 15, पृ0 46.

15. मययमत, 33/90

16. अग्नि पुराण, 54/1-5

17. पद्म पुराण, पाताल खण्ड, 101/121-122

18. एवं रत्नमयं कुर्यात् स्फाटिकं पार्थिव तथा ।
शुभं दारुमयं चापि यद् वा मनसि रोचते ।। मत्स्य पुराण, 263/25,
तुल0 समराङ्गणसूत्रधार, 70/74-80 ।

19. मेरुतन्त्र, 9/79-148

20. निष्कलं सकलं मिश्रं *लिङ्गं* चेति त्रिधा मतम् ।
निष्कलं लिंगमित्युक्तं सकलं बेरंमुच्यते ।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुख*लिङ्गं*तयोर्मिश्रं लिंगार्चाकृतिसन्निभैः ।।-मयमत, 33/1,2

21. वही, 33/37-79

22. भवेत् सहस्र*लिङ्गानां* सैकमित्यसमैः पदैः।
सहस्र*लिङ्ग*मित्युक्तं पञ्चाङ्कव्यङ्कमेव ता।।समराङ्गणसूत्रधार, 70/14.

23. पूजाभागे सर्वतोभद्र*लिङ्गे* धारा*लिङ्गं* पञ्च पञ्चक्रमेण।
एकैकस्याष्टमं चोपरिष्टात् साहस्रं तद्रेखया *लिङ्ग*मुक्तम्।।-मयमत, 33/83

24. *लिङ्ग*फलकाकारं द्वयश्रं पञ्चाश्रकं त्रिकोणं च।
एकादशनवषट्सप्ताश्रं च द्वादशश्रं च।। मयमत, 33/87

25. पूर्वोदितेतराश्रं शूलाग्रं श्रृंगसदृशशिरः।
अन्यदपि भेदयुक्तं सशिरः सूत्रेतरन्नमानयुतम्।। मयमत, 33/88

26. राव, गोपी नाथ, एलिमेन्ट्स आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी- 2,1, पृ0 95-96

27. श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल, बुंदेलखण्ड कला में शैव परम्परा, पुरातन (शैव विशेषांक) मध्य प्रदेश, 1989, पृ0 199

28. अर्कीशं पूर्ववत् त्यक्त्वा षट्स्थानानि च वर्तयेत्।
शिरोन्नतिं प्रकर्तव्या ललाटं नासिका तटः।।
वदनं चिबुकं ग्रीवां युगभागैः भुजाक्षिभिः।
कराभ्यां मुकुलीकृत्य प्रतिमायाः प्रमाणतः।।अग्नि0 53/42,43

29. कर्णपादाधिकास्तस्य ललाटादीनि निर्दिशेत्।
भुजौ चतुर्भिर्भागैस्तु कर्तव्यौ पश्चिमोर्जितौ।।
विस्तारादष्ट मांशेन मुखानां प्रतिर्निगमः।।अग्नि0 53/45,46

30. एकवक्त्रं तथा कार्यं पूर्वास्यं सौम्यलोचनम्।।
ललाटनासिकावक्त्रग्रीवायां च विवर्तयेत्।
भुजाच्य पञ्यमांशेन भुजहीनं विवर्तयेत्
विस्तारस्य षडंशेन मुखैर्निगमनं हितम्।
सर्वेषां *मुखलिङ्गानां* त्रपुषं वाऽथ कुक्कुटम्।।अग्निपुराण, 54/46-48

31. सकलाधिकार, 21/1-5

32. राव, गोपी नाथ- एलिमेन्ट्स आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, 2,1,पृ0109

33. शर्मा, आर.ए.- शैव आर्ट एण्ड आइक्नोग्राफी आफ बरहद, पुरातन पत्रिका, Vol. 6, 1989, पृ0 111-113.

34. शुक्ल, एम.एस.-शैव ट्रेडीशन एण्ड आर्ट आफ साउथ ईस्ट एशिया, पुरातन पत्रिका, Vol.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

6.1989, पृ0 104.

35. वही, पृ0 105.

36. उपाध्याय, वासुदेव- प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ0 115

37. राव, गो0ना0-एलिमेन्ट्स आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, 2,1, पृ0 64,65,97.

38. उपाध्याय, वा0-प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ0 115,
मूरे- वैदिक इन्डिया, पृ0 141, कुमारस्वामी- हिस्ट्री आफ इन्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 67.

39. उपाध्याय, वा0-प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ0 114

40. सुस्निग्धं च सुवर्णंच *लिङ्ग* कुर्याद् विचक्षणः। - मत्स्य0, 263/1

41. निविडानिर्वणा मृद्वी सुगन्धा मधुरा शिला।
सर्वार्चालिङ्गपीठेषु श्रेष्ठा कान्तियुता च या।। रूपमण्डन, 1/3

42. श्वेता रक्ता च पीता च विप्रादीनां हितासिता।
एकवर्णा घना स्निग्धा शिला भूमिनिमग्नका।।
व्यासायामवती ग्राह्या यौवनातिमनोरमा। मयमत, 33/4,5

43. एकवर्णा घना स्निग्धा मूलाग्रादार्जवान्विता।
गजघण्टाखा या सा पुंशिलेति प्रकीर्तिता।। मयमत, 33/8

44. स्थूलमूला कृशाग्रा या कंसतालसमध्वनिः। मयमत, 33/9

45. अग्नि पुराण, 53/1-8; तु0 मत्स्य0 263/19-22; विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 3/74/1-5

46. अग्नि पुराण, 53/13-23, तु0 मत्स्य0 262/12-26; विष्णुधर्मोत्तर0 3/74/1-5

47. मत्स्य पुराण, 262/1-12

48. पृथुत्वं पीठिकायास्तु लिङ्गायामसमं भवेत्।
उदयो विष्णुभागान्ते उमावत् पीठिका स्मृता।। -रूपमण्डन, 4/86

49. जात्यैका विधातव्यं नित्यमन्यन्यो (नेष्टमन्योन्य) *सङ्कुलम्*
आहुः शैलद्रुमे (द्रुमैः) केचित् पीठं पक्वेष्टकामयम्। -रूपमण्डन, 4/87

50. मत्स्य पुराण, 263/22-24

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमशिव के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन

(काश्मीर शैव दर्शन एवं शैव सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में)

–रमा पाण्डेय*

भारतीय–दर्शन केवल वैदिक परम्परा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि इसमें आगमिक धारा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगमिक परम्परा के समावेश के बिना भारतीय–दर्शन पर विचार अपूर्ण प्रतीत होता है। वस्तुतः वेद और आगम एक दूसरे के पूरक हैं।

निरपेक्ष परमतत्त्व के स्वरूप के विषय में दो धारणायें प्रचलित हैं– भावात्मक दृष्टि तथा निषेधात्मक दृष्टि। भावात्मक दृष्टिकोण में निरपेक्ष के पूर्णत्व एवं विश्वमयता तथा निषेधात्मक दृष्टि में उसके पर अथवा विश्वातीत रूप का विशेष महत्त्व है। आगमिक परम्परा में भावात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया है। इस परम्परा का दर्शन होने के कारण काश्मीर शैव–दर्शन एवं शैव–सिद्धान्त में जगत एवं उसके वस्तुओं के प्रति भावात्मक या स्वीकारात्मक दृष्टि है। सब कुछ शिव की सृष्टि है। इसलिए शिवमय होने से ग्राह्य है।

अभेद, भेदाभेद एवं भेद इन दृष्टिकोणों के आधार पर आगम की गणना तीन वर्गों में की जाती है। अभेदवादी काश्मीर शैव–दर्शन, भेदाभेदवादी[1] शैव–सिद्धान्त तथा विशिष्टाद्वैतवादी वीर शैव दर्शन है। सैद्धान्तिक विभेद के कारण इन तीनों दर्शनों में शिव, जीव एवं जगत के मध्य सम्बन्ध के प्रश्न पर विभिन्नता परिलक्षित होती है। शैव आगमिक परंपरा में परमतत्व को परम शिव शब्द से अभिहित किया गया है। यह शिव एवं शक्ति का सामरस अथवा उनकी पूर्णता की स्थिति है। दोनों ही दर्शनों में परमशिव को परासंवित्[2] कहा गया है। वह चित्स्वरूप[3] परिपूर्ण[4] एवं आत्मचेतना[5] से युक्त है। आत्मरूप होते हुए भी इसे परमसत्ता इसलिए कहा गया है क्योंकि यह निराकांक्ष एवं सभी बद्धताओं से स्वतंत्र है। शिव में आत्मचेतना की प्रधानता है। इस शक्ति का नाम ही "विमर्श" है। इसी शक्ति के कारण शिव को प्रकाश–विमर्शमय अथवा ज्ञान एवं क्रिया रूप कहा गया है। अनन्त चैतन्य में विमर्श उस शक्ति को कहा गया है, जिसमें आत्म चेतना, इच्छा, ज्ञान और क्रिया का प्रकाशन होता है।[6] आत्म–चेतना में ही उसका माहेश्वर्य निहित है। शक्ति के कारण ही शिव आत्म–अनुभूति योग्य होता है। शक्ति के अभाव में शिव का ज्ञान संभव नहीं है। विमर्श ही उसकी स्वातंत्र्य शक्ति है।[7] यह उसकी प्रधान शक्ति या स्वरूपशक्ति है। जगत और शिव के मध्य प्रकाशित और प्रकाशक या विषय और विषयी का जो सम्बन्ध है वह विमर्श शक्ति के कारण है। यही एकता,

*अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, वसन्त कॉलेज, राजघाट, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनेकता, विभिन्नता के मूल में है। यह अनन्त चैतन्य के अनिवार्य स्वरूप की प्रतिनिधि है जो निरपेक्ष एकता की स्थिति से परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। इसे महासत्ता भी कहा गया है, क्योंकि यह सबका कारण है। शक्ति या क्रिया शिव के स्वरूप में ही निहित है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शिव क्रिया के लिए बाध्य है। क्रिया में शिव का स्वातंत्र्य निहित है। यदि वह चाहे तो अपनी शक्ति से जगदाभास का निर्माण कर सकता है और न चाहे तो नहीं। जगदाभास में उसका स्वातन्त्र्य निहित है और इसे ही उसका इदं-विमर्श कहा गया है किन्तु अहं-विमर्श के रूप में शिव में शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। विमर्श जगत की अभिव्यक्ति या प्रकाशन तथा संहार का कारण है। विमर्श से ही शिव ज्ञाता एवं कर्त्ता है।

दोनों ही दर्शन शिव एवं शक्ति में अपरिहार्य संबंध मानते हैं। शक्ति में शिव और शिव में शक्ति है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों दो पृथक् सत्ता है, जो सदैव एक साथ रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों को एक दूसरे के अभाव में नहीं समझा जा सकता। शक्ति सदैव शिव के साथ रहती है, लेकिन वह शिव नहीं है और न शिव से पृथक् है। इनके संबंध की तुलना सूर्य एवं उसके प्रकाश से की जा सकती है। जिस प्रकार प्रकाश की किरणों का अस्तित्व सूर्य के बिना नहीं है, लेकिन सूर्य से उसका तादात्म्य निरूपण नहीं किया जा सकता[8]; उसी प्रकार अपनी सर्वव्यापक शक्ति के अभाव में शिव प्रकाशित नहीं हो सकता। शै0सि0 में शिव और शक्ति में द्रव्य एवं गुण का संबंध है।[9] जिस प्रकार अग्नि द्रव्यतः एक है, लेकिन लालरंग तथा गर्मी उसका गुण है, उसी प्रकार विश्वातीत रूप में वह शिव एवं विश्वमय रूप में शक्ति है। जैसे अग्नि और उसकी गर्मी या फूल और उसके सुगन्ध को पृथक नहीं किया जा सकता उसी तरह शक्ति को शिव से भिन्न नहीं समझना चाहिए।[10] जैसे सूर्य अपने को प्रकाशित करने की अवस्था में सूर्य और वस्तुओं को प्रकाशित करते समय किरण कहा जाता है उसी प्रकार अपनी स्वस्थिति अर्थात् चैतन्य दशा में शिव और वस्तुओं के विषयीकरण में शक्ति है। अतः शिव एवं शक्ति में किसी प्रकार का भेद नहीं समझना चाहिए।

परमशिव अपने विमर्शरूप में सगुण और प्रकाश रूप में निर्गुण है। सगुण और निर्गुण एक ही निरपेक्ष के दो पक्ष हैं। काश्मीर शैव-दर्शन में एक मात्र तत्त्व शिव है और शैव-सिद्धान्त में पति, पशु एवं पाश तीन तत्त्वों की कल्पना की गयी है। का0शै0द0 में परम शिव स्वयंसिद्ध एवं प्रमाणों से परे है। सभी प्रमाणों में वही अनुस्यूत है।[11] पूर्ण अहंता स्वरूप महेश्वर की सिद्धि में प्रमाणों की कोई संगति नहीं है। स्वयं कर्त्ता, ज्ञाता महेश्वर आदि सिद्ध है।[12] परमशिव को आदि सिद्ध कहने का तात्पर्य उसकी अविच्छिन्न प्रकाशरूपता को प्रकट करना है। ईश्वराद्वयवाद में भोक्ता-भोग्य, प्रमाता-प्रमेय में कोई भेद नहीं किया गया है, क्योंकि शिव के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। परमशिव अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से जड़ एवं चैतन्य का पार्थक्य स्वेच्छा से उद्भासित कर अनेक प्रमाताओं के रूप में स्वयं प्रकाशित होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शैव-सिद्धान्त में तीन तत्त्व-पति, पशु एवं पाश- को स्वीकार करने के कारण ज्ञान के तीन स्तर पति ज्ञान, पशुज्ञान एवं पाश ज्ञान को मान्यता दी गयी है। आत्मा अनादि आणव से आबद्ध है इसलिए उसे सीमित ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः पशु अवस्था में पति-ज्ञान के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है। इसीलिए सिद्धान्ती ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि सभी प्रमाणों के मूल में 'चिति' है।[13] शिव ज्ञान के लिए सिद्धान्ती आगम प्रमाणों की आवश्यकता को स्वीकार करता है, क्योंकि शैवागमों का निर्माणकर्त्ता स्वयं शिव है।

काश्मीर शैव दर्शन एवं शैव सिद्धान्त दोनों में ही शिव को 'अनुत्तर' स्वीकार किया गया है, किन्तु दोनों के अर्थ में भिन्नता है। का0शै0द0 में पराप्रमाता पूर्ण तथा प्रत्येक वस्तु से स्वतंत्र है। इसमें निर्धारण या सीमा का अभाव है इसलिए वह अनुत्तर या पूर्णाहन्ता है। वह अनुभूति की सभी अवस्थाओं से ऊपर है। शैव सिद्धान्त में शिव को 'अनुत्तर' इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह पशु और पाश नामक दोनों तत्त्वों से उत्तर अर्थात् श्रेष्ठ है। दोनों ही सिद्धान्तों में शिव को सच्चिदानन्द रूप स्वीकार किया गया है। शैव-सिद्धान्त में अचित् माया एवं ससीम जीव के सन्दर्भ में उसे सच्चिदानन्द कहा गया है। लेकिन का0शै0 दर्शन में वह सत् है लेकिन उसने सीमितता का अभाव नहीं बल्कि वह उनको समाहित किये हुए हैं। सत् की व्याख्या चित् के सन्दर्भ में ही किया जाता है क्योंकि बिना-चेतना के सत् का कोई अर्थ नहीं है। सत् एवं चित् अपृथक् है। सत् तथा चित् के अतिरिक्त परमशिव आनन्दस्वरूप भी है। शिव में स्वयं आनन्दानुभव की चेतना भी विद्यमान रहती है। शैव-सिद्धान्ती तीन तमिलशब्द-एरेकमु, अरिवाक् तथा निरकमु, सत्, चित् एवं आनन्द की ओर संकेत करते हैं।[14] किन्तु शै0 सि0 में अचित्, ससीमता एवं दुःख के परिप्रेक्ष्य में ही शिव को सच्चिदानन्द रूप स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार ज्वलनशील वस्तु के सन्दर्भ में अग्नि की दाहिका-शक्ति को जाना जाता है उसी प्रकार शिव के सच्चिदानन्द स्वरूप के ज्ञान के लिए अचित् माया एवं जीव की पृथक् एवं नित्य सत्ता मानना आवश्यक है। सत् से उसकी शुद्धता प्रतीत होती है तथा चित् अनुग्रह या प्रेम रूप है। शैव भक्त बिना किसी संशय के शिव को व्यक्तिरूप मानते हैं। अन्-प्रत्यय के साथ शिवम् शब्द पुलिंग एवं व्यक्तिरूप है।[15] इस लिए शिव को व्यक्तिरूप सत्ता कहा गया है।

दोनों ही सिद्धान्त शिव को अपरिवर्त्य मानते हैं। शैव सिद्धान्त में शिव को केवल निमित्त कारण माना गया है। वह शक्ति के माध्यम से जगत् से संबंधित एवं उससे परे भी है; इसलिए वह जगत की मलिनता से मलिन न होते हुए अपरिवर्त्य रहता है। शिव आध्यात्मिक ज्ञान रूप सत्ता है अतः उसका रूप जीव के समान नहीं हो सकता। किन्तु का0शै0दर्शन में शिव अपरिवर्त्य इसलिए है क्योंकि जगत् शिव की ही विमर्शात्मक सृष्टि है। यहाँ शिव ही उपादान एवं निमित्त दोनों है, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। किन्तु सिद्धान्ती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह मानते हैं कि कार्य को कारण के अनुरूप होना चाहिए इसलिए जड़ जगत का कारण चैतन्य शिव को नहीं माना जा सकता। अतः माया रूप उपादान को स्वीकार करना आवश्यक है। इसलिए यहाँ शिव के अनुग्रह पर विशेष बल दिया गया है।

शैव-सिद्धान्त में पंचकृत्यों का सम्पादन शिव जीवों के प्रति अनुग्रह के कारण करता है। का0शै0 दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि शिव परमपूर्ण एवं निरपेक्ष सत्ता है उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, इसलिए सृष्टि आदि में उसका कोई प्रयोजन नहीं है। शिव अपने लिए सृष्टि करता है, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। सृष्टि शिव का लीला-विलास है एवं उसकी आनन्द मय क्रीड़ा है क्योंकि परमेश्वर का स्वभाव ही परमेश्वरता है। पंचकृत्य शिव के आनन्द का सहज उच्छलन है। शैव सिद्धान्त में भी पंचकृत्यों को शिव की लीला माना गया है लेकिन उसके मूल में प्रयोजन निहित है। यह प्रयोजन जीवों के लिए है। शिव अनुग्रह के कारण दया या करुणा के वशीभूत होकर लीलामात्र से बिना किसी प्रयास के सृष्टि करता है। शिव शक्तिमान परमपूर्ण एवं प्रेमस्वरूप है, इसलिए वह जीवों के कल्याण के लिए बिना किसी आयास के अपरिवर्तनीय रहते हुए पंचकृत्यों का सम्पादन करता है। यही उसकी लीला है। सृष्टि को नटराज का आनन्द-नर्त्तन कहा गया है। शिव का स्वरूप प्रेममय या अनुग्रह रूप है इसलिए शिव के समस्त कृत्यों के मूल में अनुग्रह विद्यमान है। अनुग्रह शिव की शक्ति है, उसके अभाव में पंचकृत्यों का सम्पादन नहीं हो सकता। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह में ही पंचकृत्य हैं।

जीवों को कर्म करने के लिए मायोत्पादित जगत प्रदान करना ही सृष्टि है। सृष्टि का उद्देश्य है मलावरण को दूर करते हुए जीवों को उनके मूलस्वरूप की अनुभूति में सहायता करना। इसलिए सृष्टि के मूल में शिव का अनुग्रह है। जिसके द्वारा सृष्ट वस्तु का अस्तित्व निरन्तर विद्यमान रहता है उस शक्ति को स्थिति कहा जाता है। स्थिति में जीव नवीन कार्यों का सम्पादन एवं तज्जन्य सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। उस अवस्था में वह अन्य जीवों से भी संबंधित रहता है। जीव की विश्रान्ति के लिए संहार होता है। इस अवस्था में शिव को रुद्र या महेश्वर कहते हैं। तिरोधान से वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप पर आवरण पड़ जाता है। तिरोधान-शक्ति के द्वारा मल सक्रिय हो जाता है। मल से सम्बद्ध होने के कारण तिरोधार शक्ति को मल कहा गया है। शैव-सिद्धान्त में मल को मल से दूर करने की प्रक्रिया का वर्णन है। अनुग्रह से जीवों को वास्तविकता का बोध होता है। यह स्वस्थ बोध कराने वाली शक्ति है। अनुग्रह-शक्ति दो रूपों में प्रकट होती है। सीमित जीव एवं जगत के सन्दर्भ में उसे तिरोधान शक्ति कहते हैं तथा साधक को शिव के नित्य आनन्द की अनुभूति की अवस्था में उसे अनुग्रह-शक्ति कहते हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में भावात्मक दृष्टिकोण एवं शक्ति को शिव का स्वरूप स्वीकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने के कारण उससे पृथक् कुछ भी नहीं माना गया है। स्वातंत्र्य-शक्ति के कारण ही शिव पंचकृत्यकारी है। लेकिन पंचकृत्य उसके लिए कोई बाध्यता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं पूर्ण है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है जिसके लिए वह सृष्टि सम्पादित करे। अतः पंचकृत्य शिव स्वातंत्र्य है। यह शिव के आनन्द का सहज प्रवाह अथवा स्पन्द है। शिव अपनी स्वतंत्रेच्छा से जीव एवं जगत् के रूप में अपना आत्म-प्रकाशन करता है, वही सृष्टि है। आत्म-विस्मृति की अवस्था में रहते हुए जगत् आदि को भिन्न समझने की अज्ञानावस्था ही स्थिति है। इन विषयों का अन्य देश-काल में आभासन ही संहार है। स्वरूप-गोपन अथवा आत्म-गोपन ही तिरोधान है तथा स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन ही अनुग्रह है। ये समस्त कृत्य शिव की लीला अथवा क्रीड़ा है। किन्तु शैव-सिद्धान्त में यह पंचकृत्य एक योजना के अंतर्गत् किया जाता है और यह योजना या प्रयोजन है जीवों का कल्याण।

शैव-सिद्धान्त में शिव प्रेमस्वरूप है। शिव और प्रेम अभिन्न है। शैव-सन्तों के गीतों में प्रेम का स्वरूप परिलक्षित होता है। शिव उन भक्तों को मुक्ति प्रदान करता है, जो प्रेम में पागलपन की अवस्था तक पहुंच गये हैं। प्रेम में तन्मयता ही भक्ति की पराकाष्ठा है।[15] शिव का प्रेम स्वरूप होना उसकी पराशक्ति का ही प्रकाशन है। पराशक्ति शिव की सर्वोच्च शक्ति है। यह शुद्ध चेतना स्वरूप है। कार्यों की विभिन्नता के कारण यह अपने को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति के रूप में प्रकट करती है। इच्छा-शक्ति के द्वारा शिव जीवों के प्रति अनुग्रह के कारण उनको मल से मुक्त करने एवं आनन्दावस्था की अनुभूति कराने की इच्छा करता है। ज्ञान-शक्ति से शिव जीवों के अशुभों को जानता है तथा उनसे मुक्ति के लिए शरीरादि प्रदान करता है। ज्ञान शक्ति के द्वारा इच्छाशक्ति क्रियान्वित होती है। क्रिया-शक्ति से शिव व्यावहारिक जगत का विकास अथवा सृष्टि करता है। इन तीनों शक्तियों के मूल में पराशक्ति ही विद्यमान है।

काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त दोनों में ही शिव को 'अद्वैत-तत्त्व' के रूप में स्वीकार किया गया है, लेकिन दोनों के अर्थ में भिन्नता है। शैव-सिद्धान्त में अद्वैत का अर्थ काश्मीर शैव-दर्शन एवं अद्वैत-वेदान्त में स्वीकृत अर्थ से भिन्न है। काश्मीर शैव दर्शन एवं अद्वैत-वेदान्त में अद्वैत को एकत्व के अर्थ में ग्रहण किया गया है। शिव के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है इसलिए उसे निरपेक्ष अद्वैत-तत्त्व कहा गया है। निरपेक्ष ही अनेकता का कारण है। वह अपूर्ण एवं सीमित जगत से असंपृक्त नहीं है बल्कि समस्त सीमितताओं एवं अपूर्णताओं का उसमें समावेश किया गया है। शैव-सिद्धान्त तीन तत्त्वों-पति, पशु एवं पाश-को स्वीकार करता है। इनमें तत्त्व की दृष्टि से भिन्नता है किन्तु उनके मध्य अद्वैत सम्बन्ध है। ये सभी तत्त्व शिव से स्वतंत्र नहीं है बल्कि शिव अन्तर्यामी रूप में सब में व्याप्त है। उसकी शक्ति के अभाव में किसी का ज्ञान संभव नहीं है। वस्तुतः सिद्धान्ती सम्बन्धों में अद्वैत स्वीकार करते हैं तत्त्वों की नहीं, यदि तत्त्वों का एकत्व स्वीकार किया जाये तो जगत की यथार्थता की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याख्या में कठिनायी आयेगी क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार जड़-जगत की उत्पत्ति चेतन से संभव नहीं है। अतः जड़तत्त्व को माया की कल्पना की गयी है। लेकिन वह शिव की शक्ति से संचालित एवं शिवाधीन है। जैसे 'अ' स्वर सभी वर्णों में अनुस्यूत है उसी प्रकार शिव भी सबका जीवन है। जगत वास्तविक है लेकिन अपने प्रकाशन के लिए शिव पर निर्भर है।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि काश्मीर शैव दर्शन एवं शैव-सिद्धान्त में परमतत्त्व की परिकल्पना में जो भेद- परिलक्षित होता है वह उनकी तत्त्वों की मान्यता के कारण है। उस मान्यता के कारण सृष्टि तथा मुक्ति की कल्पना में भी भेद दिखलायी पड़ता है। आगमिक परम्परा का दर्शन होने के कारण उनमें शिव के स्वरूप के विषय में अधिक भिन्नता नहीं परिलक्षित होती, क्योंकि परमतत्त्व के स्वरूप की मुख्य विशेषता है उसका प्रकाश-विमर्शमय रूप होना जो दोनों ही दर्शनों में पूर्णरूपेण मान्य है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि काश्मीर शैव-दर्शन में शिव के स्वातंत्र्य एवं उसकी लीला की प्रधानता है तथा शैव-सिद्धान्त में शिव के अनुग्रह रूप का विशेष वर्णन है। शैव-सिद्धान्त में शिव दूसरों पर अनुग्रह करता है, किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में अनुग्रह करने वाला उसे प्राप्त करने वाला तथा उसका माध्यम सब कुछ शिव ही है।

संदर्भ :

1. Bhaskari- vol. III. P.4 (Introduction).
2. विज्ञानस्य विभोरसौ- तंत्रालोक 2/4.
3. चैतन्यमात्मा - शिवसूत्र- 1
4. तावन्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते- तंत्रालोक- 1-108
5. प्रत्याभिज्ञाह्दयम् - पृ06
6. Abhinava gupta - An Historical and Philosophical study-p.327
7. Saivism in Philosophical Perspective- P.516.
8. Love of God according to Saiva siddhanta- P.208
9. शिव ज्ञान सिद्धिय 5:9
10. Grace in Saiva siddhanta- P. 125
11. शिव-सूत्र विमर्शिनी- पृ0 5
12. ई0प्र0वि0- 1.1.2
13. Devasenapati- Saiva siddhanta- P. 18
14. Grace in Saiva siddhanta- P. 185.
15. Hymns to the Dancing Shiva-A Study of Manikkavasagar Tiruvacakum P.18

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राचीन भारतीय अभिलेखों में शिवोपासना

–गीता श्रीवास्तव*

प्राचीन भारतीय धार्मिक क्षितिज में शिवोपासना का विशिष्ट महत्त्व था। शैव धर्मानुयायियों के इष्टदेव भगवान शिव थे। यह प्राचीन धर्मों में सर्वाधिक लोकप्रिय था। शैव धर्म के प्राचीनता के आलोक में उल्लेख है कि प्रागैतिहासिक काल में नव पाषाण युगीन कतिपय जातियों में भूमि को उर्वरता हेतु *लिङ्ग* पूजा की पद्धति का प्रचलन था। इसके अतिरिक्त पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त सैन्धव सभ्यता कालीन लघु आकार के *लिङ्ग* भी उनकी प्राचीनता के द्योतक माने जा सकते हैं

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में शिव[1] को रुद्र[2], शतरुद्रिय, शिवातनुः, गिरीश, गिरित्र[3] शहस्राक्ष[4] नाम से जाना गया है। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय लेखों में भी शिव के अनेक सम्बोधन मिलते हैं, यथा- केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, रुद्र, भवानीपति, व्योमकेश, शिव, महादेव, उमापति, पशुपति, योगस्वामी, लोलार्क, विन्देश्वर, नीलकण्ठ अर्द्धनारीश्वर, सदाशिव, परममाहेश्वर, आदि।[5] अन्य बहुत से अभिलेखों में भी इन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लिखित किया गया है। कलचुरि के भेड़ाघाट अभिलेख में शिव को "कल्याणिताम्" कहते हुए भाल पर शशि को धारण करने वाला कहा गया है।[6] अन्य कलचुरि अभिलेख में शिव को परम ब्रह्म देव देव और जगत गुरु कहा गया है, जिसकी सेवा में ब्रह्म तथा अनेक देव लगे रहते थे।[7] अन्यत्र शर्व (शिव) की प्रशस्ति की गयी है।[8] उदयगिरि प्रशस्ति का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शम्भु (शिव) को "भुजंगमाल" से युक्त और "गंगांबुसंसिक्त" शब्दों से सम्मानित किया गया है।[9]

अभिलेखीय साक्ष्य के अनुसार शिव का स्तवन "ओम नमः शिवाय" के साथ प्रारम्भ होता था।[10] अन्य अभिलेख[11] से ऐसा विदित होता है कि देवाधिदेव महादेव की धर्मनिष्ठ भाव से वन्दना और स्तुति की जाती थी।[12]

उत्तर भारतीय अभिलेखों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि विभिन्न राजवंशों के सम्राटों ने शैव धर्म का अनुसरण किया था। गुप्त काल में शैव धर्म का उन्नयन द्रुतगति से हुआ।[13] यह सत्य है कि वे मूलतः वैष्णव धर्मानुयायी थे तथापि उन्होंने धर्मसहिष्णुता की नीति का अवलम्बन कर शैव धर्म को प्रसारित करने का मार्ग प्रशस्त किया। परम्परानुसार शिवोपासना लिंगों को स्थापित कर किया जाता था।[14] इसी परिप्रेक्ष्य में कतिपय अभिलेखीय विवरण विवेचनीय हैं। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि

*अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, अग्रसेन महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपमितेश्वर और कपिलेश्वर जैसे शैव आचार्यों के सम्मान में शिव लिंगों की स्थापना की गई थी। कुमार गुप्त प्रथम के करमदण्डा अभिलेख के अनुसार उसका पदाधिकारी पृथ्वीसेन शैव धर्मावलम्बी था। गौड़ नरेश शशांक अनन्य शैव मतावलम्बी था। बॉसखेड़ा ताम्रपत्र अभिलेख के अनुसार प्रारम्भ में कन्नौज नरेश हर्ष भी शिवोपासक था। इससे ऐसा आभास होता है कि उस समय शैव धर्म का अत्यधिक प्रसार एवं प्रभाव था।[15]

राजपूत राजवंश के शासकों ने भी शैव धर्म का अनुपालन किया था।[16] उन्होंने शिव-मन्दिरों एवं प्रतिमाओं का निर्माण कराकर शैव धर्म के प्रति अपनी श्रद्धापूर्ण निष्ठा व्यक्त की। विजयसेन के देवधर प्रशस्ति के अनुसार पधनेश्वर का एक विशालकाय मन्दिर निर्मित हुआ था। इसी प्रकार पालवंशीय नारायणपाल,[17] कलचुरि शासकों[18] एवं प्रतिहार सम्राटों[19] ने भी शिव मन्दिर का निर्माण कराया था। अन्यत्र प्रतिहार[20] तथा सेन[21] अभिलेख में अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति उल्लिखित है।

उपर्युक्त अभिलेखीय साक्ष्यों का गहनता से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतिभासित होता है कि तत्कालीन राजाओं में शैव धर्म के प्रति अनन्य भक्ति-भावना विद्यमान थी, जिसे जीवन्त रूप प्रदान करने के निमित्त उन्होंने कलात्मक क्षेत्र में मन्दिर एवं मूर्ति निर्माण को प्रमुखता प्रदान की।

पूर्व मध्य युग में शैव धर्म विभिन्न सम्प्रदायों (शैव, पाशुपत, कापालिक एवं कालामुख) के रूप में विकसित हुआ।[22] परन्तु उल्लेखनीय है कि उनमें से मात्र पाशुपत एवं कापालिक से सन्दर्भित अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं। अभिलेखों का अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि शैव धर्म के विस्तार के क्रम में पाशुपत सम्प्रदाय का विशिष्ट महत्त्व था। वस्तुतः पाशुपत सम्प्रदाय का उपदेश ब्रह्मा के पुत्र भूतनाथ तथा श्री कण्ठ उमापति शिव ने किया था। इस मत के प्रवर्तक लकुलीश (नकुलीश) थे।[23]

गुप्तकालीन धार्मिक इतिहास की मीमांसा करने पर ऐसा आभास होता है कि इस काल में पाशुपत सम्प्रदाय विकसित अवस्था में था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भ लेख के अनुसार उदिताचार्य एक पाशुपत अनुयायी थी। इसी प्रकार राजपूतकालीन चाहमान शासक विग्रहपाल के एक अभिलेख में इस सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। कलचुरि के अल्हण देवी (गांगेयदेव चेदि की पत्नी) के भेड़ाघाट अभिलेख में इस सम्प्रदाय की चर्चा की गयी है।

शैव धर्म के अन्य सम्प्रदाय कापालिक के इष्टदेव भैरव हैं जो शंकर के अवतार माने गए हैं। भैरव को ही सर्जन और संहार करने वाला माना गया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सुरापान करते और समाज के घृणित पदार्थ ग्रहण करते थे। राजस्थान से प्राप्त दो अभिलेखों[24] में कापालिको का यथेष्ठ विवरण उपलब्ध है।

उपर्युक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्य काल तक भारत के विभिन्न भागों में शैव धर्म अनेक रूपों में प्रचलित रहा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शैव सम्प्रदायों के अलग-अलग सिद्धान्त निर्दिष्ट थे, जिनका अनुपालन सम्बंधित धर्मावलम्बी करते थे। इसके प्रचार एवं प्रसार में विभिन्न राजवंशों के राजाओं ने उन्हें संरक्षण देकर सराहनीय योगदान दिया।

संदर्भः

1. महाभारत, वनपर्व 38.40, अनुशासन पर्व 14.1; वायु ुराण 5.41; द्रष्टव्य आर.जी. भण्डारकर, "वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सेक्टस, पृ0162 तथा बाद।
2. ऋग्वेद 7.46.3, 1.114.1 तथा 10,
3. तैत्तरीय संहिता, 4.5.1 तथा वाजसनेयी संहिता 16.1
4. अथर्ववेद, 6.93.2, 11.2.1 तथा 4, 11.27, शतपथ ब्राह्मण 9.1.1.6;।
5. मैक्स वेबर, रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ060-71
6. इपि0 इण्डि0, 2 पृ0 10
7. वही, 2, पृ0 18
8. वही, 21, पृ0149
9. वही, 1,पृ0233
10. वही, 21, पृ0 48
11. वही, 2 पृ0 18: ओम ज्ञानानन्दनम् परम ब्रह्म ब्रह्मादि सुरसेवितम्।
    वन्दनेहि महादेवे-दैवदेव जगतगुरूम्।।
12. द्रष्टव्य- जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी भाग 12, पृ0 585-589
13. दष्टव्य-मैकडानेल, हिस्ट्री ़आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0 155
14. मैक्स वेबर, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 79
15. हापकिन्स, रिलिजन आफ इण्डिया, पृ0 15-29
16. इपि0 इण्डि, 15, पृ0 306: महाराजाधिराज श्री नारायण पाल देवेन स्वयं कारित सहस्त्रायतनस्य। तव प्रतिष्ठापितस्य भगवतः शिव भट्टारकस्य।
17. वही 27, पृ0 268-269-रतनपुर अभिलेख
18. वही, 18 पृ056, बाउक के ग्वालियर अभिलेख
19. वही 19, पृ0 175; द्रष्टव्य कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, भाग 3, पृ051 तथा बाद
20. वही, 14, पृ0 159
21. पाठक, वी.एस. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, पृ0 104-5
22. महाभारत शांतिपर्व, 349.64; द्रष्टव्य पाठक, पूर्व, निर्दिष्ट, पृ0 106
23. इपि. इण्डि. 19, पृ0 47.
24. वही, पृ. 47.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राचीन भारतीय सिक्कों पर शिव

–ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव*

भारतीय धर्म और संस्कृति में शिव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः भारतीय इतिहास के प्रमुख स्रोत सिक्कों पर भी शिव, उनके प्रतीकों तथा शैव-परिवार के देवताओं का अंकन प्राप्त होता है। इस प्रकार सिक्के केवल आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि इनसे सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का भी पता चलता है। शैव धर्म की दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सिक्कों पर कभी शिव से सम्बन्धित शासकों का नाम मिलता है तो कभी इन नामों के साथ शैव-प्रतीकों का भी अंकन है। कुछ प्रसंगों में शासकों का शैव नाम न होने पर भी उनके सिक्कों पर शिव तथा उनसे सम्बन्धित प्रतीक पाये जाते हैं।

प्रारंभिक आहत सिक्कों[1] पर शिव का वाहन वृषभ (नन्दी), उनका आभूषण नाग तथा शिव-पुत्र कार्तिकेय का वाहन मयूर प्राप्त होता है। एन.पी. जोशी[2] ने आहत सिक्कों पर अंकित वृषभ को शैव धर्म से सम्बन्धित मानने में शंका व्यक्त की है, किन्तु शैव धर्म की प्राचीनता को देखते हुए आहत सिक्कों पर अंकित वृषभ को शिव का वाहन नन्दी स्वीकार करने में कठिनाई नहीं है। इन सिक्कों पर जो भी चिन्ह पाये गये हैं, उनका भारतीय संस्कृति, धर्म, समाज आदि से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहा है।

परम्परानुसार शिव ने अपने मस्तक पर चन्द्रमा को धारण किया था जिसका अंकन अनेक शिव-प्रतिमाओं में किया गया है[3]। शिव का निवास-स्थान कैलास पर्वत माना जाता है। अतः जिन सिक्कों पर तीन पर्वतों के ऊपर चन्द्रमा का अंकन प्राप्त होता है। उनका सम्बन शैव धर्म से माना जा सकता है। इस तरह के सिक्के अयोध्या, अहिच्छत्र, कोपिया,[4] कौशाम्बी, एरच[5] और मथुरा आदि अनेक प्राचीन स्थलों से पाये गये हैं।

उज्जैन प्राचीन काल से शैव धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। सिक्कों पर इसका नाम ब्राह्मी लिपि में उज्जयिनी,[6] उत्कीर्ण है। यहाँ के सिक्कों पर अंकित पुरुष-प्रतिमा को एलन[7] ने कार्तिकेय माना है और कहा है कि उनके दायें हाथ में भाला तथा बायें हाथ में कोई अनिश्चित वस्तु (थैला) है। एलन की यह पहचान उचित नहीं है। पुरुष-प्रतिमा के दायें हाथ में भाला, जैसा यौधेय-सिक्कों[8] पर अंकित कार्तिकेय के हाथ में है, न होकर दण्ड तथा बायें हाथ में थैला न होकर कमण्डल प्रतीत होता है। अतः उज्जैन सिक्कों पर अंकित इस पुरुष-प्रतिमा की पहचान शिव के रूप में किया जाना उचित है। उल्लेखनीय है कि एक सिक्के पर जिस

*रजिस्ट्रीकरण अधिकारी, 347/4, टाइप 4, राज्य शिक्षा संस्थान परिसर, एलेन गंज, इलाहाबाद, उ.प्र.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरुष-प्रतिमा की ओर वृषभ देख रहा है, उसे भी एलेन[9] ने कार्तिकेय बताया है, जबकि वृषभ शिव से सम्बन्धित है, न कि कार्तिकेय से। यदि प्रतिमा कार्तिकेय की होती तो उनका वाहन मयूर अंकित होता न कि वृषभ। अतः यह प्रतिमा निश्चित रूप से शिव की है। ऐसी स्थिति में कार्तिकेय के रूप में एलन की पहचान स्वीकार नहीं की जा सकती। पुनः एलन[10] ने उज्जैन-सिक्कों पर प्राप्त त्रिशिर प्रतिमा को कार्तिकेय माना है और कहा है कि कार्तिकेय के केवल तीन शिर ही सामने की ओर दिखायी पड़ रहे हैं और शेष तीन शिर पीछे की ओर अदृश्य हैं। उज्जयिनी के महाकाल के लिए प्रसिद्ध होने के कारण एलन[11] ने इसे शिव होने की भी संभावना व्यक्त की है। वास्तव में यह त्रिशिर प्रतिमा शिव की ही है।[12] यद्यपि भूमिका में एलन ने इसे शिव होने की संभावना व्यक्त की है, परन्तु संशय की स्थिति होने के कारण सिक्कों का विवरण देते समय पुनः इसे कार्तिकेय[13] ही माना है, जो उचित नहीं है। इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में सिक्कों पर शिव के पुरुष-विग्रह का अंकन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस काल की प्रस्तर-प्रतिमायें अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं।

ईसा पूर्व दूसरी-पहली शताब्दी में अल्मोड़ा के शिवदत्त[14] तथा शिवपालित[15] नामक शासकों के सिक्कों पर शिव के वाहन नन्दी का अंकन है। इसी प्रकार औदुम्बर शासक महादेव[16] के सिक्कों पर नन्दी एवं शिवदास[17] और रुद्रदास[18] के सिक्कों पर शिव का आयुध त्रिशूल अंकित है जो तत्कालीन शैव परम्परा को सूचित करता है। ध्यातव्य है कि इन शासकों के नाम भी शिव पर आधारित हैं।

मथुरा के शासक गोमित्र[19] तथा अयोध्या-शासक[20]-मूलदेव, धनदेव, नरदत्त, सत्यमित्र, कुमुदसेन, आर्यमित्र, और विजयमित्र के सिक्कों पर नन्दी का अंकन किया गया है, जब कि मथुरा[21] एवं अयोध्या[22] के शिवदत्त नामक शासक के सिक्कों पर किसी प्रकार का शैव चिन्ह प्राप्त नहीं होता, बल्कि उन पर मात्र शैव नाम ही अंकित है। यद्यपि शिवदत्त ने अपने सिक्कों पर शैव प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया, परन्तु उसका नामकरण तत्कालीन शैव प्रभाव को सूचित करता है। इसी क्रम में उल्लेखनीय है कि एरण[23] के लेख-विहीन एवं कौशाम्बी के अग्निमित्र[24] तथा जेठमित्र[25] के सिक्कों पर भी नन्दी का अंकन है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय सिक्कों पर शिव के वाहन नन्दी के अंकन की एक लम्बी परम्परा ज्ञात होती है, जो शैव धर्म की लोक-प्रियता की सूचक है।

यौधेयों के रजत एवं ताम्र-सिक्कों[26] पर शिव-पुत्र कार्तिकेय को षण्मुख रूप में दिखाया गया है। उनके दायें हाथ में भाला है और बायाँ हाथ कूल्हे पर है। इन सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि में क्रमशः 'भागवत स्वामिनो ब्रह्मण्य यौधेय' तथा 'भागवत स्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य' लेख भी है। इससे स्पष्ट है कि सिक्कों पर अंकित प्रतिमा कार्तिकेय की ही है। कुछ अन्य ताम्र-सिक्कों[27] पर कार्तिकेय इसी मुद्रा में हैं, परन्तु षण्मुख नहीं हैं। इस प्रकार कार्तिकेय-प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से यौधेय-सिक्कों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुणिन्द सिक्कों[28] पर 'भागवत चत्रेश्वर महात्मनः' लेख के साथ पुरुष-प्रतिमा के हाथ में त्रिशूल तथा परशु दिखाया गया है, जिससे स्पष्ट है कि यह प्रतिमा शिव की है। इसी क्रम में उल्लेखनीय है कि मघ-सिक्कों[29] पर शासकों का नाम तथा अन्य चिन्हों के साथ नन्दी का अंकन है। संयोग से दो शासकों का नाम भी शिवमघ है, जिससे मघ-काल में शैव प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी तरह अधिकांश नाग-सिक्कों[30] पर शासकों के नाम के साथ उनका वंश-नाम 'नाग' भी उल्लिखित है। नाग शिव से सम्बन्धित माना जाता है। अतः नाग-सिक्के तत्कालीन शैव प्रभाव को सूचित करते हैं। वृषभनाग, स्कन्दनाग, बृहस्पतिनाग, विभुनाग, रविनाग, प्रभाकरनाग तथा गणपतिनाग के सिक्कों पर जहाँ शिव का वाहन नन्दी है, वहीं पर भीमनाग, स्कन्दनाग तथा वसुनाग के सिक्कों पर कार्तिकेय का वाहन मयूर अंकित है। यह मयूर आहत सिक्कों पर भी प्राप्त होता है। बृहस्पतिनाग, भवनाग तथा देवनाग के सिक्कों पर शिव का आयुध त्रिशूल बना है। पुनः भवनाग के सिक्कों पर अर्द्धचन्द्र तथा विभुनाग के सिक्कों पर शिव *लिङ्ग* का अंकन है। *शिवलिङ्ग* प्रथम बार नाग-सिक्कों पर प्राप्त होता है। नाग-शासकों में गणपति और स्कन्द नाम शैव परिवार से सम्बन्धित हैं। उनका नामकरण शैव प्रभाव में ही परिलक्षित होता है। इस क्रम में रविनाग का वह सिक्का[31] विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसके पुरोभाग पर शिव का अंकन है। शिव दायीं ओर मुंह करके खड़े हैं। उनके सिर पर जटाजूट है। वे उत्तरीय पहने हैं तथा उनके बायें हाथ में नाग है। इस प्रकार शैव परम्परा एवं शिव-प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से नाग-शासकों के सिक्के महत्त्वपूर्ण हैं।

कुषाण-शासकों ने भी अपने सिक्कों पर शिव का अंकन किया है। बिमकदफिस्स के स्वर्ण-सिक्कों[32] पर शिव नेकलेस पहने हैं। उनके दायें हाथ में लम्बा त्रिशूल है और पीछे नन्दी खड़ा है। ऐसा लगता है कि शिव नन्दी के सहारे खड़े हैं। सिक्कों के पृष्ठभाग पर खरोष्ठी लिपि में लेख- *'महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महिश्वरस विमकदफिसस त्रदर'* अंकित है। इससे पता चलता है कि यह शासक शैवधर्म का अनुयायी था। पुनः उसके अन्य सिक्कों[33] पर शिव के शिर से किरणे निकल रही हैं। उनके बायें हाथ में व्याघ्र चर्म तथा दायें हाथ में त्रिशूल है। जोशी[34] के अनुसार इस समय तक शिव और अग्नि में तादात्म्य स्थापित हो चुका था।

पुनः कनिष्क के स्वर्ण-सिक्कों[35] पर ग्रीक लिपि में 'माओ'(MAO) लेख के साथ चन्द्रदेव का अंकन है, जिसे शिव ने अपने मस्तक पर धारण किया था। उसके अन्य प्रकार के स्वर्ण-सिक्कों[36] पर ग्रीक लिपि में 'ओहपो' (OHPO) लेख के साथ चतुर्भुजी शिव माला पहने हुए दिखाये गये हैं उनके हाथों में त्रिशूल, अज तथा हस्ति-चर्म है। यहाँ पर शिव का प्रभामण्डल भी प्राप्त होता है। कनिष्क के ताम्र-सिक्कों[37] पर भी द्विभुजी एवं चतुर्भुजी शिव का अंकन किया गया है।

कुषाण-शासक हुविष्क तथा वासुदेव कीभी शैव धर्म के प्रति अभिरूचि दिखायी पड़ती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। हुविष्क के स्वर्ण-सिक्कों[38] पर द्विभुजी एवं चतुर्भुजी शिव अपने आयुधों के साथ अंकित किये गये हैं। वासुदेव के स्वर्ण[40] एवं ताम्र[41] सिक्कों पर द्विभुजी शिव प्राप्त होते हैं, जिनके बायें हाथ में पाश तथा दायें हाथमें लम्बा त्रिशूल है। ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित एक स्वर्ण सिक्का[42] पर पंचमुखी शिव का अंकन प्राप्त होता है। इस क्रम में राज्य संग्रहालय लखनऊ में परवर्ती कुषाण शासकों की वह स्वर्ण-मुद्रा[43] विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिस पर शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप का अंकन किया गया है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय सिक्कों पर शिव, उनके प्रतीकों तथा शैव परिवार के देवताओं का विविध अंकन भारतीय संस्कृति में पूर्व से प्रचलित शैव परम्परा को सूचित करता है। उल्लेखनीय है कि आहत सिक्कों से लेकर कुषाण काल तक के सिक्कों पर शिव के प्रतीकों में सर्वाधिक अंकन वृषभ (नन्दी) का है। इस प्रक्रिया में वृषभ को विभिन्न रूपों एवं मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है, जिससे काल-विशेष एवं क्षेत्र-विशेष की कला तथा वृषभ की प्रजातियों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार प्रस्तर एवं मृण्मूर्तियों की तुलना में छोटे आकार के सिक्कों पर विविध मुद्राओं में शिव के त्रिशिर एवं पंचमुख के अतिरिक्त अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का अंकन भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इससे तत्कालीन कला एवं तकनीकी विकास पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही शिव-सम्बन्धी मान्यताओं की भी जानकारी प्राप्त होती है। अतः शैव धर्म एवं शिव-प्रतिमा विज्ञान के विकास की दृष्टि से भी प्राचीन भारतीय सिक्कों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भः-

1. एलन,जे0: कैटलाग आफ द क्वायन्स आफ एंसियन्ट इण्डिया, लन्दन, 1936, पृ. 9-81
2. जोशी, एन.पी.: प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पटना, 1977, पृ25.
3. राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में अहिच्छत्र से प्राप्त पार्वती की भी एक ऐसी मृण्मूर्ति सुरक्षित है, जिसमें त्रिनेत्र के साथ चन्द्रमा का भी अंकन है।
4. उत्तर प्रदेश में संतकबीर नगर जनपद के मुख्यालय खलीलाबाद से लगभग 12 कि0मी0 उत्तर में यह स्थित है। यहाँ से प्राचीन काल के ग्लास-उद्योग के अवशेष पाये गये हैं। परम्परानुसार महात्माबुद्ध ने यहीं पर राजसी वेश-भूषा त्यागकर कोपीन वस्त्र धारण किया था।
5. एरच का प्राचीन नाम, जैसा यहाँ के नगर-सिक्कों एवं बौद्ध साहित्य में उल्लिखित है, एरिकछ था। यह उत्तर प्रदेश में झाँसी जनपद के गरौठा तहसील में बेतवा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। लेखक की खोज के अनुसार एरच प्राचीन महाजनपद चेदि की राजधानी थी। अभी तक यहाँ से 10 अज्ञात शासक-मुगमुख, दाममित्र, शतानीक, आदितमित्र, मूलमित्र, अषाढ़मित्र, महासेनापति सहस्रमित्र, ईश्वरमित्र, शिवमित्र तथा राजा सात एवं बैम्बिक तथा मित्रान्त राजवंश प्रकाश में आये हैं। द्रष्टव्य-लेखक की पुस्तक - आर्कियोलॉजी आफ एरचः डिस्कवरी आफ न्यू डाइनेस्टीज, सुलभ प्रकाशन, वाराणसी, 1991 तथा अन्य शोध पत्र।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant 2.

कुषाण-सिक्कों पर OHPO एवं MAO लेख के साथ क्रमशः शिव एवं चन्द्रमा का अंकन

पुरोभाग

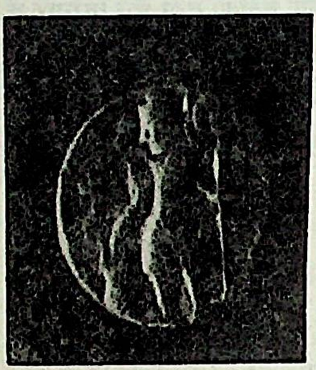

पृष्ठभाग

पुरोभाग

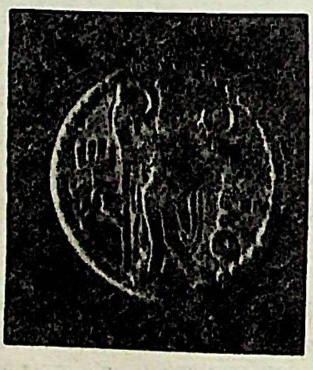

पृष्ठभाग

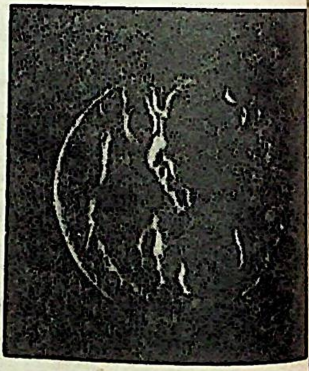

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

6. एलन, जे0: वही, पृ0 262 फलक 37-14 15; 16
7. वही, पृ0 245-250.
8. वही, पृ0 270, फलक 39-21
9. वही, पृ0 249, फलक 38-15
10. वही, इन्ट्रोडक्शन, पृ0 143
11. वही
12. शिव की त्रिशिर प्रतिमा बाद में एलिफेंटा, एलोरा, पाली आदि अनेक स्थलों से प्राप्त हुई है।
13. एलन, जे0: वही, पृ0 250-251, फलक 38-18, 19,20,21,22.
14. वही, पृ0 120, फलक 14-8,
15. वही, फलक 14-9.
16. वही, पृ0 123, फलक 14-16,17
17. वही, पृ0 122, फलक 15-1
18. वही, फलक 15-4
19. वही, पृ0 172, फलक 25-8,9,10,11
20. वही, पृ0 130-139 एवं सम्बन्धित फलक
21. वही, पृ0 183, फलक 25-26
22. वही, पृ0 133-134 एवं सम्बन्धित फलक
23. वही, पृ0 140, फलक 18-16,23
24. वही, पृ0 153, फलक 20-5 एवं 28-15.
25. वही, पृ0 154, फलक 20-7,9
26. वही, पृ0 270-275 एवं सम्बन्धित फलक
27. वही, पृ0 272, फलक 39-22
28. वही, पृ0 167-168, फलक 23-12,13,14,15
29. शास्त्री, ए.एम.: कौशाम्बी होर्ड आफ मघ क्वायन्स, नागपुर, 1979, पृ0 41-95 तथा सम्बन्धित फलक
30. त्रिवेदी, एच.वी.: कैटलॉग आफ द क्वायन्स आफ नाग किंग्स आफ पद्मावती, ग्वालियर, 1957, पृ0 1-54 एवं सम्बन्धित फलक.
31. बाजपेयी, अतिमा: मध्यप्रदेश के नागवंशीय सिक्के, पृ0 83
32. ह्वाइटहेड, आर.वी.: इण्डोग्रीक क्वायन्स, वाराणसी, 1971, पृ0 183, फलक 17-31
33. वही, पृ0 183, संख्या 32.
34. जोशी, एन.पी., वही, पृ028.
35. ह्वाइटहेड, आर.वी.: वही, पृ0 187, नं0 64, फलक 17
36. वही, नं 65, फलक 17
37. वही, पृ0 192-193 तथा फलक
38. वही, पृ0 195, फलक 18
39. वही, पृ0 199-200, फलक 19
40. वही, पृ0 208, फलक 19
41. वही, पृ0 209, फलक 19
42. वही, पृ0 208
43. जोशी, एन.पी.: वही, पृ0 30

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शैव धर्म में पाशुपत सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास

–नीहारिका*

भारतीय देवभावना में शिव का असाधारण महत्त्व एवं मान्यता है, जिसके अनुसार समस्त जागतिक तत्व शिवतत्व के अभिन्न रूप हैं और शिव से इतर कुछ भी नहीं है। शिव कल्याणकारी परमात्मा है, जो समस्त जीवों में व्याप्त है। वही सबका मूल, आधार, अधिष्ठान, निमित्त, उपादान व कारण है। वह मूर्त और अमूर्त, व्यक्त और अव्यक्त रूपों में जगत का नियन्त्रण करता है और जगतनियंता कहलाता है। वह शूलपाणि, महादेव, त्रिनेत्र (सूर्यचन्द्राग्निनयन), दिगम्बर, पंचानन, गंगाधर,चन्द्रमौलि, कपर्दी, व्याघ्रचर्मधारी आदि अनेक नामों द्वारा स्तुत्य व प्रशंसित है।

भारत की प्राचीनतम सभ्यता – सिन्धुघाटी की सभ्यता को अनेक विद्वानों द्वारा अवैदिक संस्कृति माना गया है। वहाँ से प्राप्त कुछ मुहरों पर शिव के पशुपति, नटराज और योगी रूप के प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होते हैं। साथ ही शिव के प्रतीक *लिङ्ग*की उपासना के भी स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शिव की मूर्त व प्रतीक दोनों ही रूपों में उपासना प्रागैतिहासिक काल से ही प्रारम्भ हो गई थी। सिन्धु घाटी के प्रमुख स्थल मोहन–जोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर त्रिमुखी शिव पद्मासन में विराजमान है। उनके सिर पर श्रृंग (श्रृंगाकार मुकुट) सुशोभित है। उनकी दृष्टि नासाग्र पर टिकी है। अपने इस स्वरूप में वे मनुष्य, व्याघ्र, हाथी, गैंडे तथा मृग से आवृत्त हैं। मार्शल ने इस मुहर पर अंकित आकृति (देव?) को पशुपतिं मानां है।[1] क्योंकि इसकी कम से कम तीन विशेषताएं–त्रिमुख, पशुपति व महायोगी स्वरूप शिव की विशेषताओं से मेल खाते हैं।[2] अन्य मुद्राओं पर प्राप्त अंकन शिव के प्रकृति के जनक व अलौकिक आखेटक और दिगम्बर (नग्न) रूप की ओर संकेत करते हैं।

सिन्धु घाटी के उपरोक्त प्रमाणों के पश्चात् ऋग्वेद के केवल तीन सूक्तों में शिव के नामान्तर रूद्र का उल्लेख मिलता है, जो एक भयोत्पादक देवता हैं।[3] कालान्तर में रूद्र शिव (कल्याणकारी) कहलाया और क्रमशः उसके महत्व में बृद्धि होती गई। पुराणों में वर्णित त्रिदेव में ब्रह्मा, विष्णु और शिव को क्रमशः विश्व का स्रष्टा, पालक व संहारक माना गया है।[4] इस प्रकार रूद्र की बढ़ती हुई महत्ता व लोकप्रियता का कारण अनार्यों और आर्यों या अवैदिक और वैदिक संस्कृतियों का सम्मेलन था।[5]

---

*प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, अग्रसेन कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संहिताकाल में तैत्तरीय संहिता और वाजसनेयी संहिता में उनके उग्र और कल्याणकारी रूपों में अन्तर किया गया है। यहाँ उन्हें गिरित्र, गिरीश, नीलकंठ, दिव्य चिकित्सक और खुले मैदानों में विचरण करने वाले पशुओं का स्वामी (पशुपति) कहा गया है।

अथर्ववेद में रुद्र के स्वरूप में और अधिक विकास हुआ और उनके रुद्र, शर्व, भूतपति, पशुपति, उग्र महादेव, ईशान आदि नाम प्रकाश में आए।[6]

शतपथ ब्राह्मण[7] और कौषीतकी ब्राह्मण[8] के अनुसार रुद्र उषा के पुत्र थे और उनके अथर्ववेद में वर्णित सात नामों के अतिरिक्त आठवां नाम (रूप) अशनि या वज्र थे। इनमें रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि विनाशकारी तथा भव, पशुपति, महादेव व ईशान कल्याणकारी रूप हैं। यद्यपि इसमें आठों देव भिन्न हैं किन्तु एकबार रुद्र और पशुपति को अभिन्न बताया गया है।

गृह्यसूत्र में वे घर से दूर के प्रदेशों, मैदानों, शून्यारण्यों, श्मशानों, पर्वतों, प्राचीन व विशाल वृक्षों व नदियों के देवता माने गए हैं और भयानक या भयोत्पादक वस्तुओं के दिग्दर्शन के समय स्तुत्य कहे गए हैं। इस काल में विष्णु के अतिरिक्त वे सर्वश्रेष्ठ देव स्वीकृत थे।

महाभारत के भीष्मपर्व[9] और द्रोणपर्व[10] में अर्जुन द्वारा शिव की उपासना करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है। यहां वे अत्यन्त शक्तिशाली, क्रोधी, दयालु व दानी के रूप में वर्णित हैं। अपनी पत्नी उमा, पार्वती या दुर्गा के साथ हिमालय पर निवास करते हैं और उनके सेवकगण तथा वाहन वृषभ हैं। महाभारत में पाशुपत मत का उल्लेख है – साख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै।।

यह वर्णन यह सिद्ध करता है कि कम से कम इस काल तक पाशुपत मत की स्थापना हो चुकी थी। महाभारत के नारायणी पर्व के अनुसार शिवश्रीकंठ ने, जो उमा के पति, भूतों के स्वामी और ब्रह्मदेव के पुत्र हैं। इस मत के सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था–

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।

उक्तवानिदमव्यग्रे ज्ञानं पाशुपतं शिवः।।

इस कथन से यह प्रतीत होता है कि पाशुपत मत का संस्थापक कोई मानव था जिसे बाद में शिव का अवतार मान लिया गया। जबकि यह भी संभव है कि यह कोई ऐतिहासिक कथन नहीं है और पाशुपत मत धीरे-धीरे अस्तित्व में आया[11]। किन्तु प्रथम कथन के प्रमाण वायु व *लिङ्गपुराण* में प्राप्त होते हैं जहां महेश्वर ने ब्रह्मदेव से कहा है कि युगों के अट्ठाइसवें प्रत्यावर्तन में कृष्ण द्वैपायन के समय जब वासुदेव कृष्ण जन्म लेंगे तब मैं श्मशान में पड़े हुए एक मृत शरीर में प्रवेश कर लकुलिन नामक ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होऊँगा। मेरे चार शिष्य कुशिक, गर्ग, मित्र और कारूष्य होंगे। ये पाशुपत अपने शरीर में भस्म रमा कर माहेश्वर योग करते हुए रुद्रलोक में जाएंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकार का विवरण राजस्थान के उदयपुर से 14 मील उत्तर में स्थित एकलिंग मन्दिर के समीप से प्राप्त अभिलेख में भी मिलता है। इसमें कहा गया है कि भृगु से आराधित होकर शिव भृगुकच्छ देश में एक लकुटधारी पुरुष के रूप में जन्म लेंगे। इसी लेख में लकुलीश की प्रार्थना करते हुए 'ओम् नमो लकुलीशाय' कहा गया है। 971 ईस्वी के इस अभिलेख में पाशुपत योग के ज्ञाता, भस्म, वल्कल और कुशिक मुनि का भी उल्लेख हुआ है। मैसूर प्रान्त के सीर तालुका में हेमावती से प्राप्त 943 ईस्वी के एक अभिलेख में लकुलीश के मुनिनाथ चिल्लुक के रूप में पुनर्जन्म लेने का वर्णन है। 1247 और 1296 ईस्वी के मध्य लिखित चिन्त्रप्रशस्ति अभिलेख में भी कहा गया है कि शिव भट्टारक लकुलीश के रूप में अवतरण ले लाटदेश के कारोहण में रहे–

भट्टारक श्री लकुलीश मूर्त्या तपः क्रिया कांड फल प्रदाता अवातराद्विणूवमनुगृहीतुं देवः स्वयं बालमृगांकमौलि।

माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में पाशुपत मत को 'नकुलीश सम्प्रदाय' कहा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि नकुलीश या लकुलीश नामक एक व्यक्ति हुआ था जो लकुट/लगुड (दण्ड) या लकुल (लंगोट) धारण करता था और जिसने पाशुपत मत की स्थापना की थी। (पाशुपत मत के समर्थक अपने हाथ में लाठी रखते भी हैं)। इसी लकुलीश ने पाशुपत मत के सिद्धान्तों के प्रचार व पाशुपत मतावलम्बियों के लिए आचारसंहिता के रूप में पंचार्थविद्या या पंचाध्यायी नामक ग्रंथ की रचना की थी। वर्तमान में अनुपलब्ध इस ग्रंथ के उद्धरण माधवाचार्य रचित सर्वदर्शन संग्रह नामक टीका में प्राप्त होते हैं।

तिथिः

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार लकुलीश कृष्ण द्वैपायन के समकालीन थे। इस आधार पर उनका काल प्रथम सदी से कुछ पूर्व निर्धारित किया जा सकता है। भण्डारकर महोदय उनकी तिथि दूसरी शताब्दी ई0पू0 निश्चित करते हैं।[12] गुप्तवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भलेख के उद्धरण के आधार पर यह तिथि 131 ईस्वी के लगभग निर्धारित की जा सकती है। किन्तु इससे पूर्ववर्ती साक्ष्यों में इस मत का उल्लेख यह संभावना व्यक्त करता है कि शायद यह मत पहले से ही प्रकाश में आ चुका था और बाद में लकुलीश ने इसकी पुनर्स्थापना व पुनर्प्रकाशन किया।[13] इसके काफी बाद तक यह मत प्रचलन में रहा। नवीं शताब्दी ई0 के काश्मीर स्थित पुराणदीष्थान मंदिर के तोरणद्वार पर लकुलीश की आकृति दिखायी देती है। बाणभट्ट ने भी ऐसे शैव मतावलम्बियों का उल्लेख किया है जो अपने ललाट पर भस्म लगाते थे और रुद्राक्ष की माला धारण करते थे – धवलभस्मललाटिकाभिः अक्षमालिकापरिवर्तन प्रचल करतलाभिः पाशुपत व्रतधारिणीभिः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्वानच्वांग ने भी सिंध और अहिच्छत्र में भस्म रमाने वाले पाशुपतों का उल्लेख किया है।[14] चाहमान, कल्चुरि, चेदि आदि वंशों के शासकों के अभिलेखों से भी इस संप्रदाय का उल्लेख मिलता है।

पाशुपत सिद्धान्त (पंचार्थ)- शंकराचार्य के अनुसार पाशुपत सिद्धान्तों में पांच पदार्थ (पंचार्थ) या तत्वों की सत्ता विद्यमान रहती है। कार्य, कारण, योग, विधि एवं दुःखान्त-जिनकी माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में व्याख्या की है।

1. कार्य – विश्व में विद्यमान जड़ और चेतन सत्ताएँ कार्य करती हैं, जो स्वतंत्र नहीं हैं। यह तीन प्रकार का होता है- 1. विद्या व 2. अविद्या, 3. पशु। विद्या जो पशु का गुण है। यह बोधस्वभावा और अबोधस्वभावा- दो प्रकार की होती है। बोधस्वभावा विद्या भी दो प्रकार की होती है- ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त बोधात्मक व्यक्त विद्या (चित्त) और अव्यक्त विद्या। अबोध- स्वभावा विद्या के भी दो रूप हैं- धर्म और अधर्म, जिनके लिए जीव (पशु) प्रयत्नशील रहता है। पशु भी दो प्रकार का होता है- 1. मलयुक्त- जो शरीर और कलाओं से संबद्ध है और 2. निर्मल- जो उनसे असंबद्ध है। कार्य के ही अन्तर्गत कार्यकला और इन्द्रियकला का वर्णन है।

2. कारण- समस्त वस्तुओं के सर्जक व संहारक को कारण कहते हैं। वह शाश्वत नियन्ता, अपरिमित ज्ञानी, शक्तिसम्पन्न तथा नित्य स्वतंत्र है। इसीलिए उसे 'पति' कहा जाता है। पति के रूप में वह ज्ञान और क्रिया की शक्तियों से सम्पन्न रहता है और पूर्णतः स्वतंत्र होते हुए भी वह आद्य, कर्ता और ऐश्वर्यवान के रूप में रहता है। उसमें शक्ति और कर्तव्य का तादात्म्य रहता है तथा वह स्वतंत्र कर्ता (स्वतंत्रः कर्ता – पाशुपत सूत्र) कहा जाता है।[15]

3. योग – चित्त के माध्यम से आत्मा (जीव-पशु) का परमात्मा (पति-कर्ता) से सम्बन्ध योग के द्वारा सम्भव होता है। ईश्वर का ध्यान, समाधि एवं ऊँकार का जप योग है, जो जीव और महेश्वर में तादात्म्य स्थापित करता है। यह दो प्रकार का होता है- क्रियामुक्त एवं क्रियाहीन। अच्छरों व मंत्रों का जप क्रिया युक्त तथा अनुभव व तत्वज्ञान क्रियाहीन योग हैं।

4. विधि – धर्म की सिद्धि कराने वाले क्रियाकलाप विधि कहलाते हैं, जिससे महेश्वर की प्राप्ति होती है। यह दो प्रकार के होते हैं- प्रधान और गौण। प्रधान विधि (चर्या) वह है जो साक्षात धर्म का कारण हो। इसके भी दो भेद बताए गए हैं- व्रत और द्वार। भस्म स्नान, भस्म-शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा- ये पांच व्रत हैं। उपहार छः हैं- हसित (कण्ठ और ओष्ठ द्वारा हा! हा! हा! अट्टाहास करना), गीत (महेश्वर की महिमा व गुणों का गान करना), नृत्य (हाव-भाव व भंगिमाओं के साथ नृत्य करना), हुडक्कार (जिह्वा और तालु के संयोग से वृषभ के समान स्वर करना), नमस्कार और जप।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वार छह प्रकार के होते हैं- क्राथन (जाग्रत होते हुए भी सुषुप्त व्यक्ति के समान व्यवहार करना), स्पन्दन (शक्तिहीन के समान अंगों को कंपकंपाना), मन्दन (लंगड़ा कर चलना), श्रृंगारण (कामुक व्यक्ति के समान श्रृंगारिक हाव- भाव दिखाना), अवित्वकरण (समाज द्वारा निन्दनीय कार्य करना), अवितद्भाषण (परस्पर विरोधी व निरर्थक तथा अज्ञान की बातें करना।)[16]

चर्या की सहायक विधि को गौण विधि कहते हैं। जिसमें अनुस्नान (पूजा के उपरान्त भस्म स्नान), भैक्ष्य, उच्छिष्ट, निर्माल्य (देवता पर से हटाये गए पुष्प व *लिङ्ग* धारण करना) आते हैं। इन क्रियाओं से मनुष्य में किसी के प्रति घृणा की भावना नहीं उत्पन्न होती।

5. दुःखान्त – दुःखों से मुक्ति दुःखान्त कहलाता है। मिथ्या ज्ञान, अधर्म, आसक्ति, व अल्पज्ञता आदि बन्धनकारी विषयों से मुक्त होने के लिए ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति का प्रयोग करना चाहिए। दुःखान्त भी दो प्रकार का होता है- 1. अनात्मक- जिसमें दुःखों का पूर्ण नाश हो जाता है और 2. सात्मक – जिसमें ज्ञान और कर्म की शक्ति से युक्त ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

ज्ञानशक्ति के पांच भेद हैं-

दर्शन – सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का चाक्षुष या स्पर्शादि ज्ञान।

श्रवण – समस्त शब्दों का ज्ञान।

मनन – समस्त चिन्त्य पदार्थों का ज्ञान।

विज्ञान – शास्त्रों के विषयों को शब्दार्थ सहित जानना।

सर्वज्ञत्व – गुरू द्वारा उपदिष्ट व अनुपदिष्ट सभी विषयों का सम्पूर्णता के साथ ज्ञान।

कर्मशक्ति के तीन प्रकार हैं-

मनोजवित्व – किसी भी कार्य को अविलम्ब कर लेना।

कामरूपित्व – इच्छानुसार रूप, शरीर व इन्द्रियां धारण करना।

विकरणधर्मित्व – इन्द्रिय व्यापार निरूद्ध हो जाने पर भी अतिशय ऐश्वर्ययुक्त रहना।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पाशुपत सम्प्रदाय शैव धर्म का एक अंग था, जिसका संस्थापक लकुलीश नामक एक मानव था, जिसे शिव का अंतिम अवतार मान लिया गया था। उसने इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए अनेक विलक्षण व अपरूप क्रियाएं निर्धारित की थीं। किन्तु यह मत समस्त मानव समुदाय के कल्याण के लिए था। अन्य मतों में जहाँ दुःखक्षय को ही मोक्ष मान लिया गया था, वहां इसमें परमशक्तियों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्ति को भी सम्मिलित किया गया। अन्य मतानुसार कार्य असत् से उत्पन्न होता है, जबकि इसमें कार्य नित्य है, जैसे पशु या जीवात्मा। अन्य मतों में कारण को सहायक कारण की अपेक्षा होती है किन्तु इसमें स्वयं महेश्वर स्वतंत्ररूप से कार्य करते हैं। अन्य मतों में योग का फल पूर्णस्थिति की प्राप्ति है, यहाँ योग का उद्देश्य परमशक्तियों की प्राप्ति है। अन्त में अन्य मतों में विधि के फल स्वर्गादि हैं, जहां से पुनः वापस आना होता है, परन्तु इस मत में विधि के फल ईश्वर (महेश्वर) का सामीप्य है जहां से पुनरागमन नहीं होता।

संदर्भः

1. Marshall, J.Mohen-jo-daro and the Indus Culture, pp. 77,78,85.
2. Pusalkar, A.D. The Indus Valley Civilization; The Vedic Age, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay pp.190-191.
3. ऋग्वेद, 2/1/6, 2/33/9, 10/92/9.
4. Pusalkar, A.D,. Studies in the Epics and the Puranas p.x.
5. लूनिया, बी.एन. प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 139.
6. अथर्ववेद, 4.28.1, 11.2.1, 11.2.10, 13.4.4
7. शतपथ ब्राह्मण, 6,1, 3,7.
8. कौषीतकी ब्राह्मण, 6,1,7.
9. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 38.40
10. महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय 80.81
11. भण्डारकर, आर.जी., वैष्णव, शैव व अन्य धार्मिक मत, पृ0 133.
12. भण्डारकर, वही, पृ0 134.
13. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन. पृ0 91.
14. Watters, T. On Yuan Chwang's Travels in India, pp.257.62.
15. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास. पृ0 760.
16. भण्डारकर, वही, पृ0 140.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक देव 'शिव'

कमलेश दुबे*

पश्चात्य विद्वानों ने यह लिखा है कि 'शिव' अवैदिक देवता थे। वेदानुयायी आर्यों ने शिव को अपने देवताओं में शामिल कर लिया। परन्तु वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि 'शिव' शुद्ध वैदिक देवता थे। ऋग्वेद् एवं यजुर्वेद आदि वैदिक वाङ्गमय में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में 'त्रयम्बकं यजामहे' आदि अनेक मंत्र ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से शिव का प्रतिपादन करते हैं।

'विप्राणां दैवतं शम्भुः क्षत्रियाणां रमापतिः'

रस प्रसिद्ध सूक्ति के अनुसार भगवान शिव वेद मूर्ति होने के कारण ब्राह्मणों के परम उपास्य देव हैं। अतः इन्हें अवैदिक कहना पूर्णतः गलत है।[1]

शिव को अवैदिक देवता मानने का कारण *लिङ्ग* पूजा कहा गया है। वास्तव में शिव पूजा में ही *लिङ्ग* पूजा का अन्तर्भाव माना जाता है। अतएव उसे कहीं कहीं अवैदिक बतलाया गया है। किन्तु *लिङ्ग* पूजा भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में प्राचीन काल में किसी न किसी रूप में प्रचलित थी और आज भी पर्याप्त मात्रा में देखी जाती है। *लिङ्ग* का रहस्य शिव से सम्बन्धित शिव महापुराण, *लिङ्ग* महापुराण तथा स्कन्द महापुराण में वर्णित है। परन्तु इसका रहस्य यथार्थ रूप से कहना कठिन है।

देवों में भगवान शिव ही एक ऐसे देव हैं जिनका आधा भाग स्त्री रूप और आधा भाग पुरुष रूप माना जाता है, भगवान-शक्ति के समिष्ट रूप हैं। कालीतंत्र में कहा गया है-

महाप्रलयमासाद्य कोटि ब्रह्माण्ड नायिका।
शिव शक्तिमयं देहमेकीकृत्य सदा स्थिता।।

शिव और शक्ति का संगम होने से ही सृष्टि होती है और उसी का सूचक यह *लिङ्ग* पूजा है। अतः *लिङ्ग* पूजा से भगवान शिव को अवैदिक देवता मानना युक्तिसंगत नहीं है।

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव देवों के देव थे। ऋग्वेद् में शिव को रुद्र कहा गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में एक याचक प्रश्न करता है कि बलशाली रुद्रदेव जो विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न हैं, के निमित्त किन सुखप्रद स्तोत्रों का पाठ करें।[2]

कद्रुदायँ प्रचेतसे भीलहुष्टमाय तत्यसे। वोचेत्र शान्तयं हृदे।।

---

* प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, अग्रसेन कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के तिरालिसवें सूक्त के तृतीय और चतुर्थ मंत्र में रुद्रदेव से समस्त प्रकार के कल्याण, सुखद जल तथा आरोग्य की कामना की गयी है। कहा गया है कि मित्र, वरुण और रुद्रदेव जिस प्रकार हमारे हितार्थ प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार अन्य समस्त देवगण भी हमारा कल्याण करें।[3]

यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश्चि के तति।

यथा विश्वे सजोषसः।।

उसी प्रकार कहा गया है कि हम सुखद जल एवं औषधियों से युक्त, स्तुतियों के स्वामी तथा यज्ञ के स्वामी, रुद्रदेव से आरोग्य सुख की कामना करते हैं।

गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलायभेषजम्। तच्छयोः सुम्नमीमहे।

उसी प्रकार आगे भी रुद्रदेव को सूर्य के समान सामर्थ्यवान् और स्वर्ण सदृश दीप्तिमान सभी देवों में श्रेष्ठ और ऐश्वर्यवान् कहा गया है।[5]

यः शुक्रइव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवानां वसुः।।

वे अश्वो, मेढ़ो, भेड़ों, पुरुषों, नारियों और गाँओं के लिए सब प्रकार से मंगलकारी हैं।[6]

शं नः करप्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये। नृभ्योनारिभ्योगवे।।

ऋग्वेद के द्वितीय मंडल का तैंतीसवाँ सूक्त रुद्रदेव की प्रशंसा से भरा है। इसमें रुद्रदेव को मरुतों का पिता कहा गया है तथा उन्हें श्रेष्ठ ऐश्वर्यशाली और आयुधधारी, बलवानों में सबसे अधिक बलवान और विपत्तियों को दूर भगाने वाला कहा गया।[7]

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां बज्रबाहो।

पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि।।

उन्हें उत्तम वैद्य कोमल हृदय वाले, तेजस्वी, हंसमुख स्वभाव वाले तथा उत्तम ऐश्वर्य प्रदाता और सबका पालक भी कहा गया है।[8] दृढ़ अंगों वाले अनेक रूपों के स्वामी, तेजस्वी रुद्रदेव स्वर्णाभूषणों से सुशोभित होते हैं। ये समस्त भवनों के स्वामी तथा भरण पोषण करने वाले हैं।[9]

स्थिर भिरङ्गै पुरुरूप उग्रो बभ्रु शक्रेभिः पिपिरो हिरण्यैः।

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न व उयोषद्रुद्राद सूर्यम्।।?

वे सिंह के समान भय उत्पन्न करने वाले एवं शत्रु संहारक एवं बलशाली हैं। ऐसे रुद्र स्तुति करने योग्य हैं। तैंतीसवें सूक्त का अन्तिम मंत्र रुद्र से निवेदन करता है कि हे तेजस्वी, सुखकारी, सर्वज्ञ तथा प्रार्थना को स्वीकार करने वाले रुद्रदेव आप मेरा इस प्रकार मार्ग-दर्शन करें जिसके कारण आप हम पर कभी क्रुद्ध न हों न आप हमें नष्ट करें। इसप्रकार रुद्र का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विनाशकारी रूप भी वेदों में दर्शाया गया है।[10] यजुर्वेद में भी रुद्र के सम्बन्ध में अनेक मंत्र हैं। अध्याय तीन के सत्तावन से इकसठ मंत्र में रुद्र की स्तुति की गयी है। एक मंत्र में रुद्र को तीन नेत्रों वाला (त्रिकालदर्शी) कहा गया है, आगे कहा गया कि रुद्र आपको अर्पित करने के बाद हम अन्न ग्रहण करते हैं जिससे हमें श्रेष्ठ आवास, व्यवसाय में सफलता तथा श्रेय की प्राप्ति हो।[11]

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्।

यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात्।।

तृतीय अध्याय के इकसठवें मंत्र में कहा गया है कि रुद्रदेव आप अपने शेष हवि अंश को साथ लेकर (विरोधियों के न रहने से) धनुष की प्रत्यञ्चा को शिथिल करके सम्पूर्ण प्राणियों को भय से बचाने के लिए पिनाक नामक धनुष को वस्त्रों से ढँककर अपने निवास स्थान मूजवान पर्वत के उस पार चले जाये।[12]

मूजवान जिसका दूसरा नाम 'मूजवन्त' और मुञ्वन्त है, हिमालय का एक पर्वत शिखर है जो रुद्र का निवास स्थान माना जाता है।

'मूजवान्नाम कञ्चित् पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानम'

इसी स्थान अर्थात् इसी पर्वत श्रेणी पर सोमलता मिलती थी, जिससे सोम बनता था। इसी कारण सोम का एक नाम मौजवती भी है।[13] यजुर्वेद रुद्र को चर्मवस्त्र धारी अर्थात् बाघम्बरधारी बताता है। इनका निवास पर्वत श्रेणी के पार बताया गया। है। 'पिनाक' शिव का प्रिय धनुष है। इसी कारण उन्हें पिनाकधारी भी कहा गया है।

यजुर्वेद का सोलहवाँ अध्याय रुद्र की स्तुति से भरा है। इसमें रुद्र पर्वत की गुहा में निवास करने वाले कहे गये हैं और उनका कल्याणकारी शान्त रूप पापों के विनाशक होने के कारण सौम्य और बलशाली है।[14]

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपाप काशिनी।

तया नस्तन्वा शान्तमया गिरिशन्ताभि चाक शीहि।।

नीलग्रीवाय सहस्रसाक्षाय मीढुषे[15] आदि कह कर रुद्र को नील कंठ कहा गया। इस रुद्र का रूप उदय काल में ताम्रवर्ण, मध्याह्न-काल में अरुणिम तथा अस्तकाल में भूरा बताया गया है।[16]

यजुर्वेद् में रुद्र को पशुपति, शंकर, शम्भु नाम भी दिया गया है। नमः शम्भवाय च मयो भवाय च नमः शंकराय च नमस्काराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।[17] यजुर्वेद में प्रसिद्ध रुद्राष्टाध्यायी है जिसमें शिव का वर्णन किया गया है। रुद्राष्टाध्यायी का दूसरा नाम 'रुद्रस्य इयं रुद्री' है। संक्षेप में रुद्री कह कर रुद्राष्टाध्यायी के मंत्रों से शिव का अभिषेक किया जाता है। ऋग्वेद में रुद्राष्टाध्यायी के अनेक मंत्र मिलते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदांग श्वेताश्तरोपनिषद् में भी रुद्र के अनेक नामों के साथ शिव का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में भव, शर्व पाशुपति, उग्र, महादेव तथा ईशान इन सात नामों का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार वैदिक वाङ्गमय में शिव एक प्रमुख देवता के रूप में उल्लिखित हैं। इनमें रुद्र (शिव) को धनुर्धर, जटाधारी, त्रिशूली तथा पशुपति बताया गया है। उन्हें विषपायी, नीलकण्ठ, क्रोधी, सर्प का विष दूर करने वाला, सर्व व्यापी और सर्वमङ्गलकारी कहा गया।

शिव वैदिक संहिताओं में एक सर्वशक्तिमान कृपालु भगवान के रूप में वर्णित हैं। आज जो रूप शिव का प्रचलित है वह सब वेदों में किसी न किसी रूप में प्राप्य है। सिन्धु सभ्यता के चित्रों में शिव को त्रिश्रृंग और पशुओं से घिरा दिखाया गया है। ये चित्र उन्हें (शिव) वेदों के पशुपति रुद्र सिद्ध करते हैं।

कालान्तर में रुद्र का रूप बदलकर शिव या शंकर का रूप बन गया और उनकी उपासना करने वालों का सम्प्रदाय बन गया, जिसे शैव सम्प्रदाय कहते हैं। इनकी अनेक शाखायें बनी परन्तु सबके शिव वेदों में वर्णित रुद्र की भांति कल्याण करने वाले हैं।

संदर्भ-

1. श्री शिव महापुराण 'शिवा' भाषा टीका-ब्रह्मानन्द त्रिपाठी,पृ.4
2. ऋग्वेद - 1/43/1
3. वही - 1/43/3
4. वही - 1/43/4
5. वही - 1/43/5
6. वही - 1/43/6
7. वही - 2/33/3
8. वही - 2/43/8
9. वही - 2/33/9
10. वही - 2/33/15
11. यजुर्वेद - 3, 58
12. वही - 3, 61
13. ऋग्वेद - 10/34/1
14. यजुर्वेद - 16, 2
15. वही् - 16, 8,
16. वही - 16, 6,
17. वही- 16, 41,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तन्त्र दर्शन में शिव का स्वरूप

–शीतला प्रसाद पाण्डेय*

प्रचलित प्रयोगों में शिव शब्द कल्याणवाचक है[1] तथा पौराणिक रूप से देवविशेष का नाम है ।[2] उपनिषदों में इन अर्थों के अतिरिक्त परमात्मा के लिए विशेष प्रयोग सुलभ है।

शिव वह शान्त अद्वैत तत्त्व है जिसमें प्रपञ्च का उपशम होता है । वह केवलरूप तथा सृष्टिसंहारकर्ता है । वह सभी प्राणियों में रहता है, अतः सभी मुख, शीर्ष एवं ग्रीवा आदि अंग उसी के हैं । वह सर्वेश्वर, सर्वव्यापी एवं सर्वगत है ।[3]

प्रत्यिभिज्ञा दर्शन में "शिव" के द्विधा प्रयोग पाये जाते हैं..........(1) परमशिव जो छत्तीस तत्त्वों का अधिष्ठान है और (2) शुद्ध अध्वा में प्रथम तत्त्व जो शक्ति से पृथक् भासित होता है । इस दर्शन के प्रवर्तक सोमानन्दनाथ ने परमशिव के अर्थ में प्रयोग किया है। आत्मा ही शिव है जो सभी भावों में स्फुरित रहता है । निर्वृत्ति एवं चिति उसका स्वरूप है.. ....वह शान्त चैतन्यरूप है । उसकी इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों का प्रसार अव्याहत रहता है ।[4] इसी को अभिनवगुप्त ने "परमतत्त्व" कहा है ।[4a]

परतत्त्व प्रकाश स्वरूप है । प्रकाश का स्वभाव विमर्श होता है । जिस किसी को भी अपना प्रकाश अर्थात् अपनाआभास होता है, उसे साथ ही साथ अपने अस्तित्व की प्रतीति भी होती रहती है । अभिप्राय यह है कि समस्त जीवों को "मैं" इस आभास के साथ ही "मैं" ऐसी प्रतीति भी होती रहती है । दर्पण में प्रतिबिम्बों का केवल आभास होता है, अर्थात् वहाँ प्रतिबिम्ब प्रकट हो जाते हैं। परन्तु दर्पण को उन प्रतिम्बिों के प्रकट होने की प्रतीति (awareness) नहीं होती है क्योंकि दर्पण को "मैं" इस रूप में अपनी भी प्रतीति नहीं होती ।[4b] प्रकाशरूप आभास और विमर्शरूप प्रतीति, दोनों परस्पर ओतप्रोत भाव से सदा रहते हैं । आभास ज्ञान है और प्रतीति ज्ञान की अर्थात् जानने की क्रिया है । सभी प्रापाञ्चिक विकल्पों से रहित, अतएव शुद्ध एवं शान्त परमतत्त्व लय तथा उदय से रहित है और उसी में षट्त्रिंशतत्त्वरूप जगत् भासित होता है ।[5] शुद्ध अध्वा के पाँच तत्त्वों में शिव प्रथम तत्त्व है। चिति, निर्वृत्ति, इच्छा ज्ञान एवं क्रिया परम शिव की स्वरूपात्मक शक्तियाँ हैं, जिससे वह विभक्तरूप में क्रमशः शिव, शक्ति सदाशिव ईश्वर तथा शुद्धविद्या तत्त्वों को प्रकट करता है। सभी प्रमाताओं में सभी तत्त्वों से परे महाप्रकाशरूप जो पूर्ण अहन्ता का चमत्कार रहता है वह शिवतत्त्व है ।[6] तात्पर्य यह कि जीवों की अपूर्ण अहन्ता में भी चिति की पूर्णाहन्ता परिव्याप्त रहती है जिसे इस दर्शन में "शिव" नाम दिया गया है । वह शेष पैंतीस तत्त्वों से ऊपर तत्त्व है ।

---

*निदेशक, आगमानुसन्धान केन्द्र, वाराणसी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमशिव परमेश्वर का स्वरूप अनुत्तर है। वह स्वेच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि की इच्छा से जो प्रथम स्पन्द लेता है उसी को विद्वानों ने शिव-तत्त्व कहा है। तात्पर्यतः विश्व के उन्मीलन कीं इच्छा परमशिव की वह अवस्था है जिसे शिव नाम दिया गया है। यही प्रथम स्पन्द है जिसका स्वरूप शुद्ध इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया है जिसमें स्वरूपगत आनन्दपूर्ण रहता है, अतः परम शिव ही स्पन्दरूप लेकर शिवतत्त्व बनता है।[7]

परमशिव ही परा चिति है जिसका सर्वगत स्वरूप सिसृक्षावश जो प्रथम स्पन्द लेता है वही शिव है।

वह अनुत्तर परमशिव सर्वथा और सर्वदा संविद्रूप ही होता है। कभी भी असंविद्रूप नहीं होता। जड वस्तुओं के आकार में अवभासित होता हुआ भी वस्तुतः संविद्रूप ही होता है। जड़ वस्तु की सत्ता भी तो तभी सिद्ध होती है, जब चेतन प्राणी की संवित् के भीतर उसका आभास हो[8] तो चेतन प्राणी की संवित् में आभासित होता हुआ जड़ पदार्थ भी आभासक्षण में चेतन ही होता है। क्योंकि संवित् ही तो उस जड पदार्थ के रूप को धारण करती हुई उसको आभासित करती है। यदि ऐसा न होता, तो जड़ का आभास होता ही नहीं क्योंकि आभास होना संवित् ही का स्वभाव है, जड़ का नहीं।[9]

यह संसार उस परमशिव के भीतर शुद्ध संवित् स्वरूप से रहता हुआ ही इस व्यावहारिक और सांसारिक स्वरूप में प्रकट होता है। यह सर्वथा असत्य नहीं है, आकाश पुष्प अथवा वन्ध्यापुत्र नहीं है। यह है और सत्य है। ऐसा होता हुआ ही यह उस अनुत्तर संवित् के भीतर संवित ही है। वह संवित्स्वरूपता ही इसकी पारमार्थिक सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता अकल्पित होती है और व्यावहारिक सत्ता कल्पित। परन्तु कल्पित सत्ता को भी सत्ता के ही भीतर गिना जा सकता है, असत्ता के भीतर नहीं।[7क] पारमार्थिकता और कल्पितता एक मात्र महासत्ता की दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। एक प्रकार की स्फुट अभिव्यक्ति में दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति छिपी रहती है। अतः जो कुछ है, वह परम शिव ही है, सत्य है और परासंवित् है।

शैव दर्शन की दृष्टि में ज्ञान का ही दूसरा स्वरूप या ज्ञान का स्वभाव ही क्रिया है, क्योंकि जानना भी तो स्वयं एक प्रकार की क्रिया ही है। तभी तो वर्तमान आदि काल का और उत्तम आदि पुरुष का सम्बन्ध उससे होता है। काल-सम्बन्ध और पुरुष-सम्बन्ध के बिना जानने का अवभास ही नहीं होता। ये दोनों सम्बन्ध क्रिया के धर्म हैं। अतः ज्ञान तो स्पष्टतया जानने की क्रिया ही है।[10]

परमशिव की इच्छा से ही उसी के प्रकाश के भीतर दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्बों के न्याय से जब उसी की अपनी ही शक्तियों के प्रतिबिम्ब अभिव्यक्त हो जाते हैं, तो शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक की और उनमें रहने वाले अनन्त प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाण के प्रपञ्च की तथा शरीर, भुवन, भाव आदि के अनन्त वैचित्र्य की सृष्टि हो जाती है। इसे परिणाम न कहकर स्वातन्त्र्य कहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमशिव को समझो कि चेतना का एक परिपूर्ण और असीम समुद्र है। स्वातन्त्र्य उस चेतना का स्वरूप है। यही उसका अपूर्व विलास बन जाता है। विलास ही के कारण उसे महादेव कहा जाता है। देव शब्द का अर्थ ही क्रीडाशील या विलसनशील होता है। परमशिव के इस विलसन-स्वभाव को आनन्द कहा जाता हैं परमशिव चिद्रूप है। चिदात्मकता उसका स्वरूप है और आनन्दरूपता उसचिद्रूपता का स्वभाव है। स्वभाव स्वभावी से भिन्न नहीं ठहरता। अतः चित् और आनन्द दोनों साथ-साथ ओतप्रोत भाव से रहते हैं। एक भाव की प्रधानतया अभिव्यक्ति हो, तो दूसरा भाव उसी के भीतर गौणरूप से विद्यमान रहता है। परमशिव की आनन्दात्मकता उसमें रहने वाली एक प्रकार की हलचल जैसी कोई विशेषता होती है।

परमशिव की इस पारमेश्वरी लीला के मुख्य पाँच अंग होते हैं। वे पाँच कृत्य कहलाते हैं। उनके नाम हैं- सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह है।[11]

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में परमशिव इन पाँच कृत्यों को निभाने के लिए पाँच-पाँच रूपों में प्रकट होते हैं। उन पाँच रूपों को पाँच कारण कहा जाता है। ये कारण मानों परमेश्वर के प्रतिनिधि होते हैं, जो उसके पाँच कृत्यों को निभाते रहते हैं। ये पाँच कारण होते हैं-ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सदाशिव।[12] यद्यपि इन पाँचों कारणों में से प्रत्येक में पाँचों कृत्यों को करने की शक्ति होती है, फिर भी एक-एक ही कार्य को निभाने में इनका मुख्य अधिकार होता है। पारमेश्वरी लीला के असीम क्रीडाङ्गन में ब्रह्माण्डों की संख्या को गिना ही नहीं जा सकता।[13]

शाक्ततंत्र में परमशिव के स्थान पर परा चिति शब्द व्यवहृत होता है क्योंकि शाक्त मत में चिति ही त्रिपुरा एवं परा शक्ति है।

अर्थात् परा चिति जब अपने से बाहर विच्छिन्न आभास देती है तब उसे शिव-तत्त्व कहते हैं और उसका बाह्य आभास शक्तितत्त्व कहा जाता है। परा चिति में शिव एवं शक्ति का भेद नहीं है।[14]

अर्थात् परमेश्वरी परा चिति अपनी शुद्ध स्वातन्त्र्यशक्ति से अपने को अनेकधा परिच्छिन्न रूप में भासित करती है। उसी के अद्वय स्वरूप में शक्ति से पृथक किन्तु चिति से अपृथग्भूत शिव तत्त्व का अवभास होता है।[15]

द्वैतपरक शैवदर्शन में शिव एवं परमशिव में भेद नहीं किया जाता। जीवरूप पशु शिवरूप पशुपति से सर्वथा भिन्न माने गये हैं। शिव को इस प्रकार परिभाषित करते हुए कहा गया है कि शिव अनादि मलों से रहित, सर्वकर्त्ता एवं सर्वज्ञ हैं।[16] इससे स्पष्ट होता है कि जीव अनादिमलों से वेष्टित रहने के कारण अल्पकर्ता तथा अल्पज्ञ है। शिव के पाँच कार्य बताये गये हैं। जीव के फल भोग हेतु शिव के पाँच कृत्य हैं- जगत् का जन्म, स्थिति, ध्वंस, तिरोभाव तथा मुक्ति। यथायोग्य भोग से जीव को च्युत न होने देना तिरोभाव है। इस प्रकार जीव से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बद्ध भोग एवं मोक्ष के लिए शेष तीन कार्यों की व्यवस्था है। फलभोग के समय कर्त्ता को अपने पूर्वकर्म का ज्ञान नहीं रहता, अतः उसे तिरोभाव कहा गया है।[17]

शैवागम में तीन मुख्य तत्त्व हैं- (1) पति या पशुपति शिव है जो मुक्तिदाता होने से पशु एवं पाश की अपेक्षा प्रबल हैं, (2) अणुओं को पशु कहा गया है और (3) अर्थपञ्चक को पाश तत्त्व कहते हैं- मल, कर्म, माया, मायाजनित जगत् तथा तिरोधानशक्ति अर्थपञ्चक हैं।[18] पशुपति या शिव ही परम तत्त्व है। माया आदि अचेतन तत्त्व है जिनका प्रवर्तक चेतन ही हो सकता है, अतः पशुपति की अनुमान से सिद्धि होती है, वह सर्वकर्त्ता होने से सर्वज्ञ है और इसी हेतु से उसका विभुत्त्व सिद्ध है। वह सर्वदा उदित रहता है क्योंकि कार्यजगत् निरन्तर पाया जाता है।[19]

कर्त्ता (शिव) अवस्थाभेद से त्रिधा हो जाता है- शक्त, उद्युक्त एवं प्रवृत्त। जब कार्यमात्र उपादान में लीन रहता है तब उत्पादनशक्तिमात्र से युक्त होने के आधार पर शक्त कर्त्ता व्यवस्थित है, जब उसकी शक्ति कार्योत्पादन के प्रति अभिमुख होती है तब उद्युक्त कर्त्ता कहा जता है और कार्य उत्पन्न करके प्रवृत्त शक्ति से युक्त कर्त्ता प्रवृत्त माना गया है। एक ही कर्त्ता की शक्ति के प्रवृत्तिभेद से त्रिविधता को उपचारतः व्यवस्थित किया गया है।[20]

ये तीनों अवस्थाभेद लौकिक कर्त्ता में भी यथावत् देखे जा सकते हैं। शिव के कर्तृत्त्व की नवधा व्यवस्था यहाँ विशेषतः पायी जाती है। अर्थात् एक ही कर्त्ता शिव नवधा भेद लेता है।[21]

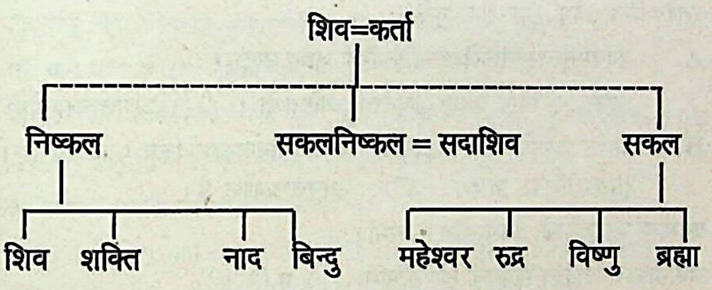

तंत्रागम साधना दर्शन में समग्र विश्व शिव का उन्मेष है। समस्त पदार्थों की परम प्रतिष्ठा उसी में है। विश्व की समूची भावना का बोध उसी शिव से होता है। पार्वती उनकी शक्ति है। दिव्यता का नर-पक्ष निष्क्रियता और निर्द्वन्द्व शान्ति के गुणों से विभूषित है। नारी-पक्ष(शक्ति) में गतिशीलता का तत्व या सक्रिय बनाने वाली ऊर्जा है, काल की गतिशीलता है। वाह्य रूप से परस्पर विरोध करते हुये, दिव्यता के दो तत्व या पक्ष मूलतः एक ही है-

सुमेरौ परमाणौ वा समाधौ व्युत्थितावपि।
न तया रहितो देवो देवी तद्रहिता न हि।। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,58।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्दर्भः

1. अमरकोश- 1/4/25। 2. वही, 1/1/30।
3. A. प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्। (माण्डूक्य उपनिषद् 7)।
   B. शिव एव केवलः। (श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/18)।
   C. भावाभावकरं शिवम्। (श्वेताश्वतर उपनिषद् 5/14)।
   D. सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
   E. सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात् सर्वगतः शिवः।। (श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/11)।
4. A. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्वपुः।
   अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।(शिवदृष्टि 1/2)।
   B. अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
   बोधः परं निजविमर्श सानुवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु।।तन्त्रासार,पृ019
5. सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
   यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्।।(परमार्थसार-11)
6. शिवशक्तिसदा शिवतामीश्वरविद्यामयी च तत्त्वदशाम्।
   शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति।।
   शक्तयश्चिन्निर्वृतीच्छाज्ञानक्रियाख्याः पञ्च।.....सर्वप्रमातृ-
   णागन्तः पूर्णाहन्ताचमत्कारमयं सर्वतत्त्वोत्तीर्णं महाप्रकाशवपुर्यच्चैतन्यम्,
   एतदेव शिवतत्त्वम्। (योगराजविवृति)।
7 A. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टुम्।
   पस्पन्दे, स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।। (षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह)
   B. शिवतत्त्वं नामेच्छाज्ञानक्रियात्मक- केवलपूर्णानन्दस्वभावरूपः परमशिव एव।
   (प्रराप्रवेशिका, पृ06). C. अनुत्तरप्रकाश-8।
8. एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
   जडाःप्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।। (अ.प्र.सि.13)
9. A. प्रागिवार्थोप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया बिना। (ई.प्र. 1-5-2)
   B. अप्रकाशस्य प्रसिद्धिरेव न काचित्। स्वात्मनि हि नीलं
   यदि पीतं न किञ्चद्वा..........तद्यदि प्रकाशस्तदा भवत्यर्थः। (ई.प्र.वि. 1-5-4)
   C. अर्केन्दुदीपाद्यवभासभिन्नं न भात्यतिव्याप्ततया ततश्च।
   प्रकाशरूपं तदियत् प्रकाश्य प्रकाशिताख्या व्यवहार एव।। (परमार्थचर्चा 1)
9क. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी-2/2/4
10. घटादिग्रहकालेऽपि घट जानाति सा क्रिया।
   जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेद न क्षतिः।।
   औन्मुख्याभावतस्तस्य निवृत्तिर्निवृतिं बिना।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेत्ति बिना चितम् ।। (शि0दृ0 1-24, 25)

11. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थवभासिने ।। (प्र0हृ0पृ0 1)

12. तद्यां ब्राह्मया सृष्टिं सृजति विधिरिन्द्रावरजनिर
इमां वै वैष्णव्यावति हरति रौद्रयूपि च हरः ।
विधत्ते चैशान्येश्वर इह महाशक्तिकलया
सदाशम्भुः स्वात्मन्यकलमनुगृह्णति कलयन ।। (देवीनाम विलास 4-18)

13. न च ब्रह्माण्डानां संख्याविद्यते । (तं0सा0पृ064)

14. या चितिश्चात्र विच्छिन्नाभसिनी बहिरात्मनः ।
शिवतत्त्वमिति प्रोक्ता शक्तिस्तद्भासनं भवेत् ।। (त्रिपुरा रहस्य, ज्ञानखण्ड 14/61)

15. परा चितिः परेशानी स्वच्छस्वातत्र्यवैभवात् ।।
अवाभासयदात्मानं परिच्छिन्नमनेकधा । (त्रिपुरा रहस्य, ज्ञानखण्ड 18/77-78)

16. अथानादिमलोपतः सर्वकृत सर्वविच्छिवः । (मृगेन्द्र तन्त्र 1/2/1)

17. जगज्जन्मस्थितिध्वंस-तिरोभाव-विमुक्तयः ।
कृत्यं सकारकफलं ज्ञेयमस्यैतदेव हि ।। (मृगेन्द्रातन्त्र 1/2/3)
तिरोभावो यथानुरूपाद् भोगादप्रच्यावः । टीका

18. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति त्रितयम् ।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोर्थपञ्चकं पाशः । (तत्त्वप्रकाश 5)
मलं कर्म च माया च मायोत्थमखिलं जगत् ।
तिरोधानकरी शक्तिरर्थपञ्चकमुच्यते । शिवः पशुपतिः प्रोक्तः । (तात्पर्यदीपिका में उद्धरण)
बलीयान् पशुपाशेभ्यस्तन्मोचकतया हरः ।।(नरेश्वरपरीक्षा 3/149)

19. अचेतनस्य मायादेः प्रवर्तकतया पतिः ।
सिद्धः सर्वार्थवित् कर्त्ता व्यापकः सततोदितः ।। (शैवपरिभाषा पृ0 31 उद्धरण)
शिवः संकलपमात्रेण बिन्दुक्षोभकरः सदा । (पौष्करागम, पतिपटल 28)

20 अयं च कर्तावस्थाभेदेन त्रिविधः शाक्त उद्युक्तः प्रवृत्तश्चेति ।
यदा सर्वं कार्यमुपादाने लीनं तदा तज्जननमात्रशक्तियुक्तत्त्वाच्छक्तः ।
यदा तु तदीयशक्तिः कार्यजननाभिमुखी तोद्युक्तः यदातुसा जनितकार्या तदा
प्रवृत्तशक्तियुक्तत्त्वात् प्रवृतः । तदुक्तं श्रीमृगेन्द्र-
शक्तोद्युक्तः प्रवृत्तश्च कर्त्ता त्रिविध इष्यते ।
शक्तेः प्रवृत्तिभेदेन भेदस्तस्योपचारतः ।। (शैव परिभाषा पृ032)

21. एवमेक एवायं कर्त्तानवधा भिद्यते । तत्र शिवशक्तिनादबिन्द्वा ख्याश्चत्त्वारो
निष्कलभेदाः । सदाशिवाख्यः सकलनिष्कल एकः महेश्वररुद्र विष्णुब्रह्माख्याश्चत्त्वारः
सकलभेदाः ।। (शैव परिभाषा पृ0 33)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रुद्र

–झिनकू यादव*

भारतीय परंपरा में ऋग्वैदिक काल से ही अनेक देवी–देवताओं के प्रति आस्था–विश्वास एवं यजन–याजन की परंपरा चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के समग्र विकास में इन आस्थाओं का बहुत बड़ा योगदान है। इन आस्थाओं से व्यक्ति एवं समाज के सर्वांगीण विकास में शक्ति एवं प्रेरणा मिलती रही है। यही शक्ति एवं प्रेरणा उसके इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख–सुविधाओं की आधार–शिला है। भारतीय परंपरा में वैदिक काल से ही सुख दो प्रकार के बताये गये हैं– भौतिक एवं आध्यात्मिक। भौतिक सुख के मूल आधार प्रवृत्तिमूलक हैं, जबकि आध्यात्मिक सुख के मूलाधार निवृत्तिमूलक। प्रबृत्तिमूलक सुख के तीन उपादान हैं– धर्म, अर्थ और काम, जबकि आध्यात्मिक अर्थात् निबृत्तिमूलक सुख का आधार मोक्ष है। यहाँ प्रबृत्तिमूलक सुख के आधार को धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति बताया गया है, जिसे पुरुषार्थ की संज्ञा भी दी गई है। इन तीनों का सुनियमित एवं अनुशासनिक संपादन ही मोक्ष अर्थात् चतुर्थ पुरुषार्थ का आधार बनता है। इन धर्म, अर्थ एवं काम में एक दूसरे का अभिन्न संबन्ध है। बिना एक के दूसरे की प्राप्ति संभव नहीं है। इसीलिए धर्म का अर्थ से और अर्थ का धर्म से तथा काम का इन दोनों से अन्योन्याश्रित संबन्ध है। सामाजिक संगठन एवं ब्यक्तिगत जीवन के विकास की प्रक्रिया में अर्थ एवं काम पर धर्म का बहुत बड़ा अंकुश रहता है और यही अंकुश ही धर्म एवं अर्थ नामक पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक होता है। धर्म की अनुपस्थिति में अर्थ एवं काम पैशाचिक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता, देवत्व तो बहुत दूर की बात है। इस प्रकार धर्म का महत्व समाज में प्रधान हो जाता है। इसीलिए हमारे वैदिक ऋषि–महर्षियों ने धर्म के प्रति आस्था का उद्घोष किया। यही आस्था एवं विश्वास ही धर्म का आधार है।

धर्म का अर्थ धारण करने अर्थात् आचरण करने से लगाया जाता है और आचरण में वह आस्था एवं विश्वास दिशा–निर्देशन का कार्य करते हैं। अति प्राचीन काल में जब मनुष्य जंगलों, कन्दराओं, पहाड़ की गुफाओं, नदियों की तलहटी आदि में रहता था तो उसका सम्बन्ध सीधे प्रकृति से था। वन, पर्वत, नदियाँ, वायु, जल, अग्नि, झंझावात तूफान, सूर्य की

*निदेशक, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection, Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोशनी, बादलों की गरज एवं बिजली की चमक, वनस्पति आदि सब में अलौकिक शक्ति का रूप देखा और यही अलौकिक शक्तियाँ ही आदि मानवों के लिए देवत्व का रूप धारण कर लीं। प्राकृतिक तत्वों के अनेक रूपों को वैदिक आर्यों ने असंख्य देवों की मान्यता प्रदान की। इनमें पृथ्वीलोक, द्युलोक एवं अंतरिक्ष लोक के देवता शामिल हैं। इन देवों की परिकल्पना एवं आस्था-विश्वास जागृत करने की परंपरा की प्रक्रिया में प्राच्य वैदिक आर्यों ने मेघों की गरज, बिजली की चमक एवं कड़क, झंझावात-तूफान, जंगल एवं वनों की भयंकर श्मशान जैसी डरावनी स्थिति, प्रलयंकारी तूफान, महामारी एवं प्रचंड अग्नि में रुद्र देव की परिकल्पना की। आगे चलकर प्रार्थना-पूजा आदि के माध्यम से इनकी शांत एवं मंगलकारी स्थिति को शिव (कल्याणकारी देव) की मान्यता प्रदान की गयी।

'रुद्र' (रोदिति-रुद्+रक्) शब्द को भयानक, भयंकर, डरावना एवं भीषण आदि अर्थ में लिया गया है।[1] यहाँ रुद्र का अर्थ देव समूह विशेष अर्थात् एकादश रुद्र के रूप में भी लगाया गया है। ऐसा माना जाता है कि रुद्र शंकर या शिव का अपकृष्ट रूप है, जहाँ शिव स्वयं इस समूह के मुखिया हैं। जैसा कि गीता में इसका उल्लेख आया है- 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि।[2] मोनियर विलियम्स[3] ने रोदिति का अर्थ रुद्र या रुध से लगाया है, जिसका सम्बन्ध रुधिर से है। यहाँ उन्होंने इसका विशेष अर्थ शक्तिशाली एवं सर्वशक्ति सम्पन्न आदि से लगाया है। वैदिक ऋषियों ने रुद्र की परिकल्पना बुराइयों, महामारियों एवं भयावह स्थिति को भगाने वाला, चक्रमण करने वाला एवं गर्जन करने वाला आदि अर्थों में प्रयुक्त माना है। वेदों में इन्हें इन्द्र का निकटस्थ बताया गया है और अग्नि का तो और अधिक निकटस्थ माना गया है। इन्हें भयानक प्रलयंकारी, महामारी, रोग-शोक,-झंझावात तूफान एवं संहारक बताया गया है। साथ-साथ इन्हें दुष्टों को मृत्युदण्ड या महामारी देने वाले देव के रूप में कालरूप बताया गया है।[4] 'रुदिर अश्रु विमोचने' धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने के बाद 'रोक्षेर्णि लुक्च' इस उणादि सूत्र के अनुसार रक् प्रत्यय का आगम और 'णिच्' का लोप हो जाने से 'रुद्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है। 'यः रोदयति अन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः' अर्थात् अन्याय (पापकर्म) करने वालों को रुलाने वाला देव ही रुद्र है।[5]

रुद्र के व्यापक अर्थ एवं उनकी उत्पत्ति तथा शक्ति सम्पन्नता की जानकारी वैदिक एवं उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में विस्तृत रूप से मिलती है। इस क्रम में अथर्ववेद में आया है कि वेद की आज्ञा भंग करने वालों को रुद्र दण्ड देते हैं।[6] सायणाचार्य ने रुद्र के दो स्वरूपों का वर्णन किया है- एक शांत एवं दूसरा घोर। उनमें घोर रूप अग्नि है और शांत रूप शिव है।[7] विष्णुपुराण[8] में रुद्र को ब्रह्मा के मस्तक से उत्पन्न हुआ बताया गया है, जो बाद में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्ध नारी एवं अर्ध पुरुष के रूप में परिवर्तित हो गये। पुनः प्रथम भाग ग्यांरह (एकादश) रुद्रों के रूप में परिवर्तित हो गये और यही बाद में शिव के रूप में मान लिये गये। वायु पुराण[9] में रुद्र को शिव के आठ रूपों में से एक माना गया है। ऋग्वेद[10] में रुद्र को भक्तों के दुःखों को नाश करने वाला बताया गया है। यहाँ आया है कि 'हे रुद्र! आपका वरद सुखदायी हाथ कहाँ है जो सबको सुखी करने वाला है? उससे मेरी रक्षा करो। हे पापों के विनाशक मुझ अपराधी के अपराध को क्षमा करो।' अथर्वशिरस उपनिषद्[11] में रुद्र को 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाम्' बताया गया है। इसी प्रकार श्वेताश्वरोपनिषद्[12] में आया है कि 'वह एक ही देव है जो रुद्र कहलाता है। ब्रह्मवेत्ताजन इस देव को मानते हैं। रुद्र देव अपनी नियामक शक्ति से इस लोक को नियम में रखते हैं।' कौशीतकि ब्राह्मण[13] में आया है कि 'रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्' अर्थात् रुद्र सभी देवों में अग्र हैं, ज्येष्ठ हैं, पुराण पुरुष एवं श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार श्वेताश्वरोपनिषद्[14] में आया है कि विश्व के अधिपति महर्षि रुद्र ने सभी देवों को उत्पन्न कर उन्हें धारण किया है। उन्होंने हिरण्यगर्भ को पहले उत्पन्न किया है, वह हमें शुभ बुद्धि से युक्त करें। ऋग्वेद में तो अनेकों बार रुद्र का उल्लेख हुआ है, साथ-साथ उनकी स्तुति में उन्हें शक्ति सम्पन्न एवं प्रचण्ड शक्तिशाली देव के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। श्वेताश्वरोपनिषद्[15] में आया है कि इन ब्रह्माण्डवर्ती भुवनों पर ब्रह्मा रूप में शासन करता हुआ और उत्पन्न होने वाले प्रत्येक शरीर के मध्य में चेतन रूप में विराजमान तथा प्रलय के समय कोप में भरकर संहार करता हुआ एक अद्वितीय रुद्र ही अपनी अनन्त शक्ति उमा के साथ स्थित है। उससे पृथक दूसरा कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार यजुर्वेद्[16] के रुद्राध्याय में रुद्र शब्द के सौ नामों का उल्लेख है, इसीलिए इसे 'शतरुद्री' भी कहा गया है। तैत्तिरीयारण्यक[17] में आया है कि उत्तम रूप ऋतम् अर्थात् रुद्र ही सत्यम् अर्थात् ब्रह्मा है। आगे इसी ग्रंथ में आया है कि रुद्र ने कण्ठ में मायारूप तम को धारण किया है और वाम भाग में उमा को धारण किया है। यहाँ उन्हें परिणामरहित, त्रिपाद स्वरूप, कूटस्थ, निराकार और समस्त जगत के आकार में विवर्त रूप में ब्याप्त माना गया है। अथर्वशिरस उपनिषद्[18] में रुद्र की महिमा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि 'जो ॐकार है वह प्रणव है, जो प्रणव है वह सर्वव्यापी है, जो सर्वव्यापी हैं वह अनन्त शक्ति स्वरूपा उमा है, जो उमा है वही तारकमंत्र ब्रह्मविद्या है, जो तारक है वही सूक्ष्म ज्ञान शक्ति है, जो सूक्ष्म है वही शुद्ध है, जो शुद्ध है वही विद्युत अभिमानी उमा है, जो उमा है वही परब्रह्म है, वही एक अद्वितीय रुद्र है, वही ईशान है, वही माहेश्वर एवं महादेव है।' वह रुद्र भगवान समस्त प्राणियों के सिर, ग्रीवा आदि अंगों वाले हैं और सबके हृदय में क्षेत्रज्ञ रूप में शयन करने वाले हैं वह सर्वव्यापी, ब्रह्माण्ड में स्थित सुखस्वरूप शिव हैं।[19] यहाँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को अपने विराट रूप दर्शन के समय विष्णु के स्वरूप से इस रुद्र के स्वरूप की तुलना की जा सकती है, जो थोड़े-बहुत अंतर के साथ काफी साम्य दिखता है। ऐसा लगता है कि उत्तरवैदिक काल तक आते-आते वैष्णवों एवं शैव मतावलम्बियों ने रुद्र शिव एवं विष्णु की विभूतियों, ऐश्वर्यों, शक्ति एवं स्वरूपों का बढ़-चढ़ कर वर्णन किया है, शक्ति एक ही है चाहे वह ब्रह्मा हों, विष्णु हों या रुद्र शिव हों। लगता है उपनिषद्कारों ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अपने ईष्ट का रूप देखा और जड़-चेतन सभी में उसी ब्रह्म के सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर एवं बृहद् से भी बृहत्तर रूप का दर्शन किया। इसी संदर्भ में हम अथर्ववेद[20] में पाते हैं कि अग्नि, वायु, विद्युत एवं सूर्य आदि प्रकाश वाले समूह में जो रुद्र पुरुष रूप में प्रविष्ट हुआ है तथा जो जल, चन्द्रमा एवं नक्षत्रादिकों में व्याप्त है वही प्राणियों के हृदय, कण्ठ एवं चक्षु तथा वनस्पतियों के अन्तर्गत अन्न, घास आदि में स्थित है। इन नाना रुपात्मक समस्त चराचर को उत्पन्न करके पालन करने एवं अन्तकाल में इनका संहार करने में जो समर्थ है वही अद्वितीय एवं सर्वव्यापक 'रुद्र' है। रुद्र की स्तुति में ऋग्वेद्[21] में उन्हें सभी देवों को उत्पन्न करने वाला (देवानां प्रभवः), विश्व का एक मात्र अधिपति (विश्वअधिपः), महर्षि अर्थात् महाज्ञानी, अतींद्रियार्थदर्शी, हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाला बताया गया है। इतना ही नहीं यहाँ उन्हें 'भुवनस्य पितरं रुद्रम्', 'बृहन्तम्' (सबसे बड़ा), 'ऋष्यम्' (ज्ञानी) एवं 'अजरम्' (जरारहित) बताया गया है।

वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में रुद्र शिव के उद्भव एवं विकास के इतिहास पर यदि ध्यान दिया जाय तो रुद्र का शांत एवं कल्याणकारी रूप शिव ही माना जा सकता है। इसी रुद्र रूप में ही शिव रूप के विकास का श्रीगणेश होता है। स्पष्टतया रुद्र एवं शिव एक ही हैं जिसका प्रमाण हमें ऋग्वेद[22] में उल्लिखित 'रुद्रस्य परमेश्वरस्य', अथर्ववेद[23] में 'रुद्रः संहर्तादिवः', जगतस्रष्टा सर्वजगदनुप्रविष्ठः रुद्रः[24] एवं 'रुद्रः परमेश्वरः' आदि विभूतियों से विभूषित किया गया है। यहाँ अथर्ववेद् में रुद्र को धाता-विधाता, रुद्र, महादेव, मृत्यु, रक्षस आदि विशेषणों से भी सम्बोधित कर उनकी स्तुति की गयी है।[25] आज भी उसी वैदिक एवं उत्तर वैदिक परंपरा के पालन में ग्रहों को शांत कर दुखदारिद्र्य को दूर करने तथा दीर्घायु, आरोग्य सुख एवं मंगल कामना की पूर्ति के लिए रुद्राभिषेक की परंपरा चली आ रही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपरोक्त वैदिक एवं उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में आये संदर्भों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'रुद्र' ही अति प्राचीन शिव हैं, जिन्हें प्रकृति की महाशक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। जिस प्रकार प्रकृति से परे कुछ नहीं है उसी प्रकार 'रुद्र' से भी परे कुछ नहीं है। वही स्रष्टा, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता हैं और सभी मंगल एवं कल्याण के मूल 'शिव' तत्त्व हैं।

संदर्भ :

1. वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ0 859.
2. गीता 10/23.
3. मोनियर विलियम्स – संस्कृत-इंगलिश डिक्शेनरी, पृ0 883.
4. वही, पृ0 883.
5. देखिए, कल्याण-शिवाङ्क, पृ0 217
6. अथर्ववेद, 11/2/93
7. कल्याण-श्वािङ्क, पृ0 217
8. विष्णु पुराण 1/7
9. वायु पुराण 1/8
10. ऋग्वेद, 2/7
11. अथर्वशिरस उपनिषद्, 5
12. श्वेताश्वरोपनिषद्, 3/2
13. कौशीतकि ब्राह्मण, 25/13
14. श्वेताश्वरोपनिषद्, 3/4
15. वही, 4/18
16. यजुर्वेद, अध्याय-16
17. तैत्तिरीयारण्यक, 10/12
18. अथर्वशिरस उपनिषद्, 2/4
19. श्वेताश्वरोपनिषद्, 3/11.
20. अथर्ववेद, 7/92/1
21. ऋग्वेद, 6/49/10
22. वही, 6/28/7
23. अथर्ववेद, 1/19/3
24. वही, 7/92/1
25. वही, 13/6

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृति में शिव

–ललिता शुक्ला*

शुभार्थक 'शीङ्' धातु के साथ 'वन्' प्रत्यय का योग करने से 'शिव' शब्द बनता है। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से 'शिव' शुभ, मंगल और कल्याण के भावों का बोधक है। प्रकृति और विकृति के अनेक आकर्षणों का व्यवधान होने पर भी मनुष्य सृष्टि के आदिकाल से संस्कृति की उस उच्च भूमि तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है, जहाँ उसका जीवन शुभ, मंगल और कल्याण के भावों का निर्बाध वरण कर सके। संसार का कोई भी मनुष्य अपने लिए अशुभ फल की कामना नहीं करता। अपना अमंगल या अकल्याण नहीं चाहता। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि शिव संस्कृति का मूल भाव है जो बीज रूप में मनुष्य में ही नहीं, अपितु संसार के प्रत्येक जीव में वर्तमान रहता है।

भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ध्वंसावशेष 'हड़प्पा' एवं मोहनजोदड़ो' की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इन नगरों से जिस प्राचीन सभ्यता का पता चलता है, उस पर शैव प्रभाव की व्यापकता प्रमाणित हो चुकी है।[1] प्राप्त मूर्तियों के आधार पर यह तथ्य स्वीकार कर लिया गया है कि सिन्धुघाटी के प्राचीन निवासी शिव और उनकी शक्ति की पूजा करते थे।[2]

वैदिक संस्कृति के अभ्युदय के साथ, शुभ, मंगल, कल्याण और आनन्द के भावों की स्वीकृति ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं में अभिव्यक्ति मिलती है, यथा प्रथम मण्डल में ही कल्याण एवं आनन्द की कामना करते हुए कहा गया है –

" य उद्रीचन्द्र देवंगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम्।
त्वांस्तोषां त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः अतरं दधानाः।[3]

सभ्यता के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में प्रकृति के रूप में स्पष्टतः शिव और उनकी शक्ति का वह परमेश्वरतत्व स्वीकार कर लिया गया है, जो सामूहिक सांस्कृतिक जीवन के चरम मंगल शिव का प्रतीक है, यहां एक ऋषि का उद्घोष है –अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रान्तरो ववृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रूद्र एषां सुदुधा वृश्निः सुदिना मरूद्भ्यः।[4] अर्थात् " हम सब ज्येष्ठ, कनिष्ठ, लघु, उच्च सब मिलकर सौभाग्य के लिए उन्नतिशील हों। कल्याणकारी श्रेष्ठकर्मा रूद्र परमेश्वर हम सब के पिता हैं तथा सब को सुख देने वाली, सुमधुर दूध पिलाकर पोषण करनेवाली प्रकृति हम सबकी माँ है।"

'रूद्र' शिव का एक नाम है और वह उनके एक रूप मात्र का प्रतीक है– पूर्ण रूप का नहीं। ऋग्वेद में विस्तार पूर्वक रूद्र का स्तवन किया गया है। कल्याण और मंगल की स्थापना के लिए संहार की अपेक्षा भी होती है। अमंगलकारी तत्वों का विनाश किए बिना मंगल भाव का प्रसार संभव नहीं

*रीडर, शिक्षाशास्त्र विभाग, हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता। इसीलिए वैदिक मनीषियों ने शिव के सद् रूप का अंकन पर्याप्त भयंकरता के साथ किया है। शंभु,[5] हर,[6] आदि उसी सत्ता के अन्य नाम हैं जिनका उल्लेख ऋग्वेद् में स्पष्ट रूप से मिलता है। यजुर्वेद के शतरूद्रिय सूक्त में विस्तार पूर्वक 'शिव' नाम से तो उस परमेश्वर की स्तुति की ही गई है,[7] लोक प्रचलित नीलकण्ठ, भव, गिरीश, हर, शर्व, आदि नामों से भी स्तवन हुआ है।[8] अथर्ववेद में भी उसी परमेश्वर शिव को महादेव, भूतपति, पशुपति, भव, शर्व आदि अभिधानों से अर्चित किया गया है।[9]

वेदों के भाव-काण्ड के पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थों के कर्मकाण्ड में जब सभी वैदिक देवताओं को भावात्मक सत्ता का त्यागकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व निर्धारित करना पड़ा, तब वे अत्यधिक मर्यादित होकर स्तोता के आह्वान पर प्रत्येक कर्म के लिए तत्पर दिखाई देने लगे। किन्तु उनका अस्तित्व पृथक हो जाने से शिव की महिमा समाप्त नहीं हुई। सभी ब्राह्मणग्रन्थ शिव को महादेव की उपाधि से विभूषित करते हैं तथा 'देवाधिपति' मानकर उन्हें यज्ञ भाग देते हैं।[10] ऐतरेय ब्राह्मण में अन्य सब देवता प्रजापति की अनीति से क्षुब्ध होकर उन्हें दण्ड देने के लिए शिव से प्रार्थना करते हैं।[11] शतपथ ब्राह्मण भी इस तथ्य का अनुमोदन करता है।[12]

आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों ने शिव को परम ब्रह्म के रूप मे स्वीकार किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को सर्वव्यापक बताते हुए कहा गया है कि – सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी सभगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।।[13] अर्थात् समस्तमुख, शिर और ग्रीवाएँ भगवान् शिव की हैं। ये समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित और सर्वव्यापी हैं। अतः शिव सर्वभूत हैं। यहीं पर शिव को परमात्मा, सृष्टा तथा योगियों के ध्यान का विषय बताया गया है।[14] श्रीमद्भागवत पुराण में यह स्वीकार किया गया है कि जहाँ शिव नहीं वहाँ विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं हो सकते हैं। दक्ष यज्ञ का प्रसंग इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है।[15]

शताब्दियों से अब तक सामान्य जन से लेकर शास्त्रज्ञ विद्वानों तक सभी लोग सहज रूप से शिव की उपासना करते आ रहे हैं। समस्त कृत्रिमताओं की उपेक्षा करके एक सुनिश्चित सांस्कृतिक आधार पर शिवोपासना की परम्परा लोक-जीवन से अपना सम्बन्ध बनाए हुए है। प्रत्येक ग्राम और नगर की गली में शिव मन्दिर मिल जाते हैं। भवन की अनिवार्यता भी शिव-मन्दिर के साथ सम्बद्ध नहीं है। कहीं भी किसी भी चबूतरे पर या वृक्ष के नीचे कूप, सरोवर, या सरिता के निकट 'शिवलिंग की स्थापना की जा सकती है। साथ ही किसी वर्ण और वर्ग का मनुष्य उनको पूज सकता है। उपहार भी पत्र-पुष्प जो मिल जाय वही पर्याप्त होगा।

शिव की पूजा का यह रूप आज का नहीं वरन् प्राचीन काल से चला आ रहा है। संस्कृति की मुख्य पहचान यही है कि उसमें 'जन' कला का द्रष्टा या धर्म का प्रसाद -भोगी मात्र न रहे, अपितु स्वयं निर्माता पूजक बने। शिव की प्रतिमा के निर्माण से पूजा तक का समस्त कार्यक्रम उपासक स्वयं पूरा कर लेता है। जहाँ 'कंकर' के 'शंकर' भी नहीं हैं वहाँ भक्त की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रद्धा मिट्टी को ही लिंगाकार में स्थापित कर पूजा-विधान से सन्तुष्ट हो लेती है। अतः हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि शिवोपासना पूर्णतः सांस्कृतिक आधार पर प्रतिष्ठित है।

लोक जीवन में शिव की व्यापक प्रतिष्ठा है। समस्त भारत वर्ष में शिव – पार्वती गृहस्थ-जीवन का आदर्श मानकर पूजे जाते हैं। यह आदर्श ऐसा नहीं है, जो किसी धर्मशास्त्र या काव्य के निर्देशों पर निर्भर हो। ऋतु, मास, और पर्वो के साथ सांस्कृतिक उल्लास के रूप में सम्बद्ध यह आदर्श, कन्याओं से वृद्धाओं, ब्रह्मचारी से गृहस्थ, सन्यासी पुरूष-जीवन में समान रूप से समाया हुआ है। समस्त देश में गण-गौरी पूजन का प्रसार है। राजस्थान का गण-गौरी पूजनोत्सव अपने सांस्कृतिक वैभव के लिए इतिहास प्रसिद्ध है। जन्म से मरण तक के लगभग सभी हिन्दू संस्कारों में शिव-गौरी-गणेश की पूजा अनिवार्य है।

भारतीय जन-जीवन का कृषि, पशु-पालन तथा नदियों से पुराना सम्बन्ध है। शिव भारत के सांस्कृतिक देवता होने के कारण इन सब से सम्बन्धित हैं। वृषभ को वाहन बनाकर उन्होंने पशु-पालन का आदर्श उपस्थित किया है और नदियों में श्रेष्ठ गंगा को सिर पर धारण कर सागर तक पहुंचाया है।

शिव ब्रह्म होते हुए भी न तो बार-बार अवतार लेते हैं, न मरण को वरण करते हैं। लोक-जीवन में प्रकट होकर लोक का साथ सदैव देते हैं। वह लौकिकता और दिव्यता के स्थायी समन्वय हैं। वह पृथ्वी के सर्वोच्च शिखर कैलास-शिखर पर निवास करते हैं, जो अपनी ऊँचाई में दिव्य होने पर भी पृथ्वी के आधार लोक से संबद्ध है। पृथ्वी से बाहर किसी स्वर्ग में विष्णु की तरह उनके निवास की कल्पना नहीं की गयी है।समस्त देशों में शिवतीर्थों का विस्तार है। पूर्व से पश्चिम तक तथा कश्मीर से सुदूर दक्षिण तक समस्त भारतवर्ष में फैले हुए अगणित शिव-तीर्थ शताब्दियों से देश की सांस्कृतिक एकता की सूचना दे रहे हैं।

भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण विकास में जिन विद्याओं और कलाओं का अधिक योग है उन सबके साथ किसी न किसी रूप में शिव का नाम जुड़ा हुआ है। शिव को धनुर्विद्या का आदि उपदेशक माना जाता है। वसिष्ठ धनुर्वेद् के प्रारम्भ में उल्लेख है कि विष्णु के अवतार परशुराम को जो त्रेता और द्वापर के प्रसिद्ध धनुर्वेदज्ञ थे, धनुर्वेद् का उपदेश शिव ने ही दिया था।[16] विश्वामित्र ने भगवान् शिव को प्रसन्न कर धनुर्वेद् का वरदान माँगा था।[17] नीतिप्रकाशिका में यह प्रतिपादित है कि शिव ने धनुर्वेद् शास्त्र की उत्पत्ति की थी।[18] यजुर्वेद् में भी शिव को सेनापति तथा धनुर्धारी बताकर धनुर्विद्या का ज्ञाता बताया गया है।[19]

शैवागम, स्कन्दपुराण तथा लिंगपुराण में योगविद्या का विस्तृत वर्णन है तथा शिव को उसका प्रवर्तक बताया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में शिव योग-साधना की कठोरता, सांख्य विचारधारा तथा शक्ति से सम्बन्धित दिखाए गये हैं। प्रकृति ही उनकी वह त्रिगुणात्मक शक्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, जो प्रेक्षक रूप में उनको पृथक् रखकर विश्व की सृजन प्रक्रिया में लीन होती है।[20] इसी उपनिषद् में महेश्वर शिव को प्रथमवार मायी की उपाधि से विभूषित कर उनकी शक्ति को माया बताया गया है,[21] जो आगे चलकर शंकराचार्य के वेदान्त का आधार बनी। इससे सिद्ध है कि भारतीय दार्शनिक परम्पराओं पर भी शिव का पर्याप्त ऋण है ।

वेदों में शिव को महाभिषक् कहा गया है तथा उनके पास रोग नाशक औषधियाँ बतायी गई हैं ।यजुर्वेद में उनसे मनुष्य और पशुओं के लिए स्वास्थ्यप्रद औषधियाँ देने की प्रार्थना की गयी है।[22] वैद्यनाथ उनका प्रसिद्ध नाम है तथा यह माना जाता है कि वे आयुर्वेद के जन्मदाता थे ।

व्याकरण वेदों के छः अंगो में प्रधान है ।इसकी रचना पाणिनी ने चौदह माहेश्वर या शिव सूत्रों के आधार पर की थी ।ऐसी मान्यता है कि वे सूत्र शिव के डमरू की ध्वनि से निकले थे ।संगीत और नृत्य कलाओं के भी आदि प्रवर्तक शिव माने जाते हैं ।नटराज उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध उपाधि है, जो नृत्य और नाट्य से उनका सम्बन्ध प्रमाणित करती है । मूर्ति और वास्तुकलाओं से शिव का सम्बन्ध जितना प्राचीन है उतना किसी अन्य देवता का नहीं। सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय से शिवमूर्ति और मन्दिरों का निर्माण होता चला आ रहा है। यहीं तक नहीं, विभिन्न शिव-मन्दिरों के भित्ति-चित्रों से चित्रकला के साथ भी शिव के सम्बन्ध की प्राचीनता प्रमाणित होती है। भारत में ही नहीं विदेशों में भी अति प्राचीन काल से शिव-महिमा की स्वीकृति मिलती है ।अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया , यूरोप तथा एशिया में अनेक ऐसे स्थान हैं जहाँ अब भी शिव पूजा के प्रमाण उपलब्ध हैं ।

संस्कृति की कल्याणोन्मुखी प्रवृत्ति ने अपने आदिकाल में ईश्वर के लिए मंगलमय रूप की कल्पना की, उसी को ' शिव' अभिधान प्राप्त हुआ है। सिन्धु - घाटी की सभ्यता के युग से भारतीय जनता शिव की पूजा करती आ रही है। वैदिक साहित्य में अनेक देवताओं की प्रशस्तियाँ मिलती हैं, किन्तु शिव को उन देवताओं में सर्वोपरि स्थान दिया गया है। हिन्दुओं की त्रिदेव-कल्पना में शिव शीर्षस्थ होकर महादेव के पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। भारतीय संस्कृति के विकास की त्रिवेणी वेदों के भाव-काण्ड, ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्म-काण्ड तथा आरण्यक एवं उपनिषदों के ज्ञान -काण्ड के रूप में 'शिव' को अपना प्राणरस बनाकर ही प्रवाहित हुई है ।पुराणों के कल्पना-काण्ड को भी शिव-सम्बन्धी कल्पनाओं से ही इतना अधिक विस्तार प्राप्त हुआ। प्रत्येक सांस्कृतिक मान्यता पर किसी न किसी रूप में उनका प्रभाव पाया जाता है ।भारतीय जीवन की अधिकांश सांस्कृतिक मान्यताएँ शिव-पार्वती के पवित्र आदर्शो से जीवन ग्रहण करती हैं। धनुर्वेद, आयुर्वेद, व्याकरण आदि शास्त्र तथा चित्र, संगीत नाट्य आदि कलाएँ और योग, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन-सब के उद्भव और विकास के सूत्र शिव से संबद्ध माने जाते हैं। भारतीय सांस्कृतिक एकता के भी आदि प्रतीक 'शिव' हैं। समस्त देश में शिव-मन्दिरों एवं शिव-तीर्थों का विस्तार है, जिसके कारण उत्तर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारत का निवासी सुदूर दक्षिण में रामेश्वरम् के मन्दिर तक अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने पहुँचता है और दक्षिण का निवासी भारत की उत्तरी सीमा के अन्तिम शिखर कैलास के दर्शन कर स्वयं को मोक्षाधिकारी मानता है। भारततेतर देशों की संस्कृति में भी शिव अति प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं जैसा कि वहाँ से प्राप्त मन्दिरों, मूर्तियों एवं शिलालेखों से सिद्ध है ।अतः स्पष्ट है कि 'शिव' मानव की सांस्कृतिक उपलब्धियों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार हैं ।

सन्दर्भ-

1. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, प्र0सं0 संवत् 1015, पृष्ठ 774.
2 आर0एस0 त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ एन्सियण्ट इण्डिया, द्वि0सं0, पृष्ठ 21.
3. ऋग्वेद, 1, 53, 11.
4. वही, 5, 60, 55.
5. वही, 3, 17, 4-'स्वधया शम्भुः'
6. वही, 10, 158,3- 'सविता हरः'
7. यजुर्वेद, 16,1,66
ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ।नमः शंकराय च मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च ।।
8. वही, 16,1, 66 (8, 28, 29 आदि)।
9. अथर्ववेद, 1, 34, 4-28 आदि।
10. कौशीतकि ब्राह्मण-23-3- पशूनू पंचमेनाह्नाप्नुवन्ति पक्तिछदस्त्रिणवं स्तोमंशक्वासामावार्ची दिशं हेमन्तम् ऋतूनां महतो देवान् देवयजतं रूद्रमधिपतिम्।
11. ऐतरेय ब्राह्मण, काण्ड3, सूत्र 13, मन्त्र 9।
12. शतपथ ब्राह्मण 9,1,1,5।
13. श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/11।
14. वही,3/4।
15. श्रीमद्भागवत् महापुराण 4, अध्याय 7।
16. वसिष्ठधनुर्वेद्- 1 ।
17. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड,57/16-यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदोममानद्य। साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम् ।।
18. नीतिप्रकाशिका, अध्याय 1, श्लोक 23 ।
19. यजुर्वेद, 3 / 61 ।
20. श्वेताश्वतरोपनिषद् - 4 / 1 ।
21. वही, 4/10 -मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।।
22. तैत्तिरीय संहिता, 1 / 8 / 6 ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव महापुराण में शैव-दर्शन

बृजभूषण श्रीवास्तव* एवं अंगद प्रसाद गुप्त**

मानव चिन्तन अथवा विचारधारा की किसी अन्य अभिव्यक्ति की भाँति धर्म-दर्शन भी अन्तिम विश्लेषण में जनता के जीवन की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करता है। जनता की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन उसकी विचारधारात्मक अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। प्राचीन भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में निहित धर्म-दर्शन सम्बन्धी विचारों की अपनी परिसीमाएं हैं। शिव महापुराण शैव धर्म-दर्शन एवं मतों का आकर ग्रन्थ है। शैव धर्म-दर्शन की प्रायः सभी मान्यताएँ अन्वेषण करने पर इसमें मिलती हैं। जे0 जाली, विल्सन और आर0 सी0 हाजरा से लेकर अब तक के विचारकों द्वारा इस महापुराण के रचना काल के सम्बन्ध में जो तिथियां सुझाई गयी है, उसमें द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 से लेकर 13वीं शताब्दी ई0 तक की तिथियां प्रस्तुत की गयी है। सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ "ऐंशियेन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशंस" और 'पुराण टेक्स्ट्स आफ दि डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज' में पार्जीटर ने पुराणों की परम्परा और उनके रचना काल पर गहराई से अनुशीलन किया है। उन्होंने पुराणों के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने के साथ-साथ पुराणों की महत्ता पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने वेदों को भी पुराणों की भाँति विरुदावली कहा है। जिस प्रकार राजवंशों की विरूदावली पुराणों में वर्णित है, उसी प्रकार ऋषि वंशों की विरुदावली के परिचायक ग्रन्थ वेद हैं। अपने गम्भीर अध्ययन के आधार पर पार्जिटर महोदय का विचार है कि पुराण मूल रूप में ईस्वी सन् के प्रारम्भिक शताब्दियों के पहले के नहीं हो सकते हैं। पुराणों में 'अग्निपुराण' सबसे प्राचीन है।[1] किन्तु 'अग्निपुराण' की रचना के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। एस0 के0 डे के मतानुसार अग्निपुराण के अलंकार प्रकरण, दण्डी और भामह के पश्चात् "ध्वन्यालोक" के कृतिकार श्री आनन्दवर्धन से पहले ईसा की नवम् शताब्दी के लगभग रचा गया।[2] पी0 वी0 काणे 'अग्निपुराण' को 600 ई0 के बाद और उसके काव्यशास्त्र विषयक अंश की रचना 900 ई0 के बाद स्वीकार

---

*रीडर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, एस.एम.एम. टाउन पी. जी. कॉलेज, बलिया, उ.प्र.

**प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, एस.जे.आर. डिग्री कॉलेज, चितबड़ागांव, बलिया, उ.प्र.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करते हैं।[3] इन दोनों विद्वानों की अवधारणाओं का विधिवत खण्डन करते हुए कन्हैया लाल पोद्दार ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि 'अग्निपुराण' के काव्य प्रकरण के आधार पर अनुशीलन करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि वह वर्णन भामह, दण्डी, उव्वट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर नाट्यशास्त्र के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है।[4] आर0सी0 हाजरा ने पुराण साहित्य पर सर्वाधिक ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण किया है।[5] उन्होंने काल-क्रम से प्राचीनतम महापुराणों में मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य, भागवत एवं कूर्म की गणना की है। इनमें से पहले दो पुराणों को उन्होंने 'विष्णु पुराण से पहले का रचना माना है। शेष पुराणों में विष्णु पुराण की रचना 400 ई0 में स्वीकार किया है।[6] पार्जिटर महोदय ने भी इसका रचना काल 5वीं शती ई0 से पूर्व का नहीं माना है।[7] विंटरनित्ज महोदय ने भी इसका समय 5वीं शती ई0 स्वीकार किया है।[8] इसके विपरीत दीक्षितार महोदय[9] ने इसका समय छठीं-सातवीं शती ई0 और सी0 वी0 वैद्य[10] ने नवीं शती ई0 स्वीकार किया है। अन्य पुराणों के रचना काल के सम्बन्ध में हाजरा महोदय ने वायुपुराण (500 ई0), भागवत पुराण (600-700 ई0) और कूर्म पुराण (700 ई0) की तिथियां निर्धारित की हैं।[11] उन्होंने 'हरिवंश पुराण' का रचना काल भी चौथी शती ई0 सिद्ध किया है।[12] उनके मतानुसार 'अग्निपुराण' की रचना यद्यपि 800 ई0 में हुई, किन्तु उसकी कुछ सामग्री इससे पहले की और कुछ इससे बाद की है।[13] यद्यपि मूल नारदीय पुराण सम्प्रति अप्राप्त है, तथापि प्रचलित नारदीय पुराण की रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी और बाद में उसका कलेवर प्रक्षेपों से बढ़ता गया।[14] इसी प्रकार ब्रह्मपुराण की कुछ सामग्री बहुत बाद की होते हुए भी उसकी रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी।[15] 'स्कन्दपुराण' की कुछ सामग्री आठवीं शताब्दी में और अधिकांश उसके वाद निर्मित हुई।[16] 'गरूड़ पुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हुई।[17] इसी प्रकार 'पद्म पुराण' की रचना 1200-1500 ई0 के बीच हुई।[18] 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' की रचना यद्यपि 700 ई0 में हो चुकी थी तथापि उसका वर्तमान रूप सोलहवीं शताब्दी का है।[19] अधिकांश महापुराणों में 'शिव महापुराण' की गणना चतुर्थ स्थान पर किया गया है,[20] किन्तु कुछ पुराणों में 'शिव महापुराण' के स्थान पर चतुर्थ महापुराण के रूप में 'वायुपुराण' का नामोल्लेख मिलता है।[21]

'शिव महापुराण' की कैलाशसंहिता के सोलहवें तथा सत्रहवें अध्याय में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के विशद् विवेचन के अवसर पर "शिवसूत्र" के दो सूत्रों "चैतन्यमात्मा" एवं ज्ञानं वन्धः" का तत्सम्बद्ध "वार्तिक" का स्पष्ट निर्देश किया गया है।[22] "शिवसूत्र" एवं उस पर लिखित "वार्तिक" (भास्कर रचित)[23] का काल क्रमशः नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा दशवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।[24] "शिव महापुराण" में शिवसूत्र का उल्लेख

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एकाधिक स्थलों पर हुआ है।[25] अलबरूनी (1030 ई0) भी पुराणों के उद्धरण के प्रसंग में "शिवपुराण" का उल्लेख करता है।[26] इसके अतिरिक्त 'शिव महापुराण' की कोटिरूद्रसंहिता में महर्षि गौतम जो एक ऋषि थे,[27] की कथा वर्णित हैं। उनका कुछ ऋषियों से कलह चल रहा था। कुछ समय के अनन्तर उन ऋषियों के षडयंत्र के कारण गौतम को अपना आश्रम छोड़ना पड़ा। उनका यह आश्रम दक्षिण दिशा में "ब्रह्मगिरि" पर्वत पर था।[28] बाद में गौतम ने उन ऋषियों को श्राप देते हुए कहा कि- मुझ शिव भक्त को दुःख देने वाले तुम सब दुरात्मा हो। तुम सब वेदविमुख हो जाओगे। आज से तुम लोगों के मस्तक मृत्तिका से लिप्त हुआ करेंगे और इसी कारण तुम लोगों को नरक यातना भी भोगनी पड़ेगी। उसके बाद तुम सब दुःख दारिद्र्य से पीड़ित, दूसरे की निन्दा करने वाले शठ, चाण्डाल होगें। तुम्हारा शरीर तप्त मुद्रा से अंकित होगा।[29] महर्षि के इस श्राप को सुनकर शैव धर्म बहिष्कृत, खिन्न हृदय वे सम्पूर्ण ऋषि "कांची" नगरी में जाकर निवास करने लगे।[30] यह कथा वैष्णव ऋषि रामानुज एवं उनके अनुयायियों की ओर स्पष्ट संकेत करती है। रामानुज के जीवन का उत्तारार्द्ध "कांची" में ही व्यतीत हुआ था। अतः उनके मत के अनुयायियों का वह नगरी केन्द्र मानी जाती है। भाल में मृत्ति का लेपन, तप्तमुद्रा से शरीर को अंकित करना आदि बातें रामानुज सम्प्रदाय की विशेषता है। दक्षिण भारत में शैवों एवं वैष्णवों, विशेषतः रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियों में एक लम्बी अवधि तक संघर्ष चलता रहा। रामानुज का काल बारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः "शिव महापुराण" का काल मेरी सम्मति में नवीं शताब्दी ई0 मानना अधिक उपयुक्त होगा।

'शिव महापुराण' शैव-दर्शन एवं मतों का आकर ग्रंथ है। इसमें शैव-दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का कहीं पर विस्तार के साथ तो कहीं पर संक्षेप में वर्णन किया गया है। इस महापुराण का गहराई से अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शैव-दर्शनों ने शिव महापुराण को काफी सीमा तक प्रभावित किया है। शिव से सम्बन्धित धर्म को "शैवध र्म" कहा जाता है तथा इस धर्म के अनुयायियों को "शैव"। शैव धर्मावलम्बियों के प्रधान इष्ट देव भगवान शिव हैं। हिन्दू धर्म के प्रमुख तीन देवताओं में शिव संहारक के रूप में स्वीकृत हैं।[31] परन्तु शैव परम्परानुयायी उन्हें सृष्टि का कर्त्ता भी मानते हैं, वे इन्हें सर्वोच्च देवता के रूप में स्वीकार करते हैं। शिव का व्यक्तित्व बहुपक्षीय है। एक ओर वे अपने भक्तों के लिए अत्यन्त कृपालु और अनुग्रहदाता हैं, तो दूसरी ओर सृष्टि के विनाश हेतु ताण्डव-नृत्यकर्त्ता भी हैं। शिव को संगीत, नृत्य और योग का प्रणेता भी माना जाता है, पशुपति के रूप में वे समस्त प्राणियों के स्वामी हैं, वे माहेश्वर और महादेव हैं एवं शक्ति के प्रतीक उमा के पति हैं।[32] शैव धर्म के विकास के साथ ही शिव की विभिन्न प्रकार से पूजा करने वाले वर्गों का भी विकास हुआ, जो अपने विचारों, मतों और सिद्धान्तों के अनुसार शिव की उपासना करते थे। धीरे-धीरे ऐसे उपासकों के पृथक वर्ग बन गये जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वतंत्र शैव सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हुए। स्वतंत्र शैव सम्प्रदायों ने शैव-दर्शन के अन्तर्गत अपने-अपने ढंग से अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया है। शैव-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का उल्लेख हमें शिव महापुराण के अन्तर्गत देखने को मिलता है।

शैव-सिद्धान्त के अनुयायियों की दृष्टि में सृष्टि अथवा जगत् के तीन रत्न हैं - शिव, शक्ति और बिन्दु। कर्ता शिव है, कारण शक्ति और उपादान बिन्दु। अतः शैव सिद्धान्त के ये तीन रत्न हैं, जो इस मत के समर्थकों को ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते हैं। शिव की दो शक्तियाँ हैं, समवायिनी और परिग्रह-रूप। समवायिनी शक्ति निर्विकार और चिद्रूपा हैं तथा परिग्रह रूप शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी है, जो बिन्दु कही जाती है। बिन्दु भी दो प्रकार की है शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध बिन्दु महामाया है और अशुद्ध बिन्दु माया। दोनों भिन्न जगत् के उपादान कारण है - महामाया सात्विक जगत की और माया प्राकृत जगत् की। इस मत के चार पाद और तीन पदार्थ हैं, अर्थात् विद्या, क्रिया, योग और चर्या तथा पति, पशु और पाश तीन पदार्थ। पति का अर्थ शिव से लिया गया है, जो स्वामी हैं। शिव सर्वज्ञ हैं, स्वतंत्र और ऐश्वर्य सम्पन्न, वे सर्वदृष्टा और कर्ता हैं। अर्थज्ञान और क्रिया शक्ति का समन्वित रूप उनमें निहित हैं। उनका कर्मफल-रूप शरीर नहीं हैं, बल्कि उनका शरीर शक्तिरूप (मंत्ररूप) है। पंच मंत्र में ईशान, तत्पुरुष , घोर, कामदेव और सद्योजात सम्मिलित हैं। ईशान मंत्र शिव का मस्तक है, तत्पुरुष मुख, घोर हृदय, कामदेव गुह्य अंग तथा सद्योजात पाद। प्रधानतः उनके पाँच कार्य हैं- सृष्टि (उद्भव), पालन (स्थिति), संहार (आदान), तिरोभाव (आवरण) और प्रसाद (अनुग्रह)। शिव की दो अवस्थायें हैं- लयावस्था और भोगावस्था। शिव की लयावस्था वह है जब शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर केवल स्वरूप में रहती है तथा शिव की भोगावस्था वह है जब शक्ति के कारण बिन्दु कार्य-उत्पादन कर्ता और शिव के ज्ञान एवं क्रिया में योग प्रदान करता है।

पशु का व्यवहार जीवात्मा के लिए किया गया है, जो अणु (सूक्ष्म) सीमित शक्ति समन्वित और परिच्छिन्न हैं। वह नित्य, अनिष्क्रिय और सर्वव्यापी है। पाश (बन्धन) के हट जाने पर वह शिव रूप होकर ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। अतः मुक्त और बन्धन हीन जीव शिव है। पशु के तीन प्रकार हैं- (1) विज्ञानाकल, (2) प्रलयाकल और (3) सकल। विज्ञानाकल पशु उसे कहा गया है, जो विज्ञान, योग या संन्यास से अथवा भोग से अपना कर्म क्षीण कर लेता है, किन्तु थोड़ा मल (कलुष) रह जाता है। अतः विज्ञानाकल पशु दो प्रकार के होते हैं- एक वे जिनके मल (कलुष) समाप्त हो चुके रहते हैं और दूसरे वे जिनके कलुष शेष रहते हैं। प्रलयाकल पशु वह है, जिसकी कलाएं संसार के प्रलय के द्वारा समाप्त होती हैं। इसके दो प्रकार हैं- प्रथम वह जिसके दोनों पाश (मल और कर्म) परिपक्व हो चुके रहते हैं। जो टूटने की स्थिति में रहते हैं, और द्वितीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह जिसके दोनों पाश अपरिपक्व रहते हैं। अतः परिपक्व वाले पहले जीव को मोक्ष मिलता है, शिव का परमपद और दूसरे को पुनर्जन्म। सकल पशु में मल, कर्म और माया तीनों तत्व रहते हैं। इसके भी दो वर्ग होते हैं, एक परिपक्व कलुष वाला और दूसरा अपरिपक्व कलुष वाला।

पाश का अभिप्राय बन्धन से है, जिसके द्वारा शिव रूप होने पर भी जीव को पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश के चार प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं- मल, कर्म, माया और रोध शक्ति। जीव की प्राकृतिक ज्ञान-क्रिया-शक्ति को तिरोहित करने वाला बन्धन "मल" कहा गया है एवं फल की इच्छा से किया जाने वाला धर्म और अधर्मयुक्त कार्य का बन्धन "कर्म" के नाम से जाना गया है। प्रलय काल में जीवों को अपने में लीन करने वाली शक्ति और सृष्टि काल में उन्हें उद्भूत करने वाली शक्ति को "माया" की संज्ञा दी गयी है तथा शिव की शक्ति को, जो जीवों के स्वरूप का निरोधान करती है, "रोध" के नाम से अभिहित किया गया है।

उपासना मार्ग यही है कि पशु (जीव) पाश (बन्धन) से मुक्त होने के लिए साधना करे, जो क्रिया से ही संभव है। मल (बन्धन) से मुक्ति न ज्ञान से संभव है, न कर्म से बल्कि वह क्रिया द्वारा ही संभव है। जीव तो वस्तुतः शिवरूप ही है, किन्तु पाशों के कारण वह बन्धन से जकड़ा रहता है। अतः क्रिया के माध्यम से जीव को मुक्ति मिलती है। सन्ध योपासन, मंत्रसिद्धि, पूजा, जप, हवन, आनन्दानुभूति के लिए नैमित्तिक कर्म आदि क्रिया से सम्बद्ध है, जो शिव की उपासना अथवा साधना का मार्ग है, जिसके अनुगमन से जीव पाशों से मुक्त होकर शिव रूप बन जाता है।

शैव-दर्शन में शैव सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन शिव महापुराण के अन्तर्गत किया गया है। "शिव" संज्ञा के कारण के रूप में शिव महापुराण में स्पष्ट किया गया है कि स्वभावतः अनादिमल के संश्लेष के प्राग्भाव के कारण, अत्यन्त परिशुद्धात्मा होने से परमात्मा को "शिव" कहा जाता है।[33] इस संसार में ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब परमात्म-शिव ही हैं, नानात्व की कल्पना मिथ्या है।[34] शिवत्व एवं शक्तित्व का समवाय ही परमात्म शिव अथवा सकल शिव हैं।[35] परमात्म-शिव की शक्ति को उनकी इच्छा भी कहते हैं।[36] जिस प्रकार व्यक्ति की इच्छा उसमें अभेद सम्बन्ध से रहती है, उसी प्रकार परमात्म-शिव की इच्छारूपा शक्ति उनमें अभिन्न होकर वर्तमान रहती है। परमात्म-शिव में शक्ति की स्थिति स्वाभाविक है।[37] यही कारण है कि उनका शक्ति से विप्रयोग कभी भी नहीं होता।[38] वस्तुतः परमात्म-शिव और शक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। शक्ति के बिना परमात्म-शिव की कल्पना ही असम्भव हैं। परमात्म-शिव (सकल शिव) के अस्तित्व में आने का एक मात्र कारण शक्ति[39] (कला) ही है। सम्पूर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संसार का निर्माण करके यह शक्ति इसमें उसी प्रकार से व्याप्त रहती है जैसे आत्मा से शरीर व्याप्त रहता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक संसार शक्तिमय कहा गया है।[40]

शिव महापुराण अपने दार्शनिक विवेचन में पति, पशु (आत्मा) एवं पाश (जो शैव सम्प्रदाय दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है) पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार प्रत्येक सुखार्थी पुरुष को पति, पशु एवं पाश पर उत्कृष्ट निष्ठा करनी चाहिए।[41] पाश का तात्पर्य बन्धन से है।[42] उसे शिव महापुराण में तीन प्रकार का माना गया है- आणवमल, मायीयमल और कर्ममल। इन मलों का परिणाम है कि "आत्मा" एक जन्म से दूसरे जन्म में चक्कर खाता फिरता है। इस प्रकार यह मल ही आत्मा के जन्म एवं पुनर्जन्म का कारण होता है। यह मल ही आत्मा के संसार रोग में हेतु कहा गया है। संसार के परम कारण भिषक पति शिव ने इस संसार रोग की दवा एक मात्र ज्ञान को ही कहा है। ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे सम्पूर्ण मल दूर होते हैं।[43]

शैव दर्शनों में "पाशुपत दर्शन" सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होता है। पाशुपत आगम महाभारत काल में सुपरिचित थे। वेद के समान ये भी स्वतः प्रमाण थे। शिव महापुराण पाशुपत दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित है। "पाशुपत सूत्र" के बहुत से सूत्र शिव महापुराण में मन्त्र के रूप में उल्लिखित किए गए हैं।[44] इन सूत्रों में से कुछ का उल्लेख कतिपय शैव उपनिषदों में भी हुआ है। यही कारण है कि इनका उद्धरण करते हुए शिव महापुराण "इति श्रुतयः" अथवा "इति श्रुतिः" कहता है।[45] पाशुपत व्रत एवं पाशुपत ज्ञान तथा पाशुपत योग की चर्चा से शिव महापुराण के कतिपय स्थान भरे पड़े हैं।[46] पाशुपत मत की इस लोकप्रियता का कारण था उसका श्रुति के अनुकूल होना।[47]

"प्रत्यभिज्ञादर्शन" अद्वैत दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। काश्मीर में विकसित होने के कारण इसे "काश्मीरी शैव दर्शन" भी कहते हैं। शिव महापुराण के सम्यक् अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अद्वैत विषयक विचारधारा के विषय में यह महापुराण "प्रत्यभिज्ञादर्शन" से पर्याप्त प्रभावित है। इस पुराणं की पूर्णता के पूर्व अवश्य ही "प्रत्यभिज्ञादर्शन" का विकास एवं विस्तार हो चुका था। इस बात का साक्ष्य स्वयं शिव महापुराण में ही उपलब्ध है। शिव महापुराण की कैलाश संहिता में प्रत्यभिज्ञादर्शन के तीन मान्य ग्रन्थों- "शिवसूत्र"[48] "शिवसूत्रवार्तिक"[49] एवं "विरूपाक्ष्यंयाशिका"[50] का उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि शिव महापुराण के काल तक "प्रत्यभिज्ञादर्शन" अपने विकसित स्थिति में पहुँच चुका था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिव महापुराण में इन द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही दर्शनों का पर्याप्त रूप से प्रभाव पड़ा है। द्वैत दर्शनों में पाशुपत दर्शन विधेश्वर संहिता एवं वायवीय संहिताओं में और सिद्धान्त शैव दर्शन वायवीय संहिताओं में तथा अद्वैत दर्शन (प्रत्यभिज्ञादर्शन) कैलाश संहिता में विशेष रूप से वर्णित किया गया है।

शैव दर्शन के अन्तर्गत कापालिक और कालामुख जैसे अतिमार्गी सम्प्रदाय के अनुयायी भैरव को ही सर्जन और संहार करने वाला मानते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जटाजूट, गले में रुद्राक्ष माला, शरीर पर श्मशान भस्म, हाथ में नर कपाल धारण करते हैं। सुरापान और तामसी क्रियाओं का अनुसरण करते हैं। शिव महापुराण के उत्तरवायवीय संहिता के एकतीसवें अध्याय में चार प्रकार के शैवों का वर्णन किया गया है, उनमें एक प्रकार "कापालिक" नाम से उल्लिखित है और इसे "महाव्रतधरा" भी कहा गया है।[51] यद्यपि यहां पर किसी भी सम्प्रदाय का विवरण नहीं दिया गया है, तथापि प्रतीत होता है कि इस साम्प्रदाय का मूलाधार भैरव की कथा ही है। शिव महापुराण में भैरव को परमात्मा शंकर का पूर्ण रूप बतलाया गया है।

भैरव पूर्णरः नो हि शंकरस्य परात्मनः।

मूढ़ास्ते वै न जनन्ति मोहिताः शिवमायया।। शिव.,3,8,2

भैरव के कापालिक होने के कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम कापालिक पड़ा है। वाचस्पति मिश्र (840 ई0) ने आचार्य शंकर के द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र (2/2/37) के भाष्य पर टीका करते हुए कापालिकों का उल्लेख किया है।[53] आचार्य शंकर के समकालीन जीवनी लेखक आनन्द गिरि शैवों के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करते हैं। वह कापालिकों के दो दलों का भी उल्लेख करते हैं। इनमें से एक ब्राह्मणों से सम्बद्ध था तो दूसरा ब्राह्मणेत्तर जातियों से। अथर्ववेद में रुद्र के उपासक "ब्रात्यों" का उल्लेख मिलता है। ब्रात्य नियम एवं प्रथाओं को नहीं मानते थे। किन्तु कापालिक चाहें ब्राह्मण हो अथवा ब्राह्मणेत्तर, मदिरापान एवं ऐन्द्रिय उच्श्रृंखलता जैसे भंयकर दुष्कर्मों तक को भी किया करते थे और अस्वच्छ रीति से जीवन-यापन करते थे। यह भी संदेहास्पद है कि उनकी कोई समुचित दार्शनिक पद्धति रही होगी, अपवाद के रूप में इस बात को छोड़कर कि ये लोग भैरव के उपासक थे और उन्हीं को सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण मानते थे।[53] वे लोग यह मानते थे कि इस संसार में कोई ऐसी सूक्ष्म दैवी शक्ति है जो भैरव की इच्छानुसार संसा की सृष्टि एवं विनाश करती है। शिव महापुराण में भैरव की कथा में भैरव के लिए जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे भैरव की शिव से अभिन्नता प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। ब्रह्मसूत्र (2/2/37) के अपने भाष्य में रामानुज ने कापालिक का उल्लेख करते हुए उसे वेदविरोधी आचरण करने वाला शैव सम्प्रदाय कहा है। किन्तु आज कापालिक सम्प्रदाय का प्रकाशित अथवा अप्रकाशित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कापालिक का उल्लेख भवभूति ने मालतीमाधव (700-800 ई0) में भी किया है तथा उनकी नृशंसता और क्रूरता का चित्रण नाटककार ने सजीवता के साथ किया है। वास्तव में कापालिकों के मदिरापान, स्त्री-सेवन और मांस भक्षण आदि कृत्यों ने उन्हे शेष शैव सम्प्रदायों से बिल्कुल अलग कर दिया। आज भी ये जघन्य कृत्य तान्त्रिकों की पूजा में यत्र-तत्र देखे जाते हैं। यह परम्परा वैदिक परम्परा के एकदम विरुद्ध है। कापालिक सर्वदा से ही वेदविरुद्ध और समाज बहि कृत थे। आनन्दगिरि के अनुसार आचार्य शंकर ने भी कापालिकों से इसीलिए कोई बातचीत नहीं की, क्योंकि वह वेदविरुद्ध थे। बाद में कापालिकों का सम्प्रदाय वंगाल में जीवित रहा। कापालिकों के मान्य देव भैरव की समाज में उस रूप में कभी प्रति ठा एवं मान्यता नहीं रही जिस रूप में कापालिक भैरव को मानते थे। भैरव की समाज में अर्चना न होने की बात स्वयं शिव महापुराण में भी निर्दिष्ट है।[54]

इसी प्रकार दक्षिण भारत में शैव-दर्शन के वीरशैव सम्प्रदाय का विकास हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुयायी "लिंगायत" या "जंगम" भी कहे गए हैं। वर्ण व्यवस्था के प्रतिकूल ये लोग आचरण करते हैं तथा *शिवलिङ्ग* को चांदी के सम्पुट में रखकर हर समय अपने गले में लटकाये रहते हैं। कर्म की प्रधानता इस सम्प्रदाय की विशेषता है। यह कर्म निष्काम कर्म है। इस सम्प्रदाय की दूसरी विशेषता के अनुसार शिव परमतत्त्व हैं, जो पूर्णतः अहंता और स्वतंत्र हैं। शिव में ही उपास्य एवं उपासक के बीच क्रीड़ा करने की शक्ति है, जो अवसर पड़ने पर विभेदित हो जाता है और स्थल के दो भेद हो जाते हैं, एक अंग स्थल और दूसरा *लिङ्ग* स्थल। *लिङ्ग* स्थल उपास्य और शिवरूप है तथा अंगस्थल उपासक और जीव। इस सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार *लिङ्ग* के तीन भेद- (1) भाव *लिङ्ग*; (2) प्राणलिंग और (3) इष्टलिंग है। भावलिंग कलाविहीन सद्रूप काल और दिक् से अपरिच्छिन तथा परात्पर है। इसका साक्षात्कार श्रद्धा से होता है। प्राणलिंग कलाहीन एवं कलायुक्त दोनों हैं अवगमन बुद्धि से इसका साक्षात्कार संभव है। कलायुक्त होने के कारण इष्टलिंग चाक्षुष है। इस प्रकार परमतत्व भावलिंग है, सूक्ष्म प्राणलिंग और स्थूल इष्टलिंग है। श्री शंकर भाष्य में श्रीपति (1060 ई0) ने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को उपनिषद से निःसृत बताया है। लिंगायत सम्प्रदाय का अधिकतर साहित्य कन्नड़ भाषा में है। लिंगायत सम्प्रदाय में कुछ लिंगी ब्राह्मण भी हैं। *लिङ्ग* धारण करने वाले लोग उनके अनुयायी हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माहेश्वर *लिङ्ग* की अर्चना अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है।[55] भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी *लिङ्ग* पूजा का प्रचलन था।[56] चूंकि लिंगायत सम्प्रदाय के सिद्धान्त दशवीं शती ई0 के बाद ही दक्षिण भारत में अस्तित्व में आये हैं और शिव महापुराण की रचना इस सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उल्लेख शिव महापुराण में नहीं किया गया है। यद्यपि कि यह बात सत्य प्रतीत होती है कि लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायियों ने शिव महापुराण के लिंगार्चन के सिद्धान्त के आधार पर ही अपना एक नया सम्प्रदाय और उससे सम्बन्धित सिद्धान्तों की कल्पना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव महापुराण शैव दर्शन एवं मतों का आकर है। सम्पूर्ण शैव दर्शनों की अधिकांश सैद्धान्तिक बातें इसमें कहीं विस्तार के साथ तो कहीं संक्षेप से वर्णित हैं।

संदर्भः

1. जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, (1912), पृष्ठ 254-55
2. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, जिल्द-1, पृष्ठ 102-104
3. "साहित्य दर्पण" की अंग्रेजी भूमिका, पृष्ठ 3,4,5
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-1 पृष्ठ 74-98
5. स्टडीज इन दि पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका, 1940
6. हाजरा, आर0 सी0, पुराणिक रिकार्ड्स, पृष्ठ 19-26
7. पार्जिटर, ऐंशिएन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिसन, पृष्ठ 80
8. विंटरनित्ज, एम0ए0, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द-11, पृष्ठ 545
9. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, - 111, पृष्ठ 370-71
10. हिस्ट्री आफ मिडिवियल हिन्दू इण्डिया, जिल्द-1 पृष्ठ 350
11. हाजरा, आर0सी0, इण्डियन कल्चर, भाग-11 पृष्ठ 237
12. इण्डियन एन्टिक्वेरी, भाग-1, पृष्ठ 522
13. इण्डियन एन्टिक्वेरी, भाग-12, पृष्ठ 683
14. हाजरा, आर0सी0, इण्डियन कल्चर, भाग-3, पृष्ठ 477
15. वही, पृष्ठ 235
16. हाजरा, आर0सी0, पुराणिक रिकार्ड्स, पृष्ठ 165
17. वही, पृष्ठ 174 एवं एनल्स आफ दि भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च सोसाइटी, भाग-19, पृष्ठ 68-75

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

18. इण्डियन कल्चर, भाग-4, पृष्ठ 73
19. हाजरा आर0सी0, पुराणिक रिकार्ड्स, पृष्ठ 166
20. द्रष्टव्य, विष्णु पु0, 3,6,20-24; भागवत पु0, 12,13,3-8; पद्म पु0, उत्तरखण्ड, 263, 81-84 आदि।
21. देवीभागवत पु0, 1.3; मत्स्य पु0, 53 अ0
22. चैतल्यमात्येति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्।।
    चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञान क्रियात्मकम्।
    स्वातन्त्रयं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः।।
    इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
    ज्ञानं वन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः। -शिव0, 6,16; 44-46
23. यहां पर भास्कर रचित "वार्तिक" ही अभिप्रेत है, क्योंकि भास्कर ही "शिवसूत्र" के प्रत्यक्ष कर्ता आचार्य "वसुगुप्त" के सम्प्रदाय के थे।
24. देखिए-पुराण विमर्श, पृष्ठ 105
25. मूलविद्या शिवं शैवं सूत्रं पंचाक्षरं तथा। -शिव0, 7,2,13,51
26. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ 183-84
27. गौतम उवाच -
    यूयं सर्वे दुरात्मानो दुःखदा में विशेषतः।
    शिवभक्तस्य सततं स्युर्वेदविमुखाः सदा।। -शिव0, 4,27,35
28. दक्षिणस्यां दिशि हि यो गिरिर्ब्रह्मेति संज्ञकः।
    तत्र तेन तपस्तप्तं वर्षाणामयंतु तथा।। -शिव0 4, 34, 3
29. यूयं सर्वे दुरात्मानो दुःखदा मे विशेषतः।
    शिवभक्तस्य सततं स्युर्वेदविमुखाः सदा।। -शिव0,4,27, 35
    इसके अतिरिक्त -शिव, 4, 27,38; 4,27,43
30. वही, 4,27,45
31. विलकिन्स, डब्ल्यू0, जे0, हिन्दू माइथोलाजी, पृष्ठ 218
32. बनर्जी, जे0एन0, डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृष्ठ 465
33. शिवमहापुराण, 6/9/7
34. वही, 4/43/4
35. वही, 6/16/33
36. वही, 7/2/31-32
37. अपरे तु पराशक्तिः शिवस्य समवायिनी। वही, 7/1/29
38. वही, 7/2/7

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

39. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः। वही, 7/2/4
40. वही, 7/2/4/28-29
41. वही, 7/1/5/10
42. वही, 7/2/6/1
43. वही, 7/1/31/80, 8.87
44. शिव महापुराण,6/7/72-76; पाशुपत सूत्र, 1/42,
वामदेवाय नमो ज्ये ठाय नमो रुद्राय नमः।
वही, 2/22,कालाय नमः। वही, 2/23,
कलविकरणाय नमः। वही, 2/24,
वलप्रमथनाय ननः। वही, 2/25
सवभूतदमनाय ननः। वही, 2/26।
45. शिव महापुराण, 6/3/19; पाशु0,5/42
शिव महापुराण, 6/14/20; पाशु0, 40
46. शिव0 7/2/8/18
वही, 7/1/32/13
वही, 7/1/23/1
वही, 7/1/32/17
वही, 7/1/32/18
47. वही, 7/2/40/35
वही, 7/1/33/2
48. वही, 6/16/44
वही, 6/16/46
49. वही, 6/16/46
50. वही, 6/19/44
51. वही, 21/173
52. वही
53. शिव0, 3/9/11
54. शिव0, 3/8/2-4
55. एलीमेंट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, जिल्द 2, पृष्ठ 70
56. एम.आर. सरकार, हिस्ट्री एण्ड फिलॉसफी ऑफ लिंगायत रिलिजन, पृष्ठ 305-308

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव की अनुग्रह मूर्तियों का प्रतिमा लाक्षणिक वैशिष्ट्य

-शांति स्वरूप सिन्हा*

भारतीय परम्परा और कला में शिव के विविध रूपों के संदर्भ उपलब्ध हैं, जिनसे शिव के महादेव और महेश्वर स्वरूप का संकेत मिलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि रूद्र से शिव के विकासक्रम में जिन तत्वों ने शिव के स्वरूप निर्धारण में योगदान किया उनमें लोकतत्वों की प्रमुख भूमिका थी, जिसके कारण शिव भूतनाथ भी हैं और पशुपतिनाथ भी। वास्तव में शिव के जनजातीय और लोकतत्वों का समावेश उनके लोकमंगलकारी स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। शिव विभिन्न रूपों में देवताओं, असुरों और भक्तों पर समय-समय पर अनुग्रह भी करते हैं जो उनके अनुग्रह स्वरूपों की परिकल्पना में स्पष्टतः देखा जा सकता है। अनुग्रह स्वरूपों में शिव केवल अर्जुन (अर्जुनानुग्रह) एवं चण्डेश (चण्डेशानुग्रह) जैसे भक्तों पर ही अनुग्रह नहीं करते वरन् रावण जैसी आसुरी प्रवृत्ति वाले भक्त पर भी अनुग्रह करते हैं (रावणानुग्रह) और यही शिव का शिवत्व है। अनुग्रह स्वरूपों में शिव के ऐसे स्वरूप भी सम्मिलित हैं जिनमें शिव ने विष्णु (विष्ण्वानुग्रह), नन्दी (नन्दीशानुग्रह) और गणेश (विघ्नेश्वरानुग्रह) पर अनुग्रह किया था। इस प्रकार अनुग्रह स्वरूप शिव के शिवत्व भाव का रूपांक़न है। इन स्वरूपों के अतिरिक्त गंगाधर एवं यमान्तक स्वरूपों को भी शिव की अनुग्रह मूर्तियों के अन्तर्गत रखा गया है। गंगाधर स्वरूप में शिव मूलतः भगीरथ और उनके माध्यम से गंगा के पृथ्वी पर अवतरण का मार्ग प्रशस्त कर पूरी मानवता पर अनुग्रह करते हैं। ऐसे ही यमान्तक स्वरूप में एक ओर जहाँ यम को दण्डित करने के कारण उनका संहार भाव व्यक्त होता है वहीं दूसरी ओर भक्त मार्कण्डेय की रक्षा करने में शिव के अनुग्रह का मूल भाव भी द्रष्टव्य है। अतः एक दूसरी दृष्टि से इन मूर्ति स्वरूपों को अनुग्रह स्वरूपों के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। वास्तव में अनुग्रह एवं संहार स्वरूपों का विभाजन शिव के कार्य सम्पादन पर आधारित है। इस दृष्टि से शिव की संहार मूर्तियों में भी कहीं न कहीं जगत् या मानवता पर अनुग्रह का भाव निहित है। अन्धकारि एवं गजान्तक स्वरूपों में भी शिव संहार के बाद इन असुरों को अपने गणों के रूप में स्वीकार कर उन पर अनुग्रह ही करते हैं। चण्डेशानुग्रह एवं विष्ण्वानुग्रह जैसे स्वरूप केवल पल्लव तथा चोल कला में ही उपलब्ध हैं। अनुग्रह मूर्ति स्वरूपों में रावणानुग्रह स्वरूप निःसन्देह सर्वाधिक लोकप्रिय स्वरूप था जिसका उत्तर एवं दक्षिण भारतीय शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में अनुल्लेख है।

*कला इतिहास विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

39. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः। वही, 7/2/4
40. वही, 7/2/4/28-29
41. वही, 7/1/5/10
42. वही, 7/2/6/1
43. वही, 7/1/31/80, 8.87
44. शिव महापुराण,6/7/72-76; पाशुपत सूत्र, 1/42,
वामदेवाय नमो ज्ये ठाय नमो रुद्राय नमः।
वही, 2/22,कालाय नमः। वही, 2/23,
कलविकरणाय नमः। वही, 2/24,
बलप्रमथनाय नमः। वही, 2/25
सवभूतदमनाय नमः। वही, 2/26।
45. शिव महापुराण, 6/3/19; पाशु0,5/42
शिव महापुराण, 6/14/20; पाशु0, 40
46. शिव0 7/2/8/18
वही, 7/1/32/13
वही, 7/1/23/1
वही, 7/1/32/17
वही, 7/1/32/18
47. वही, 7/2/40/35
वही, 7/1/33/2
48. वही, 6/16/44
वही, 6/16/46
49. वही, 6/16/46
50. वही, 6/19/44
51. वही, 21/173
52. वही
53. शिव0, 3/9/11
54. शिव0, 3/8/2-4
55. एलीमेंट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, जिल्द 2, पृष्ठ 70
56. एम.आर. सरकार, हिस्ट्री एण्ड फिलॉसफी ऑफ लिंगायत रिलिजन, पृष्ठ 305-308

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव की अनुग्रह मूर्तियों का प्रतिमा लाक्षणिक वैशिष्ट्य

-शांति स्वरूप सिन्हा*

भारतीय परम्परा और कला में शिव के विविध रूपों के संदर्भ उपलब्ध हैं, जिनसे शिव के महादेव और महेश्वर स्वरूप का संकेत मिलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि रूद्र से शिव के विकासक्रम में जिन तत्वों ने शिव के स्वरूप निर्धारण में योगदान किया उनमें लोकतत्वों की प्रमुख भूमिका थी, जिसके कारण शिव भूतनाथ भी हैं और पशुपतिनाथ भी। वास्तव में शिव के जनजातीय और लोकतत्वों का समावेश उनके लोकमंगलकारी स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। शिव विभिन्न रूपों में देवताओं, असुरों और भक्तों पर समय-समय पर अनुग्रह भी करते हैं जो उनके अनुग्रह स्वरूपों की परिकल्पना में स्पष्टतः देखा जा सकता है। अनुग्रह स्वरूपों में शिव केवल अर्जुन (अर्जुनानुग्रह) एवं चण्डेश (चण्डेशानुग्रह) जैसे भक्तों पर ही अनुग्रह नहीं करते वरन् रावण जैसी आसुरी प्रवृत्ति वाले भक्त पर भी अनुग्रह करते हैं (रावणानुग्रह) और यही शिव का शिवत्व है। अनुग्रह स्वरूपों में शिव के ऐसे स्वरूप भी सम्मिलित हैं जिनमें शिव ने विष्णु (विष्ण्वानुग्रह), नन्दी (नन्दीशानुग्रह) और गणेश (विघ्नेश्वरानुग्रह) पर अनुग्रह किया था। इस प्रकार अनुग्रह स्वरूप शिव के शिवत्व भाव का रूपांकन है। इन स्वरूपों के अतिरिक्त गंगाधर एवं यमान्तक स्वरूपों को भी शिव की अनुग्रह मूर्तियों के अन्तर्गत रखा गया है। गंगाधर स्वरूप में शिव मूलतः भगीरथ और उनके माध्यम से गंगा के पृथ्वी पर अवतरण का मार्ग प्रशस्त कर पूरी मानवता पर अनुग्रह करते हैं। ऐसे ही यमान्तक स्वरूप में एक ओर जहाँ यम को दण्डित करने के कारण उनका संहार भाव व्यक्त होता है वहीं दूसरी ओर भक्त मार्कण्डेय की रक्षा करने में शिव के अनुग्रह का मूल भाव भी द्रष्टव्य है। अतः एक दूसरी दृष्टि से इन मूर्ति स्वरूपों को अनुग्रह स्वरूपों के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। वास्तव में अनुग्रह एवं संहार स्वरूपों का विभाजन शिव के कार्य सम्पादन पर आधारित है। इस दृष्टि से शिव की संहार मूर्तियों में भी कहीं न कहीं जगत् या मानवता पर अनुग्रह का भाव निहित है। अन्धकारि एवं गजान्तक स्वरूपों में भी शिव संहार के बाद इन असुरों को अपने गणों के रूप में स्वीकार कर उन पर अनुग्रह ही करते हैं। चण्डेशानुग्रह एवं विष्ण्वानुग्रह जैसे स्वरूप केवल पल्लव तथा चोल कला में ही उपलब्ध हैं। अनुग्रह मूर्ति स्वरूपों में रावणानुग्रह स्वरूप निःसन्देह सर्वाधिक लोकप्रिय स्वरूप था जिसका उत्तर एवं दक्षिण भारतीय शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में अनुल्लेख है।

*कला इतिहास विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुग्रह स्वरूप के निर्माण की परंपरा गुप्त काल से मिलती है जिसके प्रारम्भिक उदाहरण रावणानुग्रह और अर्जुनानुग्रह मूर्तियों के रूप में उपलब्ध हैं। ज्ञातव्य है कि शास्त्रीय परंपरा में भी रावणानुग्रह एवम् अर्जुनानुग्रह स्वरूपों का उल्लेख पहले मिलता है जो रामायण, महाभारत, कालिदास के रघुवंश और कुमारसम्भव तथा माघकृत शिशुपालवध में द्रष्टव्य है। अन्य स्वरूपों का ग्रन्थों में उल्लेख और कला में उनकी अभिव्यक्ति सातवीं शती के पूर्व नहीं मिलती। इसका एकमात्र अपवाद विष्ण्वानुग्रह स्वरूप है जिसका उल्लेख महाभारत में मिलता है। अनुग्रह स्वरूपों में शिव सौम्य दर्शन वाले और त्रिनेत्र दिखाये गये हैं। रावणानुग्रह, अर्जुनानुग्रह और चण्डेशानुग्रह स्वरूपों में भुवनेश्वर, पट्टडकल, एलोरा, तंजौर एवं गंगैकोण्डचोलपुरम् के उदाहरणों में शिव उमा सहित रूपायित हैं। शिव सामान्यतया त्रिशूल या परशुधारी दिखलाये गये हैं। उत्तर भारत की रावणानुग्रह मूर्तियों में कभी-कभी आसन के नीचे शिववाहन वृषभ और उमा वाहन सिंह का भी अंकन मिलता है। अनुग्रह स्वरूपों में सामान्यतः वाहन का अंकन नहीं हुआ है। केवल कुछ रावणानुग्रह (भुवनेश्वर) और अर्जुनानुग्रह (पट्टडकल, दारासुरम्, कडूर, डोण्डालूर) मूर्तियाँ इसका अपवाद हैं जिनमें वाहन उत्कीर्ण हैं। सभी उदाहरणों में पार्वती द्विभुजी है। विभिन्न स्थलों से प्राप्त शिव की अनुग्रह मूर्तियों में अलग-अलग प्रकार से शिव के अनुग्रह का भाव व्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए अर्जुनानुग्रह स्वरूप में पाशुपत अस्त्र देते हुए जबकि चण्डेशानुग्रह स्वरूप में चण्डेश के मस्तक पर उष्णीष बांधने का भाव व्यक्त हुआ है। रावणानुग्रह मूर्तियों में प्रायः सभी क्षेत्रों के उदाहरणों में रावण का एक मुख (कभी-कभी मुख्य मुख के ऊपर) गर्दभ मुख दिखाया गया है।[1] ध्यातव्य है कि ऋग्वेद् के मानवीय स्वरूप को गर्दभ मुख बताया गया है। इसके अतिरिक्त रावण द्वारा पर्वत शिखर उठाने की चेष्टा के समय पार्श्वाकृतियों के रूप में गणों का रावण का उपहास करने की मुद्रा में अंकन भी रोचक है।

रावणानुग्रह मूर्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि शिव के अनुग्रह स्वरूपों में रावणानुग्रह स्वरूप कथात्मक एवं शिल्प में रूपान्तरण दोनों ही दृष्टियों से आरम्भिक और इसी कारण सर्वाधिक व्यापक और लोकप्रिय रहा है जिसके कम से कम 75 उदाहरण हमें सम्पूर्ण भारतवर्ष से प्राप्त होते हैं। साथ ही रावणानुग्रह मूर्तियों के निरूपण में सर्वाधिक क्षेत्रीय विभिन्नतायें भी मिलती हैं।

उत्तर भारत की उमा-महेश्वर मूर्तियों की पीठिका पर रावण की आकृति की उपस्थिति के माध्यम से रावणानुग्रह स्वरूप के संकेत से लेकर भुवनेश्वर, पट्टडकल की स्वतन्त्र किन्तु छोटी मूर्तियों का कथात्मक शैली में निरूपण महत्वपूर्ण है। एलोरा के चट्टानी शिल्प (सातवीं-आठवीं शती ई.) में एक विशाल आयाम में पूरी कथात्मक पृष्ठभूमि के साथ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रावणानुग्रह मूर्ति को प्रस्तुत किया गया है। दक्षिण भारत में पल्लव एवं चोल कला में स्वतंत्र मूर्तियें के साथ ही फलक मूर्तियों के रूप में कथा दृश्यों (रामकथा) में भी इस स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है।

इस स्वरूप का अंकन गुप्त काल में प्रारम्भ हुआ जिसका उदाहरण डींग दरवाजा, मथुरा से मिला है।[2] यद्यपि रावणानुग्रह स्वरूप के साहित्यिक संदर्भ (रामायण, शिवपुराण एवं कालिदास के काव्य ग्रंथों) एवं मूर्त उदाहरण उत्तर भारत में ही उपलब्ध हैं, किन्तु सातवीं से 13वीं शती ई. के बीच यह स्वरूप एलोरा, भुवनेश्वर तथा दक्षिण भारत के पुरास्थलों पर ही अधिक लोकप्रिय था, जहाँ से इस स्वरूप के सर्वाधिक उदाहरण विविधता के साथ मिले हैं। संभवतः एलोरा, भुवनेश्वर, कांचीपुरम्, गंगैकोण्डचोलपुरम् जैसे स्थलों पर शैवधर्म और शिव के मंदिरों की प्रधानता के कारण शिव का अनुग्रह प्राप्त करने की इच्छा से रावणानुग्रह स्वरूप की मूर्तियों को एक प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया जिसमें शिव की उदार कृपा की अभिव्यक्ति और उसे प्राप्त करने का भाव रहा हो सकता है। एलोरा के एक उदाहरण (दशावतार गुफा) के अतिरिक्त दक्षिण भारत से प्राप्त अन्य किसी उदाहरण में शिवगणों द्वारा रावण के उपहास का दृश्य नहीं दर्शाया गया है, जबकि उत्तर भारत की रावणानुग्रह मूर्तियों में रावण के उपहास का दृश्य लगभग सभी उदाहरणों में उपलब्ध है। यह तथ्य रावण के प्रति दक्षिण भारत में आदर भाव का भी सूचक हो सकता है और साथ ही इस क्षेत्र में रावणानुग्रह मूर्तियों की सर्वाधिक लोकप्रियता का कारण भी।

दक्षिण भारत की मूर्तियों में भुवनेश्वर के शत्रुघ्नेश्वर एवं परशुरामेश्वर मंदिरों के उदाहरणों के अतिरिक्त सामान्यतया शिव और पार्वती के वाहनों (नन्दी एवं सिंह), पुत्रों (गणेश एवं कार्त्तिकेय) एवं शृङ्गी ऋषि को नहीं दिखाया गया है जो क्षेत्रीय विशिष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। भुवनेश्वर, एलोरा सहित दक्षिण भारत के उदाहरणों में कभी रावण की आकृति पर्वत शिखर पर विराजमान आकृति से बड़ी दिखायी गयी है जिसके दो संदर्भ बनते हैं। एक तो दक्षिण भारतीय परम्परा में रावण के प्रति आस्था और आदर का भाव है और दूसरे सम्पूर्ण कथा प्रसंगों के शिल्पी द्वारा दृश्य संयोजन की विशेष दृष्टि है। सम्पूर्ण भारत के अधिकांश उदाहरणों से ऐसा आभासित होता है मानों रावण के दर्प भंग की कथा की पृष्ठभूमि से अधिक शिव की इच्छा और प्रेरणा के फलस्वरूप रावण के कैलाशोत्तोलन की कथा की पृष्ठभूमि मूर्तियों के उकेरन में अधिक प्रभावी रही है क्योंकि इनमें सामान्यतः भयजन्त परिस्थिति के फलस्वरूप पार्वती के शिव के निकट आने का भाव ही अधिक प्रखर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। इस प्रकार इस स्वरूप की अभिव्यक्ति मुख्यतः शिव की लीला के रूप में हुई है। यही कारण है कि कुछ उदाहरणों में पर्वतोत्तोलन की मुद्रा में रावण की वीणाधारी और उसके पार्श्वों में वाद्य-वादन करती आकृतियों (त्रिपुरी एवं जबलपुर से प्राप्त उदाहरण) का भी उकेरन हुआ है। साथ ही एक उदाहरण (सिरोन खुर्द) में रावण की पर्वत उठाने में सहायता करने की मुद्रा में सहायक आकृतियों के रूप में गणेश एवं कार्त्तिकेय की आकृतियों की उपस्थिति भी उपरोक्त बातों की पुष्टि करती है।

उत्तर भारत की उमा-महेश्वर मूर्तियों की पृष्ठभूमि में बनी रावणानुग्रह मूर्तियों तथा भुवनेश्वर (परशुरामेश्वर मन्दिर) के उदाहरण के शीर्ष भाग में ब्रह्मा और विष्णु की उपस्थिति भी महत्वपूर्ण ह[3] जिन्हें इस अवसर पर साक्षी के रूप में रूपायित किया गया, ऐसा माना जा सकता है। उत्तर भारत की मूर्तियों में उमा-महेश्वर मूर्तिस्वरूप की पृष्ठभूमि में बनी रावणानुग्रह मूर्तियों की पीठिका पर रावण की लघु आकृति को एक, तीन और पाँच मुखों वाला दिखाया गया है जो दशानन रूप का पार्श्व या पृष्ठ दर्शन में प्रतीकात्मक अंकन है। कई बार रावण की आकृति के मानव मुखों के ऊपर गर्दभ मुख दिखाया गया है जो उत्तर भारत की रावणानुग्रह मूर्तियों का वैशि ट्य है। गर्दभ मुख स्थूल रूप में रावण के मूर्खतापूर्ण कृत्य का प्रतीक हो सकता ह[4] , क्योंकि रामायण में रावण के रथ में अश्व के स्थान पर गर्दभ का उल्लेख मिलता है। किन्तु भारतीय कला का मर्म स्थूल से कहीं अधिक सूक्ष्म या गूढ़ रहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर रावण का वेदज्ञ होना और ऋग्वेद के मानव स्वरूप की परिकल्पना में श्रीतत्त्वनिधि के अनुसार ऋग्वेद का गर्दभ मुख बताया जाना रावणानुग्रह मूर्ति के संदर्भ में प्रासंगिक हो सकता है। वैसे एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि एलोरा के एक उदाहरण (गुफा सं. 21) के अतिरिक्त दक्षिण भारत की मूर्तियों में रावण के साथ गर्दभ मुख कहीं नहीं दिखाया गया है जिसका प्रत्यक्ष कारण उनका रावण के प्रति आदर भाव रहा होगा।

अर्जुनानुग्रह स्वरूप के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ तथ्य उभर कर सामने आये हैं जिनसे इस स्वरूप के निर्माण की कथात्मक पृष्ठभूमि और उनमें अंकन के स्तर परकभेद और क्षेत्रीय दृष्टि से विकास की जानकारी होती है। अर्जुनानुग्रह स्वरूप भी रावणानुग्रह मूर्तिस्वरूप के बाद भारतीय साहित्य एवं कला में सर्वाधिक प्रचलित अनुग्रह स्वरूप रहा है। इस स्वरूप का प्रारम्भिक उदाहरण गुप्तकाल (राजौना, बिहार) का है।[5] अन्य प्रारम्भिक मूर्तियाँ (छठीं से आठवीं शती ई.), भुवनेश्वर (शिशिरेश्वर एवं स्वर्णजालेश्वर मन्दिर),

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नागरी (राजस्थान), महाबलीपुरम्, कांचीपुरम् एवं एलोरा (कैलाश मंदिर - 8वीं शती ई.) से प्राप्त होती है। प्रायः सभी उदाहरणों में इस स्वरूप का निरूपण कथात्मक शैली में हुआ है। प्रारम्भिक उदाहरण प्रायः भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों भागों से प्राप्त होते हैं परन्तु परवर्तीकाल में इस स्वरूप का अंकन मुख्यतः दक्षिण भारत से ही मिलता है।

अर्जुनानुग्रह स्वरूप का शिल्प में अंकन प्रायः तीन रूपों में हुआ है। प्रथम वर्ग में स्वतंत्र प्रतिमा के रूप में किरातवेशधारी शिव और अर्जुन को शरसंधान की मुद्रा में युद्धरतः (कैलाशनाथ मंदिर, कांचीपुरम्) अथवा शिव अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान (पुलमंगलई एवं बृहदीश्वर मंदिर, तंजौर) करते दिखाये गये हैं। दूसरे वर्ग में महाभारत कथा प्रसंग के अन्तर्गत किरात एवं अर्जुन का युद्ध और तदुपरान्त शिव के अनुग्रह दृश्य का अंकन (कैलाश मंदिर, एलोरा, शिशिरेश्वर मंदिर, भुवनेश्वर एवं पट्टडकल) मिलता है।

तीसरे वर्ग की मूर्तियाँ कथात्मक शैली में हैं जिनके उदाहरण भुवनेश्वर (स्वर्णजालेश्वर मंदिर) के अतिरिक्त चालुक्य, चोल एवं होयसलकालीन पुरास्थलों (तंजौर, कुम्भकोणम्, दारासुरम्, पट्टडकल, हलेविड, बेलूर) से प्राप्त हैं। इनमें कथा के अंकन के स्तर पर काफी विभिन्नताएँ दिखलायी पड़ती हैं जैसे चोलकालीन कला केन्द्रों के अर्जुनानुग्रहस्वरूप में किरातार्जुनीयम् (भारविकृत) का प्रभाव स्पष्ट है।[6] होयसलकालीन पुरास्थलों के फलकों के कथात्मक दृश्यांकन में अर्जुनानुग्रहस्वरूप के निरूपण में कर्नाटक में प्रचलित लोक कथा और किरातार्जुनीयम् का मिश्रित रूप द्रष्टव्य है। इनमें अर्जुनानुग्रह स्वरूप के प्रायः सभी उदाहरणों में पार्वती का यह लौकिक प्रसंग (जिनमें वे अर्जुन की पीठ पर बने मांगलिक चिन्ह को देखने के लिए शिव को अर्जुन से युद्ध हेतु प्रेरित करती है) भारतीय मूर्तिकला में स्थानीय लोक जीवन के प्रसंगों के प्रभाव की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[7] तीसरे वर्ग की मूर्तियाँ संख्या में सर्वाधिक हैं, जिन्हें मन्दिरों के नरथर, अधिष्ठान एवं स्तम्भों पर उत्कीर्ण किया गया है। ऐसे उदाहरण गुप्त काल से होयसल काल में और उसके बाद भी मिलते हैं। राजौना (गुप्तकाल) के उदाहरण में अर्जुन को पञ्चाग्नि तप करते एवं समीप ही मकर वाहिनी गंगा को दिखलाया गया है जो कथा का प्रासंगिक संदर्भ है और गंगा किनारे किये जाने वाले तप की अभिनव प्रस्तुति है।[8] भुवनेश्वर के प्रारम्भिक मंदिरों पर इस स्वरूप के कथात्मक अंकन में अर्जुन तथा किरात को एक शूकर पकड़े तथा कथा के क्रम में आगे अर्जुन को शिवलिंग के समक्ष अञ्जलिबद्ध आमूर्तित किया गया है।[9] इसी प्रकार चालुक्य, चोल एवं होयसल पुरास्थलों की मूर्तियों में अर्जुन और किरात के युद्ध प्रसंग में श्वान का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंकन भी प्रांसगिक है क्योंकि आखेट दृश्यांकन में श्वान् के अंकन की नियमित परम्परा मिलती है जिसे रेवन्त की मूर्तियों में भी देखा जा सकता है। साथ ही शूकर देहधारी असुर के आहत होने के बाद उसे मानवरूप में प्रकट होते भी दिखलाया गया है।[10] होयसल पुरास्थलों के उदाहरणों में कभी-कभी अर्जुन की तपस्या में विघ्न उपस्थित करने की इच्छा से इन्द्र द्वारा भेजी अप्सराओं के नृत्य एवं संगीत को भी प्रस्तुत किया गया है।

अर्जुनानुग्रह स्वरूप में उपरोक्त अंकन के अतिरिक्त लोककथानक के अनुसार पार्वती की इच्छा से शिव का अर्जुन से युद्ध और युद्ध के क्रम में पार्वती द्वारा अर्जुन के पृष्ठभाग पर अंकित मांगलिक चिन्ह देख लिए जाने के पश्चात् पार्वती का एक हाथ उठाकर शिव से युद्ध समाप्त करने का संकेत देने का अंकन प्रायः होयसलकालीन एवं कर्नाटक-आन्ध्र के सीमान्त क्षेत्रों के उदाहरणों में द्रष्टव्य है।[11] कथा के अंतिम खण्ड पर शिव-पार्वती सहित अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्रदान करते दिखाये गये हैं। ऐसे स्वरूप में अधिकतर शिव-पार्वती आसीन है और सम्मुख अर्जुन की कृतांजलि आकृति शिव की कृपा से अभिभूत होती दिखायी गयी है। शिव वाहन नन्दी का अंकन केवल कुछ स्थलों (पट्टडकल, दारासुरम्, कडूर और डोण्डालूर) पर ही हुआ है। सामान्य रूप से त्रिनेत्र शिव परशु, मृग, सर्प और वरद से युक्त है जबकि छत्रवीर वेषधारी अर्जुन को शिव पाशुपत अस्त्र प्रदान करते निरूपित है।

शिव के चण्डेशानुग्रह स्वरूप के उदाहरणों में विचारशर्मन नामक बालक के शिव भक्ति द्वारा शिव का अनुग्रह प्राप्त करने की जिन घटनाओं का अंकन मिलता है, उनमें उदाहरणों की अपनी विशिष्टताएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। एक तरफ जहाँ उत्तर भारत में इस स्परूप के न तो साहित्य में सन्दर्भ प्राप्त हैं और न ही मूर्तिगत उदाहरण अभी तक मिले हैं, वहीं दक्षिण भारत में इस स्वरूप की मूर्तियाँ तथा उनके साहित्यिक संदर्भ दोनों उपलब्ध हैं। दक्षिण भारत के इन संदर्भों के आधार पर मुख्यतया कांचीपुरम् के पल्लवकालीन कैलाशनाथ, मांतगेश्वर एवं मुक्तेश्वर मंदिरों की चण्डेशानुग्रह मूर्तियों को देखने से ऐसा लगता है कि इनमें एकल शिव चतुर्भुजरूप में चण्डेश का सम्मान या उस पर अनुग्रह कर रहे हैं।

विकास की दृष्टि से अगर देखें तो इन उदाहरणों में कांचीपुरम् के कैलाश नाथ मंदिर का आठवीं शती ई. का उदाहरण अंकन और विषयवस्तु दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध और गतिशील है। इस मूर्ति में चण्डेशानुग्रह की कथा के तीनों अंश क्रमवद्ध रूप से प्रदर्शित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किये गये हैं जिनमें पिता के पैरों पर विचारशर्मन् द्वारा प्रहार, अपने पुत्र के इस अप्रत्याशित व्यवहार से हतप्रभ और घायल होकर गिरते पिता की आकृति और विचारशर्मन की इस अपार भक्ति से प्रसन्न शिव द्वारा उसे चण्डेश पद प्रदान कर उस पर अनुग्रह करने का अंकन हुआ है।[12] इस स्वरूप का ऐसा वैविध्यपूर्ण और क्रमवार अंकन और कहीं नहीं मिलता है।

इसी प्रकार चोलकालीन पुरास्थलों से प्राप्त चण्डेशानुग्रह स्वरूपों की अपनी विशि टताएँ परिलक्षित होती हैं। तंजौर, गंगैकोण्डचोलपुरम्, चिदम्बरम् जैसे कला केन्द्रों (11वीं-12वीं शती ई.) से इस स्वरूप के जो उदाहरण मिलते हैं, उनमें तुलनात्मक विकास की रचनाप्रक्रिया स्पष्ट होती है। इन चोलकालीन उदाहरणों में पल्लव शैली की एकल शिव प्रतिमाओं से अलग शिव की पार्वती सहित आसीन और भक्त चण्डेश पर अनुग्रह करते दर्शाया गया है। इसमें पार्वती सहित आसीन चतुर्भुज शिव हाथों में परशु तथा मृग लिये हैं जबकि दो हाथों से शिव बालक के मस्तक पर पुष्पों की माला से उष्णीष बांधते दिखाये गये हैं। यह स्वरूप 'उत्तरकामिकागम' में वर्णित संदर्भ से निर्दिष्ट है।

चोलकला में इन मूर्तियों की इतनी अधिक लोकप्रियता थी कि अनेक चोल मंदिरों में इस स्वरूप का स्पष्ट अथवा सांकेतिक अंकन हुआ है। गंगैकोण्डचोलपुरम् के बृहदीश्वर मंदिर (11वीं शती ई.) की एक रथिका में इस स्वरूप का अलौकिक अंकन द्रष्टव्य है, जिसमें शिव चण्डेश के सिर पर पुष्पमाला से उष्णीश को दोनों हाथों से स्नेहपूर्वक बांधते हुए निरूपित है जो शिव की असीम कृपा का मूर्त रूपान्तरण है और इसकी पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं मंदिर के निर्माणकर्ता शासक राजेन्द्र चोल की स्वयं की चण्डेश के रूप में प्रस्तुति और इस प्रकार शिव का अनुग्रह प्राप्त करने की इच्छा भी अभिव्यक्त हुई है। मुख्य रथिका के पार्श्वों की दो सहायक रथिकाओं में कथा के पूर्ववर्ती अंशों का अंकन हुआ है।

विष्ण्वानुग्रह और नन्दीशानुग्रह स्वरूपों के प्रतिमालाक्षणिक संदर्भों तथा सीमित संख्या में मूर्ति अंकनों से स्पष्ट होता है कि ये विषय काव्यकारों में अथवा मंदिर-मूर्ति निर्माणकर्ताओं में अधिक रूचि से नहीं लिया गया। यदि कालक्रम की ऐतिहासिक धारा को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पूर्वमध्य काल तक पूरे भारत में शैव मतावलम्बियों का राजनीतिक एवं सामाजिक रूप से वर्चस्व हो गया था। देवत्रयी के अन्य दो देवताओं यथा ब्रह्मा और विष्णु की तुलना में शिव सामान्यीकरण के अपने विशिष्ट गुणों के कारण पूरे देश के सभी वर्गों यथा, नागरिक, ग्रामीण, धार्मिक, वनवासी, आर्यों, अनार्यो, राक्षसों आदि में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वमान्य, सर्वप्रिय और सर्वस्वीकृत देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। विष्ण्वानुग्रह स्वरूप विष्णु पर शिव के अनुग्रह से सम्बन्धित है जिसकी पृष्ठभूमि शैव और वैष्णव धर्मों के बीच समन्वय का भाव रहा है। इस स्वरूप की मूर्तियों के उदाहरण सातवीं से 12वीं शती ई. के मध्य कांचीपुरम् (कैलाशनाथ मंदिर), गंगैकोण्डचोलपुरम् (बृहदीश्वर मंदिर) और पाटलगंगा (श्रीशैलम् मंदिर) से प्राप्त हुए है।[13]

नन्दीशानुग्रह स्वरूप में भक्त की भगवान् के प्रति अगाध श्रद्धा का मूर्त अंकन हुआ है जिसके शास्त्रीय संदर्भ दक्षिण भारतीय शिल्पशास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध हैं किन्तु इस स्वरूप की मूर्तियाँ नहीं बनीं। संभव है इस विषय पर अलग से स्वतंत्र शोधकार्य के प्रसंग में इस स्वरूप की कोई मूर्ति भविष्य में प्राप्त हो जाय। विघ्नेश्वरानुग्रह या गणेशानुग्रह स्वरूप का भी निरूपण केवल ग्रंथों में हुआ है। इस स्वरूप की भी कोई मूर्ति नहीं मिली है।

सन्दर्भः

1. बी.एन. शर्मा : रावण लिफिटिंग माउण्ट कैलाश इन इण्डियन आर्ट, ईस्ट एण्ड वेस्ट, खं. 23, अं. 3-4, 1973, पृ. 329.
2. एन.पी. जोशी : मथुरा की मूर्तिकला, मथुरा, 1965.
3. शांति स्वरूप सिन्हा : भुवनेश्वर की रावणानुग्रह मूर्तियों का वैशि ट्य, इण्डियन आर्ट हिस्ट्री कांग्रेस के पंचम अधिवेशन में प्रस्तुत शोध लेख, भुवनेश्वर, फरवरी, 1997.
4. शशि बाला श्रीवास्तव : शिव के रावणानुग्रह स्वरूप का कला में प्रदर्शन, प्रो. के. डी. वाजपेयी स्मृति विशेषांक (पांचाल), संपा. ए. एल. श्रीवास्तव, खं. 5, कानपुर, 1992, पृ. 109.
5. सी.पी. सिन्हा : अर्की स्कल्पचर ऑफ बिहार, पटना, 1980.
6. किरातार्जुनीयम् महाकाव्य : (अनु.) राम प्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, इलाहाबाद, 1958, पृ. 266-425.
7. शांति स्वरूप सिन्हा : शिव की अनुग्रह मूर्तियाँ, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1998, पृ. 133.
8. वही, पृ. 97.
9. टी.एन. रामचन्द्रन : किरातार्जुनीयम् इन इण्डियन आर्ट, जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, खं. 8, 1950, पृ. 22-26.
10. एम.एस. नागराज रॉव : किरातार्जुनीयम् इन इण्डियन आर्ट, दिल्ली, 1979, पृ. 21.
11. एम.एस. नागराज रॉव : ए किरातार्जुनीयम् स्कल्पचर फ्रॉम हलेबीड, प्रो. जी. एच. खरे फेलिसिटेशन, वाल्यूम, पृ. 153.
12. राजू कालिदास : आइकोनोग्राफी ऑफ अर्ली मेडिवल साउथ इण्डिया (शैव), खं. 2, तंजौर, 1986, पृ. 265.
13. आर. नागास्वामी : गंगैकोण्डचोलपुरम्, तमिलनाडु, 1970, पृ. 32.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एलोरा की शैव प्रतिमाओं का वैशिष्ट्य

आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव*

राष्ट्रीय महत्त्व का स्मारक एलोरा महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद जिले में स्थित है। एलोरा के एक प्रसिद्ध कलाकेन्द्र के रूपमें विकसित होने की पृष्ठभूमि में शासकीय समर्थन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ कल्चुरि, वाकाटक, चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं देवगिरि के यादवों के संरक्षण में छठीं से तेरहवीं शदी ई0 के मध्य कुल 34 गुफाएँ उत्कीर्ण हुई, जिनमें राष्ट्रकूटों के समय (सातवीं से दसवीं शदी ई0) का निर्माण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सभी प्रमुख भारतीय धर्मों (ब्राह्मण-बौद्ध-जैन) की यह कला त्रिवेणी बहुत अनोखी उतरी है।[1]

विभिन्न पुरास्थलों में राष्ट्रकूट काल में निर्मित एलोरा की गुफाओं एवं गुफामन्दिरों तथा शैलोत्कीर्ण मूर्तियों का विशेष महत्त्व रहा है। ब्राह्मण देव मूर्तियों की परम्परा में एलोरा में निश्चित ही शैव प्रतिमाओं का विशिष्ट स्थान है, जो एलोरा के अनुपम कैलास मन्दिर (8वीं-9वीं शदी ई0) में श्रेष्ठतम् स्तर पर अभिलक्षित और निरूपित हुई हैं। शिव-शक्ति के विविधरूपों की अभिव्यंजना की दृष्टि से इसे पूर्वमध्यकाल का व्यावहारिक मूर्तिकोष माना जा सकता है। यहाँ शिव नटेश, कल्याण सुन्दर, गंगाधर, रावणानुग्रह, अर्जुनानुग्रह, महेश, त्रिपुरान्तक, अन्धकारि, भैरव, लकुलीश, दक्षिणामूर्ति, गजान्तक, कालारि, लिंगोद्भव, गंगावतरण एवं अन्य कई रूपों में रूपायित हैं।

शैव मूर्तियों में एलोरा के शिल्प का निखार और उत्कृष्टता व्यक्त है, जिनमें शिव और शक्ति का अपूर्व समन्वय है। शिव की तीनों शक्तियाँ अर्थात् सृष्टि, स्थिति एवं संहार एलोरा की मूर्तियों में अभिव्यक्त हैं। एलोरा की शैव प्रतिमाएँ अधिकांशतः कथात्मक पृष्ठभूमि में उकेरी हैं और उनमें संहार स्वरूपों की प्रधानता है। शिव के अनुग्रह स्वरूपों में रावणानुग्रह संहार स्वरूपों में त्रिपुरान्तक और यमान्तक तथा सौम्य स्वरूपों में कल्याण सुन्दर मूर्तियां सर्वाधिक और सर्वश्रेष्ठ हैं। विविधता की दृष्टि से एलोरा की नटेश मूर्तियों का विशिष्ट स्थान है।

एलोरा में शिव के विविध रूपों के साथ ही शैव परिवार के देवी-देवताओं की भी पर्याप्त स्वतंत्र मूर्तियां बनीं। इन मूर्तियों में पार्वती, गणेश, कार्त्तिकेय एवम् गंगा मुख्य हैं।

रावणानुग्रह स्वरूप की कैलास मन्दिर (गुफा 16) में तीन मूर्तियां हैं। उनमें भाव सम्प्रेषण की क्षमता के कारण सर्वोत्कृष्ट होने के साथ ही सम्पूर्ण भारतीय मूर्तिकला का एक

*कला इतिहास विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशिष्ट उदाहरण भी है। निःसंदेह रावणानुग्रह स्वरूप की इतनी सुन्दर और सशक्त अभिव्यक्ति अन्यत्र नहीं हुई है। शिव का सौम्य, शान्त और अविचलित स्वरूप, पार्वती का पर्वत के हिलने से विचलित हो उठना तथा शिव के समीप सिमट आना, सम्पूर्ण पार्श्ववर्ती आकृतियों का पर्वत के हिलने से सशंकित हो उठना तथा रावण की सम्पूर्ण शक्ति का निष्फल जाना इस मूर्ति की विशेषताएं हैं।

गजासुरसंहार मूर्ति में अन्य मूर्तियों की भाँति शिव के दो हाथों में गजचर्म इस प्रकार प्रदर्शित हैं, मानो वे प्रभामण्डल का निर्माण कर रहा हो। त्रिपुरान्तक मूर्ति में शर-सन्धान की मुद्रा में (गुफा सोलह) शिव का निरूपण अत्यन्त क्रियाशील रूप में हुआ है। अंधकासुरवध मूर्ति में सिर के ऊपर उत्तर और दक्षिण भारत की मूर्तियों के समान ही गजचर्म का प्रदर्शित किया जाना अन्य क्षेत्रों में प्रचलित शास्त्रीय परम्पराओं से एलोरा के कलाकारों के परिचय का संकेत देता है। नटराज मूर्तियों में नृत्य की गतिशीलता तथा लयात्मकता पैरों तथा हाथों की स्थिति तथा मुख से पूरी तरह व्यक्त है। साथ ही समीप की सहायक आकृतियों को भी नृत्य तथा विभिन्न वाद्ययन्त्रों को बजाते हुए दिखलाना स्थिति के अनुरूप है। ये मूर्तियां लक्षण की दृष्टि से बादामी और एलिफेण्टा की नटराज मूतियों से तुलनीय हैं। इनमें गणेश, श्रृंगी ऋषि, नन्दी तथा पार्वती आदि को भी शिव के नृत्य का अवलोकन करते हुए दिखलाया गया है जो मूर्ति का वैशि ट्य है। कल्याणसुन्दर मूर्ति के कुछ उदाहरणों में मूर्ति का कथात्मक अंकन हुआ है। पहले ब्रह्मा द्वारा पार्वती के पिता हिमवान से पार्वती के विवाह के प्रसंग में वार्ता, तत्पश्चात् शिव-पार्वती के पाणिग्रहण (गुफा 21 और 29) और विवाह के पश्चात् शिव-पार्वती को क्रीड़ाभाव में आसीन होना दिखलाया गया है। ऐसा अंकन अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। शिव-पार्वती की विभिन्न मनोरम मूर्तियों में शिव-पार्वती को सामान्यतः आलिंगन मुद्रा में दिखलाया गया है।

गंगाधर मूर्ति का भी कथात्मक अंकन हुआ है (गुफा 15, 16) जिसमें गंगा को शिव की जटा से मुक्त होकर पृथ्वी की ओर आते हुए तथा नीचे की ओर पार्वती, भगीरथ एवं सगरपुत्रों के अंकन के माध्यम से इसे विवरणात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है। महेश मूर्ति विवरण की दृष्टि से एलिफेण्टा की महेश मूर्ति के समान है, किन्तु कलात्मक स्तर पर एलोरा की मूर्तियां एलिफेण्टा के समकक्ष नहीं ठहरतीं। लिंगोद्भव मूर्तियों में (गुफा 16) अग्निस्तम्भ से निकले शिव के समीप ही ब्रह्मा और विष्णु की आकृतियाँ नमस्कार मुद्रा में निरूपित हैं।

लयण स्थापत्य तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से एलोरा का विश्वप्रसिद्ध कैलास मन्दिर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वयं में एक आश्चर्य है। कैलास मंदिर की मूर्तियों में स्पष्टतः शैली और लक्षणों के स्तर पर पल्लव, चालुक्य और पूर्ववर्ती एलिफेण्टा मूर्तिशैलियों का प्रभाव देखा जा सकता है, जो शैव उदाहरणों में कैलास मन्दिर की महिषमर्दिनी तथा महिषासुर के युद्ध के कथा प्रसंगों एवं महेश मूर्ति के अंकन में द्रष्टव्य है। इन पर क्रमशः महाबलिपुरम् की महिषमर्दिनी मूर्ति एवं एलिफेण्टा की महेशमूर्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। कैलास मन्दिर और उनकी मूर्तियां इस बात की साक्षी हैं कि विभिन्न क्षेत्रों के शैलीगत और लक्षणपरक प्रभाव को किस प्रकार स्वीकार करने की परम्परा रही है, जो भारतीय कला के समन्वय क्षमता तथा उसकी निरन्तरता की सूचक है। कैलास मन्दिर राष्ट्रकूट शासक कृष्णराज प्रथम (756-774 ई0) के काल में पर्वत को काटकर बनाया गया था।[2] रावणानुग्रह कल्याण सुन्दर नटेश एवम् कई अन्य स्वरूपों की देव मूर्तियों में कैलास मन्दिर में कई अलग-अलग विशेषताएँ-दृष्टव्य हैं, जो इस बात की सूचक हैं कि कई पीढ़ियों के शिल्पियों ने उन्हें बनाया था और उनको पूर्व तथा समकालीन शिल्प एवं लक्षण परम्परा का भी ज्ञान था। रावणानुग्रह एवं कल्याण सुन्दर मूर्तियों में दिखायी पड़ने वाली विविधता इसी बात को अभिव्यक्त करती हैं। बाहर की ओर काम और रति का रूपांकन अर्थसूचक है, जो संकेत देता है कि काम पर नियन्त्रण के बाद ही मन्दिर में प्रवेश की सार्थकता है और साथ ही काम पर शिव के पूर्ण नियन्त्रण भाव को भी अभिव्यक्त करता है।[3]

एलोरा के शिल्प एवं मूर्तिलक्षण का पूरा निखार और उत्कृ टता यहाँ की शैवमूर्तियों में द्रष्टव्य हैं। यहाँ शिल्प परम्परा की अनुभूति और कर्मकौशल देवाधिदेव शिव की ऊर्जा और शिवत्व भाव को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम रहे हैं। एलोरा के शिल्पी ने शिव को एक विराट परिवेश में देखा और उनकी तीनों शक्तियाँ रचना, पालन और संहार को अत्यन्त मर्यादित और गौरवपूर्ण दृष्टि से इनके विविधरूपों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। एलोरा में अन्य ब्राह्मण देव प्रतिमाओं की तुलना में शिव की प्रतिमाएँ इसी कारण अधिक हैं और उनमें सर्वाधिक स्वरूपगत विविधता भी दृष्टिगत होती हैं। विभिन्न कथात्मक स्वरूपों के निरूपण में कलाकार ने कथा के उस अंश को प्रतिमाओं में अभिव्यक्त किया है, जो कथा की पूर्णता या चरमबिन्दु का संकेत देते हैं। ध्यातव्य है कि एलोरा की संघाट प्रतिमाओं में भी केवल शिव से सम्बद्ध स्वरूपों की ही मूर्तियाँ उकेरी हैं। शिव से अलग किसी अन्य संघाट स्वरूप का न मिलना भी एलोरा का वैशिष्ट्य है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिकांशतः कथात्मक पृष्ठभूमि में पुराणों की परम्परा के अन्तर्गत एलोरा की देवमूर्तियों का रूपायन हुआ है। विशिष्ट आयुधों, वाहनों एवं लक्षणों की दृष्टि से मूर्तियाँ परम्परा निर्दिष्ट हैं। किन्तु मूर्तियों में अतिरिक्त हाथों की संख्या एवं उनमें दिखाये जाने वाले आयुधों तथा पार्श्वदेवताओं के उकेरन की दृष्टि से शिल्पी ने एकरसता का परिहार करने के उद्देश्य से परिवर्तन भी किये हैं। नटेश, रावणानुग्रह, कल्याणसुन्दर, गंगाधर, महेश जैसे मूर्ति स्वरूपों के विविधतापूर्ण अंकन में अन्य क्षेत्रों में प्रचलित मूर्त स्वरूपों और स्वयं एलोरा की स्थलगत वैशिष्ट्य वाली मूर्तियों दोनों के ही उदाहरण मिलते हैं, जिनमें परम्परा का पूरा सम्मान और परिवर्तन के प्रति आग्रह दोनों का समन्वय हुआ है। राष्ट्रकूट शासक कृष्ण राज तृतीय (936-968 ई0) के दरबार के प्रमुख कवि पुष्पदन्त ने शिवमहिमा का वर्णन करते हुए बतलाया है कि यदि नीलगिरि पर्वत को समुद्र में डालकर स्याही बनायी जाये, देव वृक्ष या कल्पवृक्ष की शाखों को कलम बनाकर, पृथ्वी रूपी कागज पर यदि विद्या की देवी शारदा स्वयं लिखें तो भी शिव के माहात्म्य को पूर्ण नहीं किया जा सकता।

असितगिरि समं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुर तरुवर शाखा लेखनीपत्र मुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।[5]

संदर्भ :

1. जॉन बी. शीले, दी वन्डर्स ऑफ एलोरा, द्वितीय संस्करण, दिल्ली (मुद्रित), 1975, रतनपरेमू, दीपक कलाल आदि (सं0), आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव, एलोरा की ब्राह्मणदेव प्रतिमाएँ, इलाहाबाद, 1988, पृ0 2-3; एलोरा की शैव प्रतिमाएँ, नयी दिल्ली, 1993, पृ0 1- 10
2. विश्वनाथ रेउ, राठोड़ों का इतिहास,जोधपुर, 1993, पृ0 37,
3. विजयेन्द्र माथुर, ऐतिहासिक स्थानावली, नयी दिल्ली, 1969, पृ0 82,
4. आनन्दप्रकाश श्रीवास्तव, एलोरा की ब्राह्मण देवप्रतिमाएँ, इलाहाबाद, 1988, पृ0 190-191.
5. शिवमहिम्नस्तोत्रम अनुवादक आर.एन. तिवारी, वाराणसी, 1995.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काशी के घाटों की कुछ विशिष्ट शिव मूर्तियाँ

हरि शंकर*

शिव की नगरी काशी में शिव मंदिरों की प्रधानता रही है। अस्सी से आदिकेशव तक के घाटों के समीप लगभग-116 शिव मंदिर हैं। 18वीं से 20वीं शदी ई. के इन शिव मंदिरों के गर्भगृह में शिव *लिङ्ग* ही प्रतिष्ठित हैं। अक्रूरेश्वर मंदिर (वच्छराज घाट) तथा ब्रह्मेश्वर मंदिर (प्रयाग घाट) में चतुर्मुखी शिव *लिङ्ग* तथा गोप्रेक्षेश्वर मंदिर (लालघाट) में एक मुख *शिवलिङ्ग* द्रष्टव्य है।[1] शिव की नरविग्रह मूर्तियों में एकल शिव, उमा महेश्वर, कल्याण सुन्दर, गजान्तक एवं दक्षिणामूर्ति तथा गंगाधर स्वरूप के उदाहरण घाटों से प्राप्त हैं। शिव की नरविग्रह मूर्तियाँ 5वीं-6वीं शदी ई0से लेकर 20वीं शदी ई0 के मध्य की हैं। 5वीं-6वीं शदी ई. के मध्य की प्राचीन मूर्तियों में शिव एकल मूर्तियों के तीन उदाहरण मिलते हैं जबकि उमा-महेश्वर स्वरूप की कुल सात मूर्तियों के उदाहरण प्राप्त हैं। इसी प्रकार कल्याण सुन्दर की एक, दक्षिणामूर्ति की तीन, गजान्तक स्वरूप की दो मूर्तियाँ मिली हैं। अधिकांश मूतियाँ असुरक्षित अवस्था में नित क्षरण को प्राप्त हो रही हैं जिनको किसी सुरक्षित स्थान पर रखना आवश्यक है, अन्यथा ये दुर्लभ धरोहर कुछ समय बाद पूरी तरह समाप्त हो जाएगी।

एकल शिव मूर्तियों के महत्वपूर्ण उदाहरण 11वीं-12वीं शदी ई.. के हैं। एकल शिव मूर्तियों में शिव को ललितासन में बैठे या त्रिभंग में अथवा नन्दीपीठ पर दिखाया गया है। शीतला घाट के उदाहरण में शिव ललितासीन एवं द्विभुज हैं। इनके एक हाथ में त्रिशूल है जबकि दूसरा हाथ वरद मुद्रा में है। चतुर्भुज शिव मूर्ति का दूसरा उदाहरण प्रह्लाद घाट से प्राप्त हुआ है। शिव के तीन करों में वरदमुद्रा, त्रिशूल एवं जल पात्र हैं जबकि चौथा हाथ खण्डित है। 11वीं-12वीं शदी ई. की त्रिभंग मुद्रा में खड़ी शिव की एक अन्य मूर्ति सिन्धिया घाट से प्राप्त हुयी है। द्विभुज शिव के एक हाथ में त्रिशूल के स्थान पर सर्प है जबकि दूसरा हाथ किसी वस्तु पर रखा है। सभी उदाहरणों में शिव के समीप नन्दी वाहन दिखाया गया है। ये सभी मूर्तियाँ न्यूनाधिक पारम्परिक लक्षणों वाली हैं।

उमा-महेश्वर मूर्तिः-

7वीं से 13वीं शदी ई0 के मध्य की उमा-महेश्वर की कुल 6 मूर्तियाँ क्रमशः तुलसी घाट, पाण्डेयघाट, केदारघाट, शीतलाघाट, मानमंदिर घाट एवं प्रह्लाद घाट से प्राप्त हुयी हैं। उमा-महेश्वर मूर्ति शिव-शक्ति और प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं। काशी के महाश्मशान और रम्यनगरी के भाव को भी इसमें देखा जा सकता है।

---

*ए-8, गोल मार्केट, जवाहर नगर, जयपुर, राजस्थान।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उमा-महेश्वर मूर्ति का प्राचीनतम् उदाहरण (7वी शदी ई0) तुलसीघाट स्थित लोलार्केश्वर शिव मंदिर के प्रवेश- द्वार के समीप स्थित चौमुखी में उत्कीर्ण है। उमा-महेश्वर के इस उदाहरण में शिव को उमा का आलिंगन करते हुए दिखाया गया है। चतुर्भुज शिव तथा द्विभुजा पार्वती के भावपूर्ण मुद्राओं द्वारा कला के मृदुतत्व पूरी तरह व्यक्त हैं। शिव दाहिने एक हाथ से उमा की ठुड्डी का स्पर्श कर अपनी ओर लाने की चेष्टा कर रहे हैं जबकि बायां एक हाथ उमा का आलिंगन करते दिखाया गया है। शिव के दूसरे दाहिने हाथ में त्रिशूल तथा बायें में सर्प है। द्विभुजा उमा का दाहिना हाथ आलिंगन मुद्रा में शिव के पीठ पर तथा बायां कटिहस्त है। शिव की ओर मुड़ी पार्वती के मुख पर लज्जा की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है। मूर्ति की शरीर रचना हल्की व आनुपातिक है। शिव के समीप ही नंदी भी उत्कीर्ण है।

7वीं-8वीं शदी ई. की दूसरी उमा-महेश्वर मूर्ति पाण्डेय घाट की देवकुलिका में है। इस मूर्ति में भी शिव उमा का आलिंगन करते दिखाये गये हैं। मृग चर्मधारी शिव का दाहिना हाथ पार्वती के ठुड्डी पर न होकर सीधा लटकत हुआ है। शिव के समीप पार्वती को लज्जा भाव में धोती पहने दिखाया गया है। अत्यधिक ऋतु क्षरित मूर्ति के विवरण पूरीतरह स्पष्ट नहीं हैं। मूर्ति के परिकर में ब्रह्मा एवं विष्णु की मूर्तियाँ भी बनी हैं, जो 8वीं शदी ई. और उसके बाद की मूर्तियों के परिकर की सामान्य विशेषता रही है। शिवमूर्ति के परिकर में ब्रह्मा एवं विष्णु तथा विष्णु की मूर्ति के परिकर में ब्रह्मा एवं शिव तथा ब्रह्मा के परिकर में शिव एवं विष्णु के उकेरन द्वारा भारतीय धर्म और चिन्तन के समन्वय भाव को अभिव्यक्त किया गया है जो मध्यकालीन मूर्तिकला की विशेषता रही है।[2]

12वीं शदी ई. की शीतला घाट की मूर्ति घाट पर स्थित शीतला मंदिर की रथिका में है। काले पत्थर में बनी द्विभंग प्रतिमा मनोहारी है। स्थानक चतुर्भुज शिव का दाहिना एक हाथ पार्वती के कंधे पर है और दूसरे में त्रिशूल है जबकि बायां एक हाथ पार्वती का आलिंगन करते दिखाया गया है। द्विभुजा पार्वती एक हाथ से शिव का आलिंगन कर रही है, जबकि दूसरा हाथ कटि पर है। शारीरिक रचना की दृष्टि से यह मूर्ति तुलसी घाट के उदाहरण के समान है। मूर्ति के परिकर में ऊपर की ओर ब्रह्मा व विष्णु तथा नीचे की ओर गणेश व कार्तिकेय की आसीन मूर्तियाँ उकेरी हैं जो मध्यकालीन उमा-महेश्वर मूर्ति में शिव परिवार के अंकन की पारम्परिक विशेषता रही है।[3] गजमुख गणेश व शूलधारी कार्तिकेय की आकृति चन्देल, गाहड़वाल व कल्चुरि उमा महेश्वर मूर्तियों की पीठिका पर भी देखी जा सकती है। इसी प्रकार की दो अन्य स्थानक मूर्तियाँ शीतलाघाट व मानमंदिर घाट के ऊपर पीपल वृक्ष के नीचे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असुरक्षित अवस्था में पड़ी है। 11वीं-12वीं शदी ई. की मानमंदिर घाट की उमा-महेश्वर मूर्ति काले पत्थर में उत्कीर्ण है। द्विभंग में स्थित चतुर्भुज शिव का दाहिना हाथ पार्वती के ठुड्डी का मृदुभाव से स्पर्श कर रहा है जबकि बायां हाथ आलिंगन मुद्रा में है। अन्य दो हाथों में से एक वरदमुद्रा में है और दूसरे में त्रिशूल है। शिव के समीप ही आभूषणों से शोभित व लज्जा भाव से पूर्ण द्विभुजा पार्वती की आकृति है, जिनका एक हाथ आलिंगन मुद्रा में है और दूसरा कटि पर है। उमा-महेश्वर के समीप खड़ी नंदी की आकृति सहज भाव से मुख उठाकर शिव पार्वती को निहार रही है।[4]

गौरीशंकर मंदिर (त्रिलोचन घाट) तथा शीतला मंदिर (प्रह्लाद घाट) से उमा-महेश्वर की आसीन मूर्तियों के उदाहरण भी मिले हैं, जिनमें उमा शिव के जांघ पर बैठी हैं। उमा-महेश्वर के इन मूर्तियों का निरूपण श्रीमद्भागवत[5] में वर्णित शिव-पार्वती की कथा के अनुरूप है। 13वीं -14वीं शदी ई0 की त्रिलोचन घाट की मूर्ति में पार्वती चतुर्भुज शिव के जांघ पर बैठी हैं। मूर्ति का पीठिका भाग खण्डित है। 13वीं -14वीं शदी ई0 की प्रह्लाद घाट की मूर्ति का विवरण त्रिलोचन घाट की मूर्ति के समान है। शिव के सिर पर लम्बा मुकुट है तथा पार्वती की केश सज्जा भी दर्शनीय है। मूर्ति में पाल शैली के तत्व कमनीयता एवं अलंकरणों के स्तर पर अभिव्यक्त है।[6]

कल्याण सुन्दर मूर्तिः-

शिव पार्वती के परिणय से सम्बन्धित मूर्ति को कल्याण सुन्दर मूर्ति कहा जाता है। शिव और पार्वती के विवाह की कथा विभिन्न पुराणों में वर्णित है जिसका सुन्दर वर्णन कालीदास के कुमार सम्भव में मिलता है। कल्याण-सुन्दर मूर्ति के निर्माण की परम्परा 7वीं शदी ई0 से मिलती है।[7] कल्याण सुन्दर मूर्ति के उत्कृष्ट उदाहरण, कन्नौज, एलोरा, एलिफैण्टा तथा भुवनेश्वर जैसे कला केन्द्रों पर उपलब्ध हैं। काशी में गंगातट पर कल्याण सुन्दर की एक मात्र मूर्ति मणिकर्णिका घाट की देवकुलिका में द्रष्टव्य है। 12वीं शदी ई0 की मूर्ति में चतुर्भुज शिव के दाहिने हाथ में पार्वती का दाहिना हाथ पाणिग्रहण की मुद्रा में दिखाया गया है। शिव के दो हाथों में सर्प एवं अभय मुद्रा है और एक हाथ कटि पर प्रदर्शित है। शिव के दाहिने पार्श्व में खड़ी द्विभुजा पार्वती के एक हाथ में पद्म है। पुरोहित के रूप में ब्रह्मा की आसीन मूर्ति बनी है जो अग्नि कुण्ड में हाथ डाल रही है। मूर्ति के ऊपरी भाग में इन्द्र, सूर्य व अन्य देव आकृतियाँ हैं जबकि पार्वती के बायें विष्णु व लक्ष्मी की स्थानक आकृतियाँ उकेरी गयी है। फलक में एक ओर विवाहोपरान्त शिव व पार्वती को नन्दी पर आसीन होकर जाते हुए भी दिखाया गया है।[8]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दक्षिणामूर्तिशिव मूर्तियाँ :

ज्ञान, योग, शास्त्र तथा संगीत के आचार्य के रूप में बनी शिव मूर्तियों को दक्षिणामूर्ति कहा गया है।[9] कला में शिव की चार प्रकार की दक्षिणामूर्तियाँ बनी हैं, जिन्हें योग दक्षिणामूर्ति, वीणाधर दक्षिणामूर्ति तथा व्याख्यान दक्षिणामूर्ति कहा गया है। व्याख्यान दक्षिणामूर्ति में शिव को वृक्ष के नीचे प्रस्तर शिला पर बैठ कर उपदेश देते हुए दिखाया जाता है। उत्तर भारत में शिव के योग व ज्ञान स्वरूपों की दक्षिणामूर्तियाँ अधिक संख्या में बनी हैं। जबकि दक्षिण भारत में चारों प्रकार की दक्षिणामूर्तियों का रूपायन हुआ।

काशी में गंगातट के घाटों से 7वीं से 13वीं शदी ई0 के मध्य की तीन दक्षिणामूर्तियां पाप्त हुयी हैं। 7वीं–8वीं शदी ई. का दक्षिणामूर्ति शिव का पहला उदाहरण मीर घाट से प्राप्त हुआ है। प्रस्तर शिला पर विराजमान द्विभुज शिव के एक हाथ में पुस्तक द्रष्टव्य है। अत्यधिक ऋतुक्षरित होने के कारण मूर्ति में दूसरे हाथ का विवरण स्पष्ट नहीं है। पुस्तक के आधार पर मूर्ति को व्याख्यान दक्षिणामूर्ति के रूप में पहचाना जा सकता है। व्याख्यान दक्षिणामूर्ति का दूसरा उदाहरण केदारघार (केदारेश्वर मंदिर) पर है। 12वीं–13वीं शदी ई. के इस उदाहरण में चतुर्भुज शिव वृक्ष के नीचे प्रस्तर शिला पर ललितासीन मुद्रा में विराजमान हैं। शिव के केश कन्धे पर बिखरे हैं और उनके पैर के नीचे अपस्मार पुरुष का अंकन किया गया है। शिव के दो हाथों में सर्प व चामर हैं जबकि दो अन्य हाथ खण्डित है। ज्ञातव्य है कि दक्षिण–पूर्व एशिया में जावा से प्राप्त शिव मूर्तियों में शिव के एक हाथ में चामर का नियमित अंकन हुआ है। शिव के समीप साधुओं की आसीन मूर्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं। केदार घाट का यह उदाहरण दक्षिण भारतीय परम्परा के अनुरूप है जो इस क्षेत्र में दक्षिण भारतीय लोगों की अधिकता के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है। दक्षिणामूर्ति शिव का एक अन्य उदाहरण बालाजी (मंगला गौरी मंदिर) में भी द्रष्टव्य है। मूर्ति वस्त्र से ढंकी होने के कारण विवरण अस्पष्ट है।

गजान्तक मूर्तियाँ :

शिव की संहार मूर्तियों में गजान्तक मूर्तियाँ अधिक लोकप्रिय रही हैं। गजरूपधारी राक्षस का संहार कर उसके चर्म को धारण करने वाली शिव की मूर्ति को गजान्तक या गजासुर संहार मूर्ति कहा जाता है। गजासुर संहार की कथा का उल्लेख कुछ भेदों के साथ कूर्मपुराण व वाराहपुराण, एवं दक्षिण भारतीय ग्रन्थ सुप्रभेदागम में मिलता है। गजासुर संहार मूर्तियों के प्रमुख उदाहरण एलिफैण्टा, एलोरा, तंजौर तथा हलेविड़ जैसे प्रमुख स्थानो पर द्रष्टव्य है।[10]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काशी में गंगातट के घाटों से गजान्तक स्वरूप की दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। 9वीं-10वीं शदी ई. का प्रथम उदाहरण चौसट्टी देवी मंदिर की रथिका (चौसट्टी घाट) में है। द्वादश भुजाओं वाले शिव रौद्र रूप में है जिनका दाहिना पैर बायें पैर के जांघ भाग तक उठा हुआ है। शिव के दो हाथों में सिर के ऊपर प्रभामण्डल के रूप में गजचर्म प्रदर्शित है तथा दो हाथों में खड्ग और त्रिशूल है। मूर्ति ऋतु-क्षरित होने के कारण अन्य विवरण स्पष्ट नहीं है। शिव के पार्श्व में कुछ अन्य आकृतियाँ तथा नन्दी द्रष्टव्य है। 11वीं शदी ई. की दूसरी गजान्तक मूर्ति नन्दीश्वर घाट से प्राप्त है। दस भुजाओं वाली यह मूर्ति विवरण की दृष्टि से चौसट्टी घाट की मूर्ति के समान है। नन्दीश्वर घाट की मूर्ति में शिव के बायीं ओर योगेश्वरी की मूर्ति भी द्रष्टव्य है जिनके हाथ में कपाल पात्र प्रदर्शित है। गजासुर संहार मूर्ति के समीप योगेश्वरी की मूर्ति के कारण कुछ विद्वानों ने इसे अंधकारि मूर्ति भी माना है।[11] उत्तर भारत में अंधकारि और गजान्तक मूर्तियों के भाव को संयुक्त रूप से कला में अभिव्यक्त करने की परम्परा रही है। नन्दीश्वर घाट की गजान्तक मूर्ति उत्तर भारत की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है।

संदर्भः

1. हरिशंकर, काशी के घाट : कलात्मक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी 1996, पृ0 126
2. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमल गिरि, मध्य कालीन भारतीय मूर्तिकला 1991, पृ0 151
3. मत्स्यपुराण 26/11-20
4. हरिशंकर, पू0नि0, पृ0 129
5. श्रीमद्भागवत 6/17/4
6. हरिशंकर, पू0नि0 पृ0 129-30
7. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमल गिरि, मध्य कालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण 1997, पृ0 31
8. हरिशंकर, पू0 नि0 पृ0 130
9. टी0ए0 गोपी नाथ राज, एलिमेण्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, मद्रास, ख0-1, भा0 2, पृ0 273
10. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमल गिरि, मध्य कालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, पृ0 58-59
11. हरिशंकर पू0नि0 पृ0 132-33

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कल्पप्रदीप में उल्लिखित कतिपय ज्योतिर्लिंग

-शिव प्रसाद*

कल्पप्रदीप खरतरगच्छ की लघु शाखा के द्वितीय आचार्य जिनप्रभसूरि द्वारा प्रणीत कृतियों में से एक है। वि0सं0 1389 में दिल्ली में सुल्तान मुहम्मद तुगलक के शासन काल में यह पूर्ण हुई है।[1] इस कृति का सर्वप्रथम प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी, बंगाल से हुआ, परन्तु यह अपूर्ण ही प्रकाशित हो पाया।[2] पुरातत्वाचार्य मुनि जिनविजय ने इसे सुसम्पादित कर इसे सिंघी जैन ग्रन्थमाला के छठें पुष्प के रूप में 1936 ई0 में शांतिनिकेतन से प्रकाशित किया। उन्होंने इसका नाम विविधतीर्थकल्प रखा और इसी नाम से यह ग्रन्थ आज विख्यात है।

कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प में कुल 62 कल्प हैं, जिनमें कुल 30-35 जैनतीर्थों का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प' नामक एक स्वतंत्र कल्प भी इसमें है, जिसके अन्तर्गत 24 तिर्थङ्करों से सम्बन्धित तीर्थ क्षेत्रों के नाम गिनाये गये हैं।

जहाँ तक कल्पप्रदीप में उल्लिखित कतिपय ज्योतिर्लिंगों के उल्लेख की बात है, उनकी चर्चा विभिन्न प्रसंगो में ही आयी है। इनका विवरण निम्नानुसार है:-

1. वाराणसीनगरीकल्प[3] - ग्रन्थकार ने यहां के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण बात बतायी है वह है इस नगरी का चार भागों में विभाजन।

(i) देव वाराणसी[4] - जहाँ विश्वेश्वर का मंदिर है।

(ii) राजधानी वाराणसी[5] - जहाँ यवन लोग रहते हैं।

(iii) मदन वाराणसी

(iv) विजय वाराणसी

जिनप्रभसूरि ने वाराणसी में पार्श्वनाथ की जन्मस्थली का उल्लेख करते हुए उसे दन्तखात तालाब के निकट स्थित बतलाया है।[6] सुपार्श्वनाथ का जन्म भी वाराणसी में ही हुआ, ऐसी जैन परम्परा में मान्यता है। जिनप्रभसूरि ने भी इसका उल्लेख किया है[7], किन्तु वह स्थान वाराणसी में कहाँ स्थित रहा, इस बात पर वे मौन हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 14वीं शती में यहाँ सुपार्श्वनाथ का कोई जिनालय विद्यमान नहीं था। यदि पूर्व में रहा भी हो तो वह मुस्लिम शासनकाल में नष्ट कर दिया गया।

---

*प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, करौंदी, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देव वाराणसी की चर्चा करते हुए रचनाकार ने बताया है कि यहाँ विश्वनाथ का मंदिर था, जहाँ चौबीस तीर्थकरों के अंकन से युक्त एक पाषाण खंड रखा था।[8]

काशी विश्वनाथ मंदिर का दूसरा उल्लेख कल्पप्रदीप के चतुरशीति नाम संग्रह कल्प के अन्तर्गत आया है और यहाँ उन्होंने "विश्वेश्वर मध्ये चन्द्रप्रभ" अर्थात् चन्द्रप्रभ की प्रतिमा विश्वेश्वर-विश्वनाथ के मंदिर के मध्य में थी[9]। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि विश्वनाथ मंदिर के निकट ही चन्द्रप्रभ का भी मंदिर था अथवा यह भी संभव है कि विश्वेश्वर नामक मुहल्ले में चन्द्रप्रभु का मंदिर था। साधारणतः एक शैव मंदिर में किसी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा होने की बात असम्भव सी प्रतीत होती है, किन्तु इस कथन को पूर्णतः अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। हो सकता है धार्मिक सहिष्णुतावश ऐसा किया गया हो।

2. कुण्डुगेश्वरनाभेयदेवकल्प– इस कल्प के अन्तर्गत रचनाकार ने उज्जयिनी स्थित पार्श्वनाथ[10] (भ्रम से आदिनाथ का मंदिर[11]) के मंदिर होने की बात कही है। उत्तरकालीन जैनमान्यतानुसार यह मंदिर अर्वान्तसुकुमाल के पुत्र ने अपने पिता के मरणस्थल पर निर्मित कराया था।[12]बाद में यह मंदिर शैवों के अधिकार में आगया, जिसे मल्लवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने पुनः जिन मंदिर के रूप में प्रतिष्ठापित कराया।[13]

प्राप्त विवरणानुसार एक बार सिद्धसेन ने अपने गुरू मल्लवादिसूरि से आगमों के संस्कृतानुवाद करने की आज्ञा मांगी। इस पर गुरु ने रुष्ट होकर कहा कि क्या तीर्थंकर संस्कृत भाषा नहीं जानते थे कि उन्होंने प्राकृत में आगमों का प्रणयन किया और उन्हें पारांचित नामक प्रायश्चित्त दिया जिसके अनुसार उन्हें 12 वर्ष तक अवधूत के वेश में विचरण करना था। सिद्धसेन ने गुरु की आज्ञा सहर्ष स्वीकार की और अवधूत वेश में विचरण करते हुए 12वें वर्ष के अन्त में उज्जयिनी स्थित महाकाल मंदिर में आये। मंदिर में जाकर भी उन्होंने *शिवलिङ्ग* को प्रणाम नहीं किया। लोगों के आग्रह पर भी वे प्रणाम करने से इन्कार करते रहे। यह बात विक्रमादित्य तक पहुंची, तो वह भी आश्चर्यचकित हो वहां आया और मुनि से *शिवलिङ्ग* को प्रणाम करने की बात कही। मुनि ने कहा कि मेरे प्रणाम करने से *शिवलिङ्ग* फट जायेगा और आप कुपित हो जायेंगे। राजा ने कहा कि आप प्रणाम करें जो भी होगा उसकी जिम्मेदारी मेरी होगी। इस पर उन्होंने द्वात्रिंशिकाओं का पाठ प्रारम्भ किया। पाठ पूर्ण होने के पूर्व *शिवलिङ्ग* से धुंआ उठने लगा और पाठ पूर्ण होते ही *शिवलिङ्ग* फट गया और उसमें से आदिनाथ (वास्तव में पार्श्वनाथ) की प्रतिमा प्रकट हुई। यह देखकर राजा अत्यन्त चमत्कृत हुआ और उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। मुनि को एक करोड़ दिया तथा जिनालय को ग्रामादि दान में दिया। सम्वत् 1 चैत्र गुरुवार को इस आशय से मुक्त एक शासनपट्टिका भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्वेताम्बरोपासक ब्राह्मण गौतम के पुत्र कात्यायन से लिखवाया। सभी जटाधारियों को श्वेताम्बर जैन बनाया और सम्पूर्ण पृथ्वी पर जैन धर्म का प्रचार किया। मुनि ने भी प्रसन्न होकर यह भविष्यवाणी की कि विक्रमादित्य से 1199 वर्ष बीतने के पश्चात् कुमारपाल नामक एक प्रतापी राजा होगा।[14]

कल्पप्रदीप के अतिरिक्त प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, पुरातनप्रबन्धसंग्रह, कथावली, सम्यकत्त्वसप्शतिटीका (1396 ई0), विक्रमचरित-शुभशीलगणि-(1443 ई0) आदि विभिन्न ग्रन्थों में भी थोड़ा बहुत अन्तर के साथ उक्त घटना का विवरण मिल जाता है। उक्त सभी विवरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में उज्जयिनी में जैनधर्म का स्थान इतना ऊँचा था कि उससे भी महाकालेश्वर मंदिर की उत्पत्ति की उपर्युक्त कल्पना को उत्तेजन और शताब्दियों पर्यन्त प्रचलित रहने की शक्ति प्राप्त हो सकी।[15]

जैन कथाओं से उज्जयिनी में जैन और शैव धर्मों में परस्पर प्रतिद्वंदिता की बात तो स्पष्ट है किन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि किसी तीर्थ विशेष के सम्बन्ध में कौन-सी परम्परा प्राचीन है और कौन सी अर्वाचीन। यह उल्लेखनीय है कि विवाद सम्बन्धी जैन कथाओं का इतिहास गुप्त काल से प्राचीन सिद्ध नहीं होता और इस समय तक उज्जयिनी शैव तीर्थ के रूप में विख्यात हो चुकी थी[16]

3. श्रीपर्वत- श्रीपर्वत श्रीशैलपर्वत के नाम से जाना जाता है। यह स्थान आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल जिले में विद्यमान है। जिनप्रभसूरि ने इस स्थान का उल्लेख 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प' में की है और यहाँ मल्लिनाथ और घंटाकर्ण महावीर के मंदिर होने की बात कही है।[17]

श्रीशैलम् आज एक प्रसिद्ध शैवतीर्थ के रूप में विख्यात् है, परन्तु वहाँ जैनों का कोई भी अस्तित्व नहीं है। जिनप्रभसूरि को छोड़ कर किसी अन्य जैन रचनाकार ने भी वहाँ के न किसी जिनमंदिर का उल्लेख किया है और न ही तीर्थ रूप में ही। ऐसी स्थिति में क्या हम जिनप्रभसूरि ऐसे महान् आचार्य की बात को अप्रमाणिक मानने का साहस कर सकते हैं, जिसने अपने प्रभाव से मुहम्मद तुगलक ऐसे सुल्तान को भी प्रभावित कर जैन धर्म का संरक्षक बना लिया था।

यहां स्थित शिवालय के मुख मंडप के दोनों ओर के स्तम्भों पर शक सं0 1433 माघ वदि 14/ई0 सन् 1512 का संस्कृत भाषा का एक लेख उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार उक्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिवालय के पुजारी ने श्वेताम्बरों के सिर कटवा दिये ।[18] इस बात को उक्त लेख में बड़ी प्रसंशा के साथ कहा गया है । इसी प्रकार यहीं से प्राप्त एक अन्य अभिलेख, जो वि0सं0 1529 में उत्कीर्ण कराया गया, एक शैव भक्त स्वयं को 'श्वेताम्बरों के लिए काल' के रूप में उल्लिखित करता है ।[19] इन उल्लेखों से जिनप्रभसूरि की बात का अप्रत्यक्षरूप से समर्थन हो जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि 16वीं शती के प्रथम चरण के पूर्व तक यहाँ श्वेताम्बरों का अस्तित्त्व रहा, परन्तु शैवधर्मावलम्बियों-विशेषकर वीर शैवों को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शैव तीर्थ के निकट जैनों की उपस्थिति असह्य हो गयी होगी और उन्होंने यहाँ के समस्त श्वेताम्वरों की हत्या करवा दी । इस प्रकार श्रीशैलम् से सर्वदा के लिए जैनों का अस्तित्त्व समाप्त हो गया ।

4. **डाकिनीभीमशंकर-** यह ज्योति*लिङ्ग* पूना के उत्तर-पश्चिम में सह्याद्रिपर्वत पर स्थित है । जिनप्रभसूरि ने इस तीर्थ का भी चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प' में उल्लेख किया है और यहां पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही है ।[20]

श्रीशैलम् की भांति इस स्थान का भी जैन रचनाकारों ने कहीं भी जैन तीर्थ के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया हैं चूंकि यह स्थान 12 ज्योतिर्लिंगों में से एक है और ऐसा प्रायः होता आ रहा है कि एक धर्म का तीर्थस्थल दूसरे धर्म वालों के लिए भी मान्य हो जाता है । इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं । जैसे वाराणसी वैष्णव और शैव धर्म के साथ-साथ जैनधर्म का भी प्रसिद्ध तीर्थ है । श्रीशैलम् को हम 14-15वी शती में शैव तीर्थ के साथ-साथ जैन केन्द्र के रूप में भी प्रतिष्ठित पाते हैं, जबकि श्रीशैल को जैनतीर्थ के रूप में उल्लिखित करने वाले एक मात्र जैन ग्रन्थकार हैं, जिनप्रभसूरि । यह बात श्रीशैलम् के सम्बन्ध में ऊपर कही जा चुकी है । श्रीशैलम् के समान यदि डाकिनीभीमशंकर से भी कोई जैन पुरावशेष- अभिलेख प्राप्त हो जाये तो इस स्थान की भी जैन तीर्थ के रूप में मान्यता स्वतः सिद्ध हो जायेगी । ठीक यही बात कल्पप्रदीप में उल्लिखित ओंकारपर्वत [21] (जिसे प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग ओंकारेश्वर से अभिन्न माना जा सकता है, के बारे में भी कहा जा सकता है ।

संदर्भः

1. नन्दान्ऽनेकप-शक्ति-शीतगुमिते श्री विक्रमोर्वीपतेवर्षे
भाद्रपदस्य मास्यवारजे सौम्ये दशम्यां तिथौ ।
श्री हम्मीर महम्मदे प्रतपात क्ष्मामण्डलाखण्डले
ग्रन्थोऽयं परिपूर्णताम भजत श्रीयोगिनीपत्तने ।।3।।
तीर्थानां तीर्थभक्तानां कीर्तनेन पवित्रितः ।
कल्पप्रदीपनामाऽयं ग्रन्थों विजयतां चिरम् ।।4।।
कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प, "ग्रन्थसमाप्तिकथनम्"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant-2

2. डी0आर0 भण्डारकर और पं0 केदारनाथ साहित्यभूषण द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ का तीर्थकल्प के नाम से शेष भाग रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से 1942 ई0 में प्रकाशित हुआ है।
3. मुनिजिनविजय, संपा0 विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ 72-74.
4. देव वाराणसी, यत्र विश्वनाथ प्रसादः, वही, पृष्ठ 74.
5. द्वितीय राजधानी वाराणसी यत्रावर्ये यवनाः, वही, पृष्ठ 74.
6. अन्तर्वणं दन्तरवातं तडागं निकषा श्रीपार्श्वनाथस्य चैत्यमनेकप्रतिमाविभूषितमास्ते। अस्याममलपरिमलभराकृष्टभ्रमरकुलसङ्कुलानि सरसीषु नानाजातीयानि कमलानि, वही, पृष्ठ 74.
7. अस्यां सप्तमों जिनसत्तमः श्रीमान् सुपार्श्व ऐक्ष्वाकुप्रतिष्ठमहीपतिमहिष्याः पृथ्वीदेव्याः कुक्षाववतीर्य जन्ममुपादित। वही, पृष्ठ 72.
8. देववाराणसी, यत्र विश्वनाथप्रसादः। तन्मध्ये चाश्मनं जैनचतुर्विंशतिपट्टं पूजारुढमद्यापि विद्यते, वही, पृष्ठ 74.
9. वाराणस्यां विश्वेश्वरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभः। कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प, "चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रहकल्प",वही पृष्ठ 84.
10. कुमारी शार्लोटेक्राउझे,"महाकालमंदिर और जैनधर्म",विक्रमस्मृतिग्रन्थ, उज्जैन वि0सं02000;पृष्ठ413-22
11. "कुडुंगेश्वरनाभेयदेवकल्प",कल्पप्रदीप(विविधतीर्थकल्प)शांतिनिकेतन संस्करण,पृष्ठ88-89
12. क्राउझे, पूर्वोक्त, पृष्ठ 422.
13. "कुडुंगेश्वरनाभेयदेवकल्प", कल्पप्रदीप (विविधतीर्थकल्प) शांतिनिकेतन संस्करण, पृष्ठ 88-89.
14. वही.
15. देखिये शिवप्रसाद, जैनतीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, वाराणसी 1990ई0,
16. वही.
17. श्रीपर्वते मल्लिनाथः। श्रीपर्वतेघण्टाकर्णमहावीरः।"चतुरशीतिनामसंग्रहकल्प"कल्पप्रदीप (विविधतीर्थकल्प) शांतिनिकेतन संस्करण, पृ0 86
18. B.A. Saletore, Mediaeval Jainism, Bombay 1938 A.D, P-319.P.B. Desai, Jainism in South India, Sholapur 1956 A.D.,P.23
19. Desai, Ibid, P-402.
20. डाकुली-भीमेश्वरे श्रीपार्श्वनाथः।कल्प्रदीप (विविधतीर्थकल्प), शांतिनिकेतन संस्करण, पृ086.
21. ओंकारपर्वते सहस्रफणी पार्श्वनाथ, वही, पृ0 86.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिन सहस्रनाम में उपलब्ध शिव नाम : एक तुलनात्मक विवेचन

श्रीप्रकाश पाण्डेय*

जैन धर्म की अनादिकालीन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर के केवल ज्ञान होने पर इन्द्र के आदेश से कुबेर आकर भगवान के समवसरण की रचना करता है और देव, मनुष्य, पशु-पक्षी तीर्थ आदि, तीर्थंकर भगवान का उपदेश सुनने के लिए पहुंचते हैं। उस समय इन्द्र आकर भगवान की वंदना करते हैं और 1008 नामों से उनकी स्तुति करते है। इसी मान्यता के फलस्वरूप जिन सहस्रनामों की रचना की एक परम्परा का विकास जैनदर्शन में हुआ और कई जिन सहस्रनामों की रचना की गयी। जैन वाङ्मय में वर्तमान में चार सहस्रनाम उपलब्ध हैं, जिसमें जिन का सहस्रनाम ही सबसे प्राचीन माना जाता हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य तीन जिनसहस्रनाम उपलब्ध हैं वे हैं- आचार्य हेमचन्द्रकृत अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय' भट्टारक सकलकीर्तिकृत 'जिनसहस्रनाम' तथा पं0 आशाधरकृत 'जिनसहस्रनाम स्तवन'। इन सहस्रनामों में तीर्थंकरों के 1008 नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिन सहस्रनाम के अनुशीलन से पता चलता है कि जैन आचार्यों ने 'जिन' के विशेषण के रूप में जो नाम दिये हैं, उनमें से अनेक नाम ऐसे हैं जो ब्राह्मण परम्परा के देवी-देवताओं से सम्बद्ध हैं विशेषतया भगवान शिव के नाम के अनेक पर्यायवाची शब्द जिनों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'जिनसहस्रनाम' जिसके आलोक में शिवनाम की चर्चा की जा रही है पं0 आशाधर (13वीं शती) रचित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 10शतकों में विभाजित है और इन दस शतकों में जिन के कुल 1008 नाम दिए गए हैं। इनमें से अधिकांश नाम ऐसे हैं जो ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में भगवान शिव के नाम के रूप में पाये जाते हैं। यथा-

अज, अजित, अर्द्धनारीश्वर, अनिल ईश्वर, ईशान, उमापति, कपाली, कपिल, कृष्ण, गणनाथ, चतुर्मुख त्रिपुरान्तक, त्रिलोचन, त्रैलोक्यनाथ, देव, नक्षत्रनाथ निर्वाण, परमात्मा, परमेश्वर, पशुपति, प्रजापति, ब्रह्मा, भगवान्, भव, भुवनेश्वर, भूतनाथ, महादेव, महात्मा, महामुनि, महायोगीश्वर, महेश, महेश्वर, मुनीश्वर, मृत्युञ्जय यति, विभु, विश्वात्मा, विश्वेश्वर, वृषकेतन, शम्भु, शिव, शुचि, शंकर, श्रीकण्ठ, सर्वज्ञ, सर्वगत, सिद्धार्थ, स्वयंभू, हर, हरि, गिरीश, स्मरारि, त्रिपुरान्तक, रुद्र आदि।

---

*प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, करौंदी, वाराणसी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

इन नामों में से कतिपय नामों को दोनों परम्पराओं में प्राप्त सन्दर्भों के आलोक में देखा जा सकता है:-

उमापति – वैदिक परम्परा में उमापति अर्थात् उमा (पार्वती) के पति के रूप में शंकर के लिए आया है जबकि जैनपरम्परा के जिनसहस्रनाम में उमापति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि- 'उमायाः कान्तेः कीर्तेश्च पतिः स्वामी' अर्थात् हे लक्ष्मी के आगार आप कान्ति और कीर्ति के पति हैं, इसलिए उमापति के नाम से पुकारे जाते हैं। यहाँ 'उमा' शब्द का अर्थ बदलकर कान्ति या कीर्ति कर दिया गया है।

पशुपति- वैदिक परम्परा में शंकर का यह नाम नन्दि के स्वामी के अर्थ में किया गया है और उन्हें पशुपति कहा गया है जबकि जिनसहस्रनाम में जिन के लिए प्रयुक्त इस पशुपति शब्द के 'पशु' के अर्थ की संगति कर्मबन्धनों से बंधे संसारी जीवों-अर्थात् पशु को छुड़ाने वाले के रूप में बैठाई गयी है।

अर्द्धनारीश्वर – यह शब्द वैदिक परम्परा में भगवान शिव के लिए अत्यन्त प्रचलित शब्द है जो एक विशेष कथानक के साथ जुड़ा हुआ है। जिनसहस्रनाम में अर्धनारीश्वर का अर्थ करते हुए कहा गया है कि 'अतिकर्मरूप आधे शत्रु आपके नहीं पाये जाते, इस प्रकार का ईश्वर होने से आप अर्द्धनारीश्वर कहलाते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ अर्द्धनारीश्वर शब्द की जबरदस्ती संगति बैठाने का प्रयत्न किया गया है।

रुद्र- रुद्र शब्द जहां भगवान शिव के रौद्ररूप धारण करने के लिए किया गया है। जिन सहस्रनाम में रुद्र शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि कर्मों को भस्म करने के लिए आप रौद्रमूर्ति हैं, इसलिए आप रुद्र कहलाते हैं। ऐसे अनेक विशेषण हैं शिव के जिन्हें जिन सहस्रनाम में जिन के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है और जोड़-तोड़ कर अर्थघटन करने का प्रयास किया गया है।

इसी तरह जिनसहस्रनाम में कुछ ऐसे भी नाम हैं, जिनका अर्थ दोनों परम्पराओं में समान रूप से घटित होता है। उदाहरण के लिए कैलाशपति या गिरीश। यह विशेषण जहाँ वैदिक परम्परा में कैलाश पर रमण करने वाले शिव का है वहीं जैनपरम्परा में यह विशेषण कैलाश पर वास करने वाले आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के लिए आया है- अध्युवास भुवौ मौलिं कैलासाद्रिं यदृच्छया (आदि-पुराण-1/449)। ध्यान देने योग्य है कि जैन परम्परा में ऋषभदेव को वही विशेषण या नाम दिए गए हैं जो वैदिक परम्परा में शिव के हैं यथा- रुद्र, महादेव, पशुपति आदि। शतपथ ब्राह्मण (6/1/3/18) में रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशानकुमार ये नाम अग्नि के विशेषण के रूप में पाये जाते हैं जो शिव के पर्यायवाची हैं। शतरुद्रीय स्तोत्र में रुद्र की स्तुति के छियासठ मन्त्र हैं जहाँ रुद्र को शिव, शिवतर, शंकर कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को ईश, महेश्वर शिव और ईश्वर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहा गया है। मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र को शम्भु कहा गया है। जैन आचार्य रुद्र को ऋषभदेव का पर्यायवाची मानकर वैदिक परम्परा में पाये जाने वाले विशेषणों यथा- माहेश्वर, त्रयंबक, हर, वृषभध्वज, भव, परमेश्वर, त्रिनेत्र, वृषांक, नटराज, जटी, कपर्दी आदि का सम्बन्ध ऋषभदेव के साथ घटित कर यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि ये समस्त विशेषण आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के अपने विशेषण हैं। परन्तु यदि वेवाक दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव के ये सभी विशेषण जैन परम्परा में वैदिक परम्परा से लिए गये हैं।

देवी, देवताओं को प्रसन्न कर उनके माध्यम से वासनाओं, आकांक्षाओं या लौकिक शक्तियों की प्राप्ति ही मूल लक्ष्य है। इसका प्राचीन जैन धर्म में कोई स्थान नहीं रहा है। जैनों के आराध्यदेव तीर्थंकर या जिन उनके लिए साधना के मात्र आध्यात्मिक आधार हैं। जैन परम्परा में मूलतः भक्ति, स्तवन आदि का कोई स्थान नहीं है क्योंकि तीर्थंकर न तो किसी व्यक्ति द्वारा की गयी स्तुति से प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न। दैवी कृपा का सिद्धान्त या भगवान के द्वारा भक्त के भौतिक कल्याण की अवधारणा जैनों को स्वीकार्य नहीं थी। अतः तीर्थंकर जनसाधारण की भक्ति से प्रसन्न होकर उनके दैहिक, दैविक एवं भौतिक पीड़ाओं को दूर करने में असमर्थ ही माने गये थे। किन्तु जनसाधारण तो आर्त या अर्थार्थी भक्त के रूप में एक ऐसे आराध्य की उपासना करना चाहता है जो उसके जागतिक कष्टों का निवारण कर सके और उसकी ऐहिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। फलतः जैनाचार्यों को अपने तीर्थंकर, जिन आदि को हिन्दू परम्परा में प्रचलित नाम एवं विशेषण देकर देवी, देवताओं, अनुष्ठान आदि का अनाधिकार प्रवेश हो गया। फलतः वैदिक परम्परा के देवी देवताओं के नाम यथावत या फिर कुछ परिवर्तनों के साथ जैन परम्परा में अंगीकार कर लिए गये। भगवान शिव के विशेषणों का प्रचुर मात्रा में जिन के लिए प्रयुक्त होना इसका स्पष्ट प्रमाण है। शिव के अतिरिक्त वैदिक परम्परा में अनेक देवी-देवता हैं जिनका उनके नाम और गुणों सहित समावेश जैन परम्परा में हो गया। जिनस्तवन, पूजा एवं अनु ठान विधियों में अनेक ऐसे मंत्र मिलते हैं जिन्हें ब्राह्मण परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। इसी क्रम में अनेक जिनसहस्रनाम जैसे स्तोत्रों की रचना हुई जिन पर वैदिक परम्परा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। आज के प्रगतिवादी जैन लेखक बिना किसी संकोच के इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं। विचारधारा के इसी उत्तरोत्तर विकास का ही परिणाम है कि भगवान शिव के सभी प्रचलित नाम/विशेषणों को जैनों ने अपने आराध्यदेवों के लिए प्रयुक्त कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनसहस्रनाम में जिन के जो 1008 विशेषण/नाम दिए गए हैं उनमें से अधिकांश भगवान शिव के पर्यायवाची हैं, जो प्रकारान्तंर से वैदिक परम्परा का जैन परम्परा पर प्रभाव दर्शाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जन जातीय कला-संस्कृति में शिव

अर्जुनदास केसरी*

'देवों में देव महादेव बड़ा देवा' एक पुरानी लोकोक्ति है जिसका भाव यह है कि सभी देवताओं में महादेव अर्थात् शिव सबसे बड़े देवता हैं। अभिजात्य साहित्य हो अथवा लोक-साहित्य, सबमें शिव की आराधना प्राथमिकता के साथ परमतत्व-रूप में की गयी है।

नमः शिवाय शांताय वेदवेदांङ्गरूपिणे।
यज्ञानाम्फलदात्रेच ज्योर्तिर्लिङ्गायते नमः।।

शैव-दर्शन तथा शिव उपासना में परमतत्व ही शिव है। इसी शिव तत्व की अनेक रूपों में परिव्याप्ति है। शक्ति की उपासना शिव रहित असंभव है। इसी कारण हर शक्तिपीठ में शिव की स्थिति अनिवार्य है। शिवस्वरूप भैरवनाथ के दर्शन के अभाव में शक्ति का दर्शन-पूजन-अर्चन निष्फल हो जाता है, ऐसी परंपरा है। शिव का शिव-कल्याणकारी रूप है और रुद्र और महाकाल प्रलयंकारी रूप भी है। ऋग्वेद् में रुद्र को मरुतों का पिता माना गया है। (ऋग्वेद् मं. 1 सन! 34, मं.3) ग्राम, वन, पहाड़ के सभी प्राणियों-मानव-मानवेतर को भी स्वस्थ, पुष्ट तथा आरोग्य रखने के लिए वीरों के विनायक रुद्र की स्तुति की गयी हैं।

भारतवर्ष में कैलाश से कन्याकुमारी तक, सौराष्ट्र से आसाम-कामाक्षा तक वैदिक काल या उसके पूर्व से ही शिव की आराधना प्रचलित रही है। वन्य तथा पहाड़ी अंचलों में शिवाराधना की परंपरा विशेष रूप से वन्य जनजातियों में कुछ भिन्न अवश्य रही है। शिव का स्थान मुख्यरूप से कैलाश रहा है, जाहिर है कि वन्य प्राणियों, वनमानुषों से उनका अधिक सरोकार भी रहा है। शंकर के बाराती कौन थे, सब वे ही तो थे। यही कारण है कि द्वीपों, नदी की धाराओं, पर्वत की गहन गुफाओं, विंध्याटवी की खोह-कन्दराओं, नदी सरवरों में भी शिव की प्रतिमा, विग्रह, प्रतीक अथवा *लिङ्ग* की पूजा सदा से प्रचलित रही है। जहाँ तक विंध्याटवी अथवा कैमूर की पर्वत-श्रृंखलाओं का सवाल है, यहां गोड जनजातियों की जनसंख्या अधिक है। वैसे भी गोड सबसे पुरानी जनजाति है जो सबसे पहले गोंडवाना में रहती थी। वहां से धीरे-धीरे इनका विस्तार गंगा-सोन के रास्ते भारत के वन्य अथवा मैदानी भागों में हुआ। शिकार और कृषि पर आश्रित ये खेत में पैदा हुए अन्न पर मिट्टी के बने बाध, घोड़ा, हाथी, बैल का प्रतीक रखकर बैगा या पठारी जनजाति के पुजारी वर्ग के लोगों द्वारा गुड़-घी-शाकला चढ़ाकर, आग जला कर प्रतीक-पूजन करते हैं। इस प्रतीक को वे बड़ा देव 'बढावन देव' अथवा 'बूढ़ादेव' कहते हैं जो शिव-स्वरूप कल्याणकारी देवता है।

---

*सचिव, लोकवार्ता संस्थान, रावर्ट्सगंज, सोनभद्र।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदिवासियों के अधिकतर देवता, वृक्ष, पहाड़,वन में निवास करते हैं। बड़ादेव के बारे में इनका विश्वास है कि ये खजूर के वृक्ष पर निवास करते हैं। यही कारण है कि बड़ादेव की पूजा के अवसर पर खजूर की डाल रखकर प्रसाद चढ़ाया जाता है। बड़ादेव का एक नाम 'हर्रियादेव' भी है। उस बड़ादेव या हर्रियादेव के बारे में एक लोककथा इसप्रकार प्रचलित है-

खरखार-गोंड़ों की उपजाति का एक व्यक्ति एक बार घोड़े के लिए घास काटने नदी के तट पर गया तो उसने देखा कि नदी-तंट पर बहते हुए जल के समीप एक सर्प बैठा हुआ है और उस सर्प के फन पर खंजन चिड़िया ईशाणकोण की ओर मुखकर बैठी थिरक रही है। सर्प भी गोबर पर बैठा हुआ है। इस घटना को उस व्यक्ति ने अपने राजपुरोहितसे जाकर बताया तो उन्होंने पोथी-पत्रा उचार कर देखा तो बताया कि यह तो राज्य प्राप्त करने का शुभ लक्षण है और तुम राजा बनोगे। भीतर बैठा राजा उस वार्ता को सुन रहा था। उसने निश्चय जाना कि यह तो निकट भविष्य में मेरे राज्य का स्वामी बन बैठेगा, अतः राजा ने उसे जान से मरवा डाला। कालान्तर में उसकी आत्मा राजा को कष्ट देने लगी। तब राजा ने उसकी मूर्ति स्थापित की और उसकी पूजा बड़ादेव के रूप में करना प्रारम्भ कर दिया। सर्प-नागदेवता शिव के गले की शोभा हैं, अतः यह बड़ादेव शिवस्वरूप हैं, ऐसी मान्यता हो गयी। अब तभी से गोंड़, खरवार, पठारी, पनिका, परहिया सभी यहां तक कि विंध्यक्षेत्र के चन्द्रवंशी ठाकुर भी बड़ादेव की पूजा महादेव के रूप में करते हैं। नववधू के गृहप्रवेश के अवसर पर हल्दी से रंगा हुआ चावल-अक्षत-नैहर से श्वसुर गृह ले जाने और प्रतीक रूप में उसकी पूजा करने की परंपरा आज भी प्रचलित है। एक बात और जो ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि ये लोग सूअर के बच्चे की बलि चढ़ाते और उसका प्रसाद प्राप्त करते हैं। शिव को बलि, वह भी घेंटा की, चढ़ाने की परंपरा लोक में तो है, किंतु वेद-सम्मत नहीं लगती। लेकिन जनजातियों में भांग-धतूरा से लेकर मद्य-सभी प्रकार के ग्राह्य हैं। घोंतुल गृहों में तो यह किशोर-किशोरियों में खुलेआम चलता है। उसके सामने ऊबड़-खाबड़ पत्थर किसी वृक्ष के नीचे खड़ा करके रख देते हैं और कहते हैं, ये बड़ादेव हैं। सेमल में सेमरहवादेव, पीपल में पिपरहवा देव, नाले में नागदेव, गोहरऊर में बिच्छू की पूजा का विधान इनके यहां सर्वमान्य है। दीपावली, शिव रात्रि, वसन्त, नागपंचमी, अनन्त के अवसरों पर शिव के गणों की पूजा अनिवार्य हैं। नागपंचमी पर घर गोबर से गोंठकर द्वार पर - आगे-पीछे ये नाग देवता का चित्र बनाते और दूध-लावा चढ़ाकर शिव के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं। गोवर्धन-पूजा के दिन गाय-बैल की पूजा, उनके सींग में तेल लगाकर, उन्हें खली खिलाकर की जाती है। प्रागैतिहासिक कालीन चित्र जो गुफाओं में प्राप्त हुए हैं, उनमें गाय-बैल,, शिव-प्रतीक, *शिवलिङ्ग*, नाग की पूजा के दृश्य चित्र सोनभद्र की पंचमुखी, लिखनियां की गुफाओं में देखे जा सकते हैं। ये चित्र दस-पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व गुहाँमानव द्वारा बनाये गये हैं, जब वह इन गुफाओं में नंगा और आखेट जीवी था। इस प्रकार आदिवासियों और वन्य जातियों में शिव-पूजन की परंपरा बहुत पुरानी सिद्ध होती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। राजपुर के पास लेखनियां में स्वस्थ बैल का चित्र और उसके समीप हाथ उठाये मानव के चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय शिव के बाहन बैल की पूजा प्रचलित थी। बैल के पीछे या आगे एक तीर-कमान-धारी नराकृति भी देखने को मिली। तो क्या यह उसे मारने के लिए उद्यत तो नहीं था? हो सकता है। पशु-बलि तो प्रचलित थी ही। चनाइनमान की गुफा में पशुबलि का दृश्य दर्शनीय है।[1]

आदिवासियों में गोशाले में गायो-बैलों की रक्षा के लिए गोरइया देव की पूजा की जाती है। करमा-पूजन के अवसर पर खुलेस्थान पर कई गांव के आदिवासी एक स्थान पर एकत्र होकर रात-रात भर नृत्य करते हैं। इस अवसर पर भी वे अपने इष्ट देव को प्रसन्न करने के लिए जो गीत गाते हैं, उसकी पंक्तियों पर ध्यान दीजिए-

नाग बसी नाग अवतारे/ मलहि रूप नागबसी, मलहिन फुनकारे।

नाग भइया सूते नागिन पछिताये/ना पर चाँदी-चांवर डेल/ नागवसी नाग अवतारे।

यहां नाग-नागिन क्या हैं? शिव-पार्वती के प्रतिरूप हैं। गौरी, पार्वती और गणेश की पूजा इनके हरव्रत-त्योहार में मान्य हैं। सत्यनारायण व्रत कथा आदिवासियों में बहुत लोकप्रिय है। इस अवसर पर गोबर से गौरी गणेश का प्रतीक बनाकर पूजा की जाती है। गणेश चतुर्थी तो गणेश और गौरी-पूजन का ही पर्व है। शिव-पार्वती के इसी तरह के और भी प्रतीक लोकमान्य और लोकविश्रुत हैं।

पार्थिव-पूजन क्या है? मिट्टी के एक सौ एक, एक सौ आठ, एक हजार आठ, दस सहस्त्र एक, एकलाख एक *शिवलिङ्ग* बनाकर अकाल-दुकाल में पूजा अनुष्ठान पूर्वक यज्ञ करने की जो पंरपरा प्रचलित है, वह लौकिक ही तो है। अनेक शिव-स्थल ऐसे हैं, जहां एक सहस्त्र एक शिवलिंगी भगवान शिव की प्राचीन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। सोनभद्र में शिवद्वार, नलराजा, मऊ में ये प्रतिमाएं न जाने कब से प्रतिष्ठित एवं पूजित हैं। मऊ की प्रतिमा तो अत्यन्त विशाल है। ये सभी क्षेत्र जनजातीय बाहुल्य हैं। ये जनजातियां शिव की पूजा विविध प्रतीकों में विविध नामों से करती हैं। अगरिया शिल्पी वर्ग की जनजाति है जो धरतीमाता, सूर्य,चन्द्र के अतिरिक्त बड़ादेव की पूजा प्रत्येक शुभ अवसर पर करती है। ये उनका निवास उस पत्थर में मानते हैं जिसे पिघलाकर ये औजार बनाते हैं। यदा-कदा ये *शिवलिङ्ग* भी स्वयं बनाते और पूजते हैं। उराव जिन्हें कहीं-कहीं धांगर भी कहा जाता है, यात्रा और बारह वर्ष पर सरहुल पर्व बड़े उत्साह से विशेष रूप से युवावर्ग के लोग मनाते हैं, जिसमें ये रंग-विरंगे कपड़े या चिथड़े पहनकर वदन में चूना-कालिख लगाकर भालू-बन्दर की शक्ल बनाकर नाचते और कहते हैं- हम शिव को प्रसन्न कर रहे हैं। सुरगुजा के कंवर महादानी कह कर शिव की पूजा करते हैं। ये मिट्टी, काठ,पत्थर का प्रतीक भी बना लेते हैं। कोरवा अब लुप्तप्राय जनजाति है। सोनभद्र में इनके स्वतंत्रता के पूर्व ग्यारह परिवार थे, अब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं हैं। ये लोग ठाकुर जी की पूजा फसल तैयार होने पर गांव में महामारी, भुखमरी, चेचक से बचाव के लिए गांव के समीप किसी वृक्ष के नीचे प्रतीक बनाकर अथवा पुराने *शिवलिङ्ग* को प्रतीक मानकर करते है।[5] कोल तो स्वयं पुजारी वर्ग की जनजाति है। ये लोग बड़का या बड़ादेव की पूजा बड़ी श्रद्धाभक्ति से करते हैं और इस अवसर पर भी नारियल, चुंदरी और लेडुआ (चीनी का लड्डू) चढ़ाते हैं। सेवरी इनकी मान्य देवी है।[6] घासिया वाद्ययंत्र बनाने वाली शिल्पी वर्ग की जनजाति है जो शिव की पूजा 'नीलकण्ठ' के रूप में करती है। सोनभद्र में महुआरी के पास एक पहाड़ पर उनका एक विशाल पुराना मंदिर है, जिसमें शिव की प्रतिमा प्रतिष्ठित है और जिसकी पूजा नाच-गाने के साथ बड़े उत्साह से की जाती है। चेरों पुजारी वर्ग की जनजाति है। इनके प्रायः हर घर के आंगन में एक देवस्थान होता है, जहां अर्घा बनाकर उसके बीच में बांस में लाल कपड़े का झण्डा गड़ा होता है। उसी के समीप त्रिशूल गड़ा हेता है। शिव प्रतीक रूप में कोई अनगढ़ पत्थर भी होता है। जब किसी को कोई कष्ट या प्रेत-बाधा होती है तो वह उसे वहीं बिठाकर, घी-गुड़ से होम करता और भभूत लगाकर कर इन से झाड़फूंक कर ठीक कर देता है। इसी प्रकार पठारी भी पुजारी वर्ग की जनजाति है अन्य देवी देवताओं के अलावा पीपल-पीपल में बसे शिव और उसके आसपास रहने वाले नागदेवता की पूजा करते हैं। विन या विन्द काशी बाबा या बैजनाथ की पूजा में आस्था और विश्वास रखते हैं। वैगा भी उसी वर्ग की जंनजाति है जो सभी जातियों की देवी-देवताओं की पूजा कराती हैं। ये बड़ादेव की पूजा कराते हैं और गीत गाते हैं-

नाघली नाग भइया, वरदन क लेखा नाहीं।
बछवन के कवन भरोसा, नाधा ले भाल बाघ।
जोतई कहइ हमकेः खोटी रिहली जरा बड़ा।

तात्पर्य यह कि नागदेवता को रस्सी मानकर बैलों को हल में जोत दिया और जब पैना से खोद दिया तो वे भाग खड़े हुए। आगे है कि तब शिवजी को सिरनी माननी पड़ी। ये तीन रंग के मूंगे की जनेऊ पहनते हैं जो ब्रह्मा, विष्णु महेश का प्रतीक है। स्वेत रंग शिव का प्रतीक है। ये ताबीज भी पहनते हैं जिन पर शिव, हनुमान, दुर्गा, गणेश आदि का प्रतीक बना होता है।

तात्पर्य यह कि जनजातियों में शिव की पूजा सर्वमान्य है। ये तरह-तरह का प्रतीक बनाकर उनकी पूजा करते हैं। इनके कुछ प्रमुख तीर्थ हैं जहां ये मेलों-ठेलों में जाते रहते हैं। काशी और बैजनाथ धाम उनका मुख्य तीर्थ है जहां बसंत पंचमी अथवा शिवरात्रि पर जाना चाहते हैं। वैसे इनके कुछ और तीर्थ भी हैं, जैसे सोनभद्र में शिवद्वार, गोठानी, नलराजा, मऊ, महुरेसर, शिवपुर, शिवल्लागांव, राकी, गौरीशंकर, कण्डाकोर, बरैला, गड़डरा महादेव, छिपाताली, देवानीचुआं आदि। शिवद्वार में तो शिव-पार्वती की कला की दृष्टि से अद्वितीय प्रतिमा प्रतिष्ठित है। काले पत्थर पर खुदी उस आदमकद प्रतिमा में शिव-परिवार दिखाया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया है। शिव जी पल्थी मारे बैठे हैं, पार्वतीजी उनके वामांक में सुशोभित हैं। शिव के बायें हाथ की अंगुलियां उनकी कमर से होती हुई उनके बायें स्तन को स्पर्श कर रही है। शिव का दाहिना हाथ पार्वती की ठुड्डी को सहारा दिये हुए है। दोनों के चेहरे पर हास स्पष्ट है। नीचे गणेश जी, स्वामी कार्तिकेय बैठे हैं। ऐसी सैकड़ों प्रतिमाएं उस क्षेत्र में खेतों में, लोगों के घरों में, मंदिरों में, कुओं में, घरों की दीवारों में जड़ी हुई हैं। न जाने कितनी चोरी चली गयीं जो चर्चा है उनके पंजीकरण और संरक्षण की जरूरत है।

इसी तरह गोठानी इनका एक पुराना बड़ा तीर्थ है। यहां सोन के तट पर सोमनाथ बाबा जमीन की सतह से 8 फीट नीचे विराजमान हैं। इन्हें गुप्तनाथ बाबा भी कहते हैं। जनश्रुति है कि काशी में विश्वनाथ बाबा पर जब आक्रमण किया गया तो वे विश्वनाथ मंदिरके समीप कुएं में चले गये और फिर गोठानी में आकर प्रकट हुए। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के शिलालेख यहां प्राप्त हैं। मिर्जापुर गजेटियर के अनुसार ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी में गोठानी से आगोरी और घोरावल-शिवद्वार तक का क्षेत्र 'द्वितीय काशी' या 'गुप्तकाशी' के नाम से जाना जाता था। गोठानी में कुल ग्यारह विशाल शिवमंदिर तथा उनमें प्रतिष्ठित पच्चीस से अधिक *शिवलिङ्ग* हैं। मीतापुर में एक पहाड़ी पर विशाल *शिवलिङ्ग* मिला है। खोढ़वा-पहाड़ पर जो कैमूर का सबसे ऊँचा शिखर कहा जाता है, एक *शिवलिङ्ग* है। बरैला, गौरीशंकर, काडाकोट में शिव-पार्वती की अद्भुत कलात्मक प्रतिमाएं हैं। यहां जटाजूटधारी शिव त्रिनेत्र रूप में प्रतिष्ठित हैं। यहां शिवरात्रि और बसंत पंचमी पर मेला लगता है।

कहने का आशय यह है कि जनजातीय संस्कृति में शिव की बड़ी महिमा बतायी गयी है। एक भी ऐसी जनजाति नहीं हैं जो येन-केन-प्रकारेण शिव की पूजा न करती हो। हाँ, रूप; प्रतीक या मान्यता अलग सम्भव है। 'मानो तो देव नहीं पत्थर' उनकी आस्था को बलवती बनाने वाली भावना है। उनकी आस्था के टिकने का आधार कला भले न हो, विश्वास मुख्य है। वह चाहे भूत-प्रेत, टोना-टोटका के रूप में ही क्यों न हो। यह शोध का एक अलग विषय है।

संदर्भ :

1. ऋग्वेद - 1/34/3
2. राम प्यारे - भारतीय संस्कृति के श्रोत, पृ0 2
3. अर्जुन दास केसरी - आदिवासी जीवन, पृ0 29
4. देखिए - अर्जुन दास केसरी - शैलाश्रित गुहाचित्र, चित्रफलक 21
5. बी.के. दूबे- ए स्टडी ऑफ दी ट्राइवल पीपुल एण्ड ट्राइवल एरियाज ऑफ मध्य प्रदेश। ....ट्राइवल एण्ड डेवेलपमेंट इंस्टीट्यूट, भोपाल।
6. केसरी-त्रिवेणी संस्कृति (अप्रकाशित), खण्ड-2, पृ0 493.
7. वही, पृ0 515

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काशी विश्वनाथ मंदिर : एक ऐतिहासिक परिदृष्य

*जाह्नवी शेखर राय**

आदि काल से काशी शिव नगरी के रूप में विख्यात रही है। सातवीं सदी में चीनी-यात्री ह्वेनसांग ने विश्वेश्वर के विशाल शिवलि को देखा था। उसने काशी का वर्णन करते समय यह बतलाया - विश्वेश्वर का मंदिर सबसे प्रधान मंदिर है।[1] ह्वेनसांग के यात्रा विवरण के मूल लेख के संग्रहकर्ता फांग-ची के अनुसार इस मंदिर में सौ फीट ऊँचे काँसे के शिवलिंग की प्रतिमा है।[2] ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित विश्वेश्वर का यह मंदिर लगभग 12वीं शताब्दी तक बना रहा। उपरोक्त तथ्य की पुष्टि गाहड़वाल साम्राट गोविन्दचन्द के सन्धि-विग्रहिक लक्ष्मीधर की कृति 'कृत्य कल्प तरू' से होती है।[3] विश्वेश्वर के आदिम मंदिर का कुछ आभास रजिया की मस्जिद को देखने से मिल सकता है। जबकि वहाँ बहुत से रूपान्तर हो चुके हैं।[4] 1194 ई0 के मुस्लिम आक्रमण में वाराणसी में भयंकर युद्ध हुआ। राजा जयचन्द्र मारा गया और शहर को मुसलमानों ने जला दिया। इस तरह इब्न असीर के अनुसार इस युद्ध में स्त्री और बच्चों को छोड़कर शहर में कोई हिन्दू नहीं बचा।[5] हसन निजामी लिखता है कि "बनारस के एक हजार मंदिर तोड डाले गये और उनके स्थान पर मस्ज़िदें बनाई गईं।[6] अल्तेकर के अनुसार शाही सेना सारनाथ में भी गई और उसे ध्वस्त कर जला दिया।[7]

1194 ई0 में विश्वनाथ मंदिर गिरा दिया गया, परन्तु प्रबंध कोष से ऐसा प्रतीत होता है कि इल्तुतमिश के राज्य काल में पुनः विश्वनाथ का मंदिर बना। उपरोक्त ग्रंथ में यह उल्लिखित है कि इस काल में गुजरात के प्रसिद्ध दानी सेठ वस्तुपाल द्वारा बनारस में विश्वनाथ की पूजा के लिए एक लाख रूपये भेजा।[8] सल्तनत काल में अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) जो मूर्ति पूजा का कट्टर शत्रु था। इसके राज्य के प्रथम वर्ष में ही बनारस में पद्मेश्वर का मंदिर बना। इस तथ्य का ज्ञान जौनपुर के लाल दरवाजा मस्ज़िद से मिले एक लेख से होता है।[9] लाल दरवाजा का निर्माण काल 1447 ई0 है। इससे यह प्रतीत होता है कि 1296 ई0 से 1447 ई0 तक पद्मेश्वर का मंदिर बनारस में बना होगा। तुगलक वंश के सुल्तान मोहम्मद तुगलक (1325-1351 ई0) के काल में विश्वनाथ मंदिर देव

*जगतपुर पी0जी0 कालेज, वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाराणसी में स्थित था।[10] पं0 कुबेर नाथ सुकुल के अनुसार फिरोज-तुगलक के राज्य-काल में (सन् 1351-1388 ई0) बनारस में मंदिरों के साज-सामान से बहुत सी मस्जिदें बनी, परन्तु पुराने टूटे हुए मंदिरों की सामग्री के अतिरिक्त मंदिर, फिर टूटे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।[11] सन् 1436 से 1458 ई0 तक बनारस के मंदिरों की तोड़-फोड़ पुनः प्रारम्भ हुई। वस्तुतः 1393 ई0 में ख्वाजा जहाँ मलिक सरवन ने दिल्ली से तुगलक सुल्तान नसीरुद्दीन मुहम्मद तुगलक से अपना सम्बन्ध तोड़कर जौनपुर में अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया। शर्की शासकों के शासन काल (सन् 1447) में जौनपुर में बनी हुई लाल दरवाजा मस्जिद में बनारस के पद्मेश्वर के 1296 ई0 के एक लेख से यह ज्ञात होता है कि सन् 1447 ई0 के लगभग ही बनारस का यह मंदिर टूटा। वस्तुतः 1479 ई0 में शाह को बहलोल से पराजित होकर बंगाल भाग जाना पड़ा और जौनपुर पुनः दिल्ली के अधीन हो गया। इससे भी स्पष्ट है कि 1194 ई0 में जो विश्वनाथ मंदिर तोड़ा गया वह सन् 1296 ई0 के पहले ही विश्वेश्वर के नाम से तैयार हो गया था। यह मंदिर पुनः 1447 ई0 में तोड़ा गया और यह अकबर के राज्य काल तक फिर नहीं बन सका। विश्वनाथ के मंदिर का बार-बार गिराए जाने का उल्लेख नारायण भट्ट ने किया है।[12] भट्ट का काल 1514 से 1595 ई0 तक था तथा इनके जीवन के अधिकांश भाग में बनारस में कोई भी विश्वनाथ नामक मन्दिर नहीं था।

अकबर के राज्य काल में विश्वनाथ मंदिर बनाने का श्रेय टोडरमल एवं नारायण भट्ट को है। दिवाकरभट्ट ने लिखा है कि रामेश्वरभट्ट के पुत्र नारायण भट्ट ने अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में विधिपूर्वक विश्वेश्वर की स्थापना की।[13] डॉ0 अल्तेकर का अनुमान है कि टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने 1585 ई0 के करीब यह कार्य सम्पादित किया।[14] संभव है कि नारायण भट्ट ने टोडरमल को 1580 ई0 में मुंगेर की विजय के बाद विश्वनाथ मंदिर बनवाने की सलाह दी हो तथा बनाने वालों ने 15वीं सदी के विश्वनाथ मन्दिर का नक्शा अपने सामने रखा हो। इसकी पुष्टि 16वीं सदी के अन्त में लिखे कवि चन्द्रशेखर के सुर्जन चरित महाकाव्य से होती है। सुर्जन बूँदी के राजा थे। अकबर ने 1569 ई0 में रणथम्भौर के किले पर आक्रमण किया। सुर्जन को अकबर से सन्धि कर किला छोड़ना पड़ा, इसके बदले में उन्हें वाराणसी के आस-पास की जागीरें दी गयी। वे मथुरा, इलाहाबाद होते हुए वाराणसी आए और विश्वनाथ मंदिर में स्वर्ण-मुकुट चढ़ाए।[15]

राल्फ फिच (1583-91) अकबर के शासन काल में वाराणसी आया था। उसने विश्वनाथ मन्दिर का वर्णन करते हुए लिखा है कि बहुत से देवताओं में से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक का हिन्दू बहुत आदर करते हैं। उसके अनुसार ये सारे संसार को खाना-कपड़ा देते हैं। इनकी मूर्ति के पास बैठकर एक आदमी हमेशा पंखा किया करता है।[16]

इन उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल तक विश्वनाथ मन्दिर का निर्माण हो गया था।

अकबर के काल से पहले बने विश्वनाथ मन्दिर में पाँच-मण्डप थे। इनमें से पूर्व की ओर पाँचवें मण्डप की माप 125 + 35 फुट थी। यह रंग मण्डप था। यहाँ धार्मिक उपदेश होते थे। टोडरमल ने केवल मंडप की मरम्मत करा दी एवं मन्दिर की कुर्सी 7 फुट और ऊँची कराकर सड़क के बराबर करा दी। हिन्दुओं के डर से मन्दिर में मूर्तियाँ नहीं खोदी गईं।

16वीं सदी का विश्वनाथ मन्दिर चौकोर था और उसकी प्रत्येक भुजा 12 फुट की थी। मुख्य मन्दिर के बीच में 32 फुट के मुरब्बे में जलधरी के अन्दर था। गर्भ गृह से जुटे हुए 16 + 10 फुट के चार अन्तर्गृह थे। इसके उपरान्त 12+8 फुट के छोटे अन्तर्गृह थे जो चार मण्डपों में जाते थे। पूर्वी और पश्चिमी मण्डपों में दण्डपाणी और द्वारपालों के मन्दिर थे। इनकी मूर्तियाँ आलों पर स्थित थी। मन्दिर के चारों कोनों पर 12 फुट के उप-मन्दिर थे। नन्दी मण्डप मन्दिर के बाहर था। मन्दिर की ऊँचाई लगभग 128 फुट थी। मण्डपों और मन्दिरों पर शिखर थे जिनकी अनुमानतः ऊँचाई 64 फुट और 48 फुट थी। मन्दिरों के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ था जिसमें अनगिनत देवी-देवताओं के मन्दिर थे।[17]

शाहजहाँ के शासन काल में एक अंग्रेज यात्री पीटर मण्डी ने आँखों से अकबर कालमें बना विश्वनाथ मंदिर देखा था।[18] उसने लिखा है कि "वाराणसी में खत्री, ब्राह्मण एवं वनियों की बस्ती है और वहाँ दूर-दूर से लोग देवताओं की पूजा करने आते हैं। इनमें काशी विश्वेश्वर महादेव का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है। मैं उसके अन्दर गया। उसके बीच में एक ऊँची जगह पर एक लम्बोतरा सादा पत्थर है, उस पर लोग नदी का पानी, फूल, अक्षत और घी चढ़ाते हैं। पूजा के समय ब्राह्मण कुछ पढ़ते रहते हैं, पर उसे गँवार समझते नहीं। लिंग के ऊपर एक रेशमी चँदवा है, जिसके सहारे कई बत्तियाँ जलती रहती है। उस सादी थोथी मूरत का मतलब एक सादे गँवार के ठेठ शब्दों में महादेव का लिंग था। अगर ऐसी बात है तो जान पड़ता है कि इसी से स्त्रियाँ अपने छोटे बच्चों को निरोग करवाने लाती हैं। शायद इस लिंग में प्रजनन और रक्षण दोनों का भाव निहित है।[19] विश्वनाथ के मंदिर का यह आँखों देखा सर्वप्रथम वर्णन है।

पीटर मण्डी ने वाराणसी के जिस विश्वनाथ मन्दिर को देखा था और जिसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टोडरमल की सहायता से नारायणभट्ट ने 1585 ई0 में बनवाया था, उसे औरंगजेब ने ध्वस्त करा दिया।[20] 18 अप्रैल 1669 को औरंगजेब ने अपने सूबेदारों को एक फरमान भेजा कि वे अपनी इच्छा से काफिरों के सभी मन्दिर और पाठशालाएँ गिरा दें। उन्हें सख्त आदेश दिए गए कि वे सब प्रकार की मूर्तिपूजा सम्बन्धी शास्त्रों का पठन-पाठन बन्द करवा दें। 2 सितम्बर 1669 को औरंगजेब को खबर मिली की उनकी आज्ञा के अनुसार उनके अमलों ने बनारस में विश्वनाथ मंदिर गिरा दिया। मन्दिर केवल गिराया ही नहीं गया बल्कि उस पर ज्ञानवापी की मस्ज़िद उठा दी गई। मन्दिर गिरने पर हिन्दुओं ने भयानक युद्ध किया, जिसमें लगभग पचास हजार हिन्दू मन्दिर के दरवाजे पर मारे गए।

संदर्भ :

1. वाट्र्स, थामस- आन युवान च्वांग'स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, दिल्ली, 1961, पृ0 150
2. वही.
3. कृत्यकल्पतरू, तीर्थकाण्ड, पृ0 121-23
4. सुकुल, पं0 कुबेरनाथ, वाराणसी वैभव, पृ0 142
5. इलियट, जि0-2, पृ0 247-48
6. ताजुल मआसिर (हस्तलिपि), पटना, पृ0 168.
7. अल्तेकर, ओम सदाशिव, बनारस पास्ट एण्ड प्रजेण्ट, पृ0 66
8. प्रबंध कोश, परिशिष्ट 1, पृ0- 132
9. फ्यूहरर, दि शर्की आर्किटेक्चर ऑफ जौनपुर, पृ0-5 -"तस्यात्मजः शुचि धीर पद्मसाधुरयं भुवि, काश्यां विश्वेश्वर द्वारि हिमाद्रि शिखरोपमम्। पदमेश्वरस्य देवस्य प्राकारमकरोन्सुधीः ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे द्वादश्याम्बु धवासरे।। लिखिते में सदा याति प्रशस्ति प्लवत्सरे सम्वत् 1353.
10. जिन प्रभु सूरि- विविध तीर्थकल्प
11. सुकुल, कुवेर नाथ- वाराणसी वैभव, पृ0 141
12. नारायण भट्ट, त्रिस्थली सेतु (रचनाकाल-1585), पृ0 208, - "लिंग बहुधा हटा दिए जाने से नए स्थापित लिंग की पूजा करनी चाहिए। म्लेच्छों द्वारा अगर मन्दिर नष्ट कर दिए गए हो तो खाली जगह की ही पूजा की जा सकती है।"
13. दिवाकर भट्ट- दान हरावली (आंगलिक इण्डिया आफिस कैटलाग ऑफ संस्कृत मेनुस्क्रीप्ट, भाग 2, पृ0 547)
14. अल्तेकर, बनारस पास्ट एण्ड प्रजेण्ट, पृ0 67
15. सुर्जन चरित, 19/40, "हैमं यदेव मणिभिभृर्त मुन्मयूरवै विश्वेश्वराय झटति प्रवर किरीटम्। अह्नय तद् विनिमयेन नवीन मिन्दुं देवोऽपि शेखरतया भूतवान भु मै।
16. विलियम फासूर, अर्ली ट्रेवेल्स इन इण्डिया, पृ0 20-23.
17. जेम्स प्रिसेप, व्यू आफ बनारस, पर उद्धृत, सुकुल, कुवेर नाथ, वाराणसी वैभव, पृ0 145.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिव और काशी : एक दृष्टि

*दीनबन्धु तिवारी**

शिवपुराण में द्वादश ज्योतिर्लिंगावतार का वर्णन किया गया है। इन अवतारों के पीठ स्थान इस प्रकार हैं- हिमालय पर केदारनाथ, डांकिनी में श्री भीमशंकर, काशीपुरी में विश्वनाथ, गोमती नदी के तट पर त्रयम्बक, सौराष्ट्र में सोमनाथ, शैल में मल्लिकार्जुन, उज्जयिनी में महाकालेश्वर, ओंकार में अमरनाथ, चिताभूमि में वैद्यनाथ, दारुक वन में नागेश्वर, सेतुबन्ध में श्री रामेश्वर तथा शिवालय में धुश्मेश्वर हैं।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि ये सभी स्थान किसी न किसी विशिष्टता के कारण शिव की खोज रहे हैं। शिव द्वारा काशी की खोज उन्हीं कड़ियों की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। शिव और काशी का सम्बन्ध अनादि काल से है। शिव और काशी दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। काशी मोक्ष दायिनी है, काशी दुनियां के प्राचीन नगरों में से एक है, काशी विश्व की सांस्कृतिक राजधानी कही जाती है, महाप्रलय में भी काशी सुरक्षित रही है।

एक प्रसंग में शिवपुराण में वर्णित है कि भगीरथी के परम पावन तट पर बसी हुई मुक्ति प्रदान करने वाली अति विख्यात काशी नाम की नगरी है। वह लिंगमयी तथा भगवान शिव की भूमि कही गयी है। साथ ही यह भी कहा गया है कि काशी में नित्य निवास करने वाला चाहे वृद्ध हों या बालक हो साक्षात शिव के तुल्य हो जाता है।[2] यह वाक्य काशी के अत्यन्त महात्वपूर्ण स्थान होने का सूचक है, ऐसा प्रमाणित होता है।

शिव द्वारा काशी की खोज करने के बाद जनमानस का आकर्षण काशी की ओर बढ़ा। लोग इस स्थान का चुनाव कर आने लगे, क्योंकि काशी महाप्रलय में भी सुरक्षित है। क्या यह सिद्ध नहीं करता कि पूरे भूगोल में शिव ने जिस स्थान को कई दृष्टिकोंण से रेखांकित किया, वह आगे चलकर सार्थक सिद्ध हुआ। शिव द्वारा काशी के बारे में की गयी समस्त खोज सत्य सिद्ध हुई। काशी में एक स्थान है शूलटंकेश्वर। यह गंगा के किनारे नगर के दक्षिणी छोर पर है। यहाँ एक विशाल शिवलिंग है। जनश्रुतियों के अनुसार गंगा इस रास्ते से गुजर रही थीं तो शिव ने इसी स्थान पर अपना त्रिशूल गाड़ दिया था। गंगा की धारा यहीं से उत्तर वाहिनी

---

*रीडर, समाजशास्त्र विभाग, लालबहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुगलसराय, चन्दौली।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो गयी। यानी कि इस नगर से सटकर बहने के लिए गंगा को शिव ने घुमाया और वह आज तक लगातार काशी से सटकर बहती चली आ रही है। यदि काशी पर आगे की बात बढ़ायी जायेगी तो निश्चय ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान शूलटंकेश्वर ही होगा जहाँ शिव के स्वयं का रहवास था। अर्थात् इसी जगह पर शिव का महत्वपूर्ण आश्रम रहा। आज भी नगर से दूर परन्तु काशी में ही यह स्थान शांत एकांत, भीड से अलग दिखता है। स्कन्द पुराण में स्वयं शिव ने एक प्रसंग में पार्वती से शूलटंकेश्वर के महत्व का वर्णन किया है।[3]

एक जगह मत्स्य पुराण में स्वयं शिव ने पार्वती से कहा है कि – हे प्रिये! सिद्ध गन्धर्व से सेवित मेरे वाराणसी क्षेत्र में पुण्य नदी त्रिपथगा प्रविष्ट हुई। ब्रह्म पुराण में गंगा के लगभग दो योजना तक उत्तर वाहिनी होने का वर्णन मिलता है। यहाँ उत्तर वाहिनी होने का वर्णन शूलटंकेश्वर की पहचान में वृद्धि हुई है। यदि उत्तरवाहिनी का आधार लेकर कभी परिक्षेत्र का अवलोकन किया जाये तो निश्चय ही अस्सी से आगे शूलटंकेश्वर तक यात्रा करनी होगी। वरुणा–अस्सी काशी की वास्तविक सीमा बिन्दु हा होना तार्किक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उत्तरवाहिनी गंगा की सीमा शूलटंकेश्वर महादेव से कैथी के मार्कण्डेय महावेव के बीच बनाती है। यहाँ काशी की वास्तविक सीमा न मानने पर कोई औचित्ल नहीं। शूलटंकेश्वर एवं कैथी के मार्कण्डेय महादेव से सम्बन्धित इतनी अधिक जनश्रुतियाँ मौजूद हैं कि उनसे प्राचीन प्रमाण कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं हैं। वैसे इन बातों की प्रामाणिकता के लिए एक जनश्रुति का उदाहरण देना यहाँ उचित होगा कि काशी क्षेत्र की परिक्रमा पहले 85 (पच्चासी) कोस की हुआ करती थी। इसके पक्ष में मोतीचन्द्र[5] (काशी का इतिहास) एवं वी.वी. साहा[6] (इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म) ने भी तर्क दिया है कि काशी का विस्तार वर्तमान जौनपुर जनपद के केराकत एवं मछली शहर तक था। इसी परिक्षेत्र में ही रामनगर, चुनार और दूसरी ओर सारनाथ का इलाका भी शामिल था। अतः पच्चासी कोस की प्राचीन परिक्रमा की पुष्टि के साथ शूलटंकेश्वर जैसे महत्वपूर्ण स्थान की पुष्टि सहज ही हो जाती है। यह बात अलग है कि कालांतर में कई कारणों से काशी की परिक्रमा को लोगों ने और अधिक सहज बनाने के लिए पच्चासी कोस की जगह पच्चीस कोस बना लिया और महत्वपूर्ण देवस्थानों का निर्माण भी करा लिया।

लोगों के बीच एक मिथक यह भी है कि काशी शंकर के त्रिशूल पर बसी है। क्या यह सत्य नहीं लगता कि काशी निर्माण की प्रक्रिया तब शुरू हुई जब शिव ने अपना त्रिसूल गाड़कर इस स्थान पर अपना आसन जमाया और इसके महत्व को भी बताया। त्रिशूल के गड़ने और काशी के बनने के संयोग ने क्या यह मिथक रूप धारण नहीं किया होगा कि यह नगर शंकर के त्रिशूल पर बसा है। समुद्र मंथन,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूगोल एवं भूगर्भ मंथन करके मानव समाज को अनमोल थाती सौंपने वाले महान ऋषियों, मनीषियों एवं तपस्वियों के पुरोधा "शिव" का तीसरा नेत्र ही उनकी अद्भुत शोध दृष्टि है।

मत्स्य पुराण के एक प्रसंग में स्वयं शिव पार्वती से कहते हैं – हे पार्वती! तीनों लोकों का सार मेरी यह काशी सदा धन्य है।[7] यह वाक्य दर्शाता है कि शिव द्वारा जितने भी स्थानों की खोज की गयी है उसमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान काशी है।

संदर्भः

1. अवतारञ्छणु विभोद्धनदिश प्रमितान्यराम।
ज्योतिलिंग स्वरूपान्वै परमोत्तम कान्मुने।।
केदारो हिमवत्पृष्ठ डाकिन्यां भीमशंकरः।
वाराणस्यां च विश्वेशत्रयम्वको गौतमी तटे।।
सौरा ट्रे सोमनाथश्च श्री शैले मल्लिकार्जुन।
उज्जयिन्यां महाकाल ओंकारे चामरेश्वरः।।
वैद्यनाथश्चितरभूमो नागेशों दारुकावने।
सेतु बन्धे च रामेशो धुश्मेशाश्च शिवालये।। -शतरुद्र संहिता, शिवपुराण।

2. गंगातीरे सुप्रसिद्ध काशी खलु विमुक्तिदा।
सा हि लिंगमयोज्ञया शिव वास स्थली स्मृता।।
लिंगतत्रैव मुख्य च सम्प्रोक्त विमुकम।
कृति वासेश्वरः साक्षात् तुल्यो वृद्धबालकः।। -कोटिरुद्रसंहिता, शिवपुराण।

3. तं नैत्रेदते च शूलेशो द्रष्टव्यश्च प्रयत्यनतः।
शूलं तत्र पुरान्यस्तं स्नानार्थ वर वर्णिनी।।
हृदस्तत्र समुत्पन्नः शूलेशस्याग्रतो महान।
स्नानं कृत्वा ह्रदे तत्र दृष्टवाशूलेश्वरं विभुम।। -काशीखण्ड, स्कन्दपुराण।

4. वाराणस्यां नदी पुण्यां सिद्ध गन्धर्वसेविता।
प्रविष्टा त्रिपथगा गंगा तस्मिन् क्षेत्रे ममप्रिये।। -मत्स्यपुराण।

5. मोतीचन्द – काशी का इतिहास।

6. वी.वी. साहा– इंडिया ऐज डिस्क्राइण्ड इन अर्ली टेक्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म।

7. वाराणसीति भुवनत्रयसारभूता धन्या सदा ममपुरी गिरिराजपुत्रिः।। -मत्स्य पुराण।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'KALBHAIRAVA' THE ASURA GOD OF SWORD-SMITHS IN JAPAN

B. Prakash*

Asura God has been very closely related to the ancient Indian iron making technology and the life of tribes associated with it like Agaria, Birgia and Munda etc. As mentioned by Elvin[1], Joshi[2], Agrawal and Kharakwal[3] and many other archaeologist and historians these iron smelters had a practice of performing 'pooja' (religious ritual) and prey to 'God Asura' for the successful operation of their iron smelting furnace. This religious belief in Asura is alive even today in the form of folk lores in Mandla and Kumaun hills of Himalaya's and the iron smelting tribes of these and other regions of India still perform the traditional pooja before beginning the iron smelting operation. The english translation of one such prayer to ' Asura God' is quoted below Joshi[4] and Prakash[5].

> Lohasur baba we take refuge in thee
> go and see, baghasur pah, nagabansi pat go
> before and stop the enemy in the way-------
> Go lohasur Baba o twelve Agaria brothers.
> o thirteen tamasur brothers, O fourteen kansasur
> brothers, we come to thee...........
> victory to lohasur; accept this, dhartimata, lohasur bhawani; help us, dharimata, banaspati maharaj..........

Recent survey and study of these ethnic groups in various parts of the country, conducted by Prakash and Igaki[6], sharma[7], Mishra et al.[8] and Balasubramanian et al.[9] has proved that the ancient iron smelting practice as well as the old traditions are still alive in Sonbhadra (U.P.), Mandla, Surguja, Jaspur and Wadruffnagar in eastern M.P., Balaghat and Bastar in central and south M.P.,

*Former Prof., Deptt. of Metallurgical Engg., Banaras Hindu University, Varanasi.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Bishunpur in bihar and in some parts of Orissa and other provinces. All these ethnic groups associated with the iron smelting practice call themselves direct descendants of 'Asura'. It is interesting to note that inspi te of such staunch religious belief in 'Asura God', unlike the Indian tradition no idol or icon of 'Asura' has been described or established or made before the pooja is performed. The mention of words like ' Nagabansi' and Baghasur in the folk lore indicate the relation to 'Shiva'.

It is also of interest to note that the prayer is made to mother earth from which iron ore is obtained and 'banaspati maharaJ' from which charcoal could be produced. As observed by Kesri[10] the Agaria's of sonebhadra perform this pooja by placing a lump of iron ore and call him 'Bada Deo .

THE ASURA GOD IN JAPAN

In 1989 a new evidence was brought to the notice of the author by Notis[11], who obtained a line diagram of a wall hanging (shown in Figure (1) from the Metals Museum, Sendai, Japan. In this painting demons or devils are shown helping the black smith in the preparation of a sword and an unusual form of God to which very little information was available in the museum's record. The line sketch shown in Figure (1) was prepared by Jun Nozaki[12] (a staff artist of the museum) who informed professor Notis that the original wall hanging was a private property and the swordsmiths who hang such wall hanging at the place of their work and worship for the success of their trade. A reproduction of the original wall hanging is shown in Figure (2). This Figure has been taken from the book on 'Life of Swordsmith in Japan' written by S. Fukunaga[13] (1973). The icon shown, in figure (2) has four heads each having three eyes and eight hands holding various weapons. This wall hanging comprises of four seprate Groups of pictures i.e. at the top of this wall hanging the symbolic pictures of sun and Moon are shown. This is followed by a picture of the God whom Japanese call Sambo-Kojin (a combined God of Buddhism and Shintoism) with two Japanese priests offering prayer. The salient characteristic feature of this deity is very much different from those of oriental deities of Japan and it was referred to the author

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

because it has some similarity to the Indian idols and icons. In the third section two demons or Asuras have been shown fighting for a woman and in the fourth section a Japanese blacksmith is forging a sword and a devil is handling a hammer and helping the smith. In the background of the forge hearth a bellow or wingd box is shown on which a religious offering of rice cake has been made. The wife of the swordsmith is shown sitting by his side. In Rasa Ratna Samucca[14] the characteristic features and the role of woman has been mentioned as who should bring water for the successful hardening and tempering of the sword.

Since the god Sambo-Kojin was connected with Buddhism the author tried to find the Indian connection and discussd the figure with several experts from the field of archaeology, religion and history. Ultimately a satisfactory explanation was provided by Dr. T.K. Biswas, Joint Director of Bharat Kala Bhawan, Banaras Hindu University, Varanasi. He recognisd this deity as Kalbhairava one of the creations of 'God Shiva' and he showed a bronze icon of Kalbhairva obtained from nepal which had similar iconography. Visuvalingam[15] has made a detailed study of the temples of Bhairava in varanasi. According to her there are eight Bhairavas and Kalbhairava is called the Kotwal (Magistrate) of Kashi. In the Hindu mythological text 'Skanda puran' (Kashi Khand 2) dog has been mentiond as the *'Vahana'* and companion of Kalbhairava.

These evidences and observations show a clear co-relation between Kalbhairava and the 'Asura god' Sambo Kojin of Japan. It is possible that during the spread of the Buddhist religion some Indian iron smelters travelled to Japan through china and Korea and carried the tradition of performing pooja of 'Asura' before starting iron smelting and forging in these countries of atleast in Japan. There, in the absence of the idol of kalbhairava the painting shown in Figure (2) was prepared on cloth and hanged in the Mandala for offering the prayer. Prakash [16] has mentioned this possibility as a proof of outward migration of iron smelting technology from India and published Figure (1) in the chapter on metals and metallurgy in the History of Technology in India (INSA Publication 1997, New Delhi). The author had presented a

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

reprint of this chapter to professor Kenzo Igaki, Emeritus professor at Tohoku University, Sendai and renowned archaeo-metallurgist of Japan. He could contact Nozaki[17] of Metals Museum and, obtained a copy of the Book authored by Suiken Fukunaga[18]. This book publishes figure 2 and many more Japanese paintings of Kalbhairava as the God of iron smelting and forging. The information regarding these Japanese paintings as communicated by Igaki[19] to the author is given here.

Quote:

"According to the information provided by Nozaki the original wall hanging is a private property and photo is not easily available. But he sent me photo of a similar wall hanging (Figure (2)) shown in a book on 'Life of sword-smith in Japan' written by Fukunaga.

Sword smith, tool smith and foundries in Japan observe Fuigo-Matsuri (bellow festival) on the day 8th November on lunar calendar and these wall hangings are used on this occasion. Sambo-Kojin is the main figure in the Fuigo-Matsuri, who controls fire and furnace including cooking furnace. Here Kojin means violent demon' A-Shu-ra' is concerned in fighting of Buddhist origin.

In the north-eastern district of Japan Sambo-Kojin is called O_Shi_ra Sama, 'O' and 'Sama' means polite expression by 'a-Shu-ra' and 'o-shi-ra' the very similar pronunciation suggests the similar origin as you mentioned (India). But in Japanese group of folk-lore 'O-shi_ra Sama' is tightly connected with Shiro (white) and regarded as a God who protect silk worm cultivation. It seems rather difficult how to correlate sword-smith and silk worm'.

Unquote:

Figure (3) shows another wall hanging of Sambo-Kojin (Kalbhairava) standing on a chines type air blower and the blacksmith working before the forgehearth. In this figure Kalbhairava, is shown having three eyes and holding a 'Trisul' in one hand. It also shows a dog with folded hands standing on the left side. Fig. (4) shows Sambokojin (Kalbhairav) riding a dog,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

who is holding an axe in his mouth. Fig (5) shows 'Sambo Kojin' standing in the top part and Japanese smelters carrying out the iron smelting in rectangular furnace using four piston-type Chinese blowers (two blowers fitted on each longi-tudinal side of the furnace). Below it a black smith is engaged in making iron swords with the help of workers wielding the hammer and performing other jobs. All these wall handings belong to the Shimane and Izumo perfectures (districts) of Japan, where the traditional iron making by 'Tatara' furnace and manufacture of the traditional Japanese sword are being still practiced.

The history of metals technology of Japan has been greatly influenced' by the developments in Korea and China. During the early period the non ferrous metals i.e. objects made of copper and bronze were imported from these countries and its relation to Japan has been discussed by Tylecote[20]. He has reproduced many sketches from the paper by Gowland [21] Concerning copper production in Japan and the history of iron and steel in China by Needham[22]. None of these Japanese or Chinese pictures show the evidence of the worship of the air blower (all typical Chinese piston type), or being helped by the demons in the process of smelting and metal fabrication technology. This clearly shows that the tradition of worshiping the air blower and Kalbhairava in Japan was begun only with the introduction of iron technology during the Tantrik Buddha period. In all probability the iron smelting technology has reached Japan through China and Korea carried out by the Buddhist monks travelling through the Silk Road or Chinese silk trader's route to India through Tibet and Nepal. Probably this is the reason that 'Oshir-Sama' has been also regarded as 'Shi-ro' or God of silk worm cultivation, as mentioned by Igaki[23].

THE BEGINNING OF IRON TECHNOLOGY IN JAPAN

Anazawa[24] has conducted archaeological studies of Japan's iron smelting and emphasized that according to the Dongyizhuon Guochutie section of the formal Chinese history Wie Zhi iron was produced in benshin province of southern Korea and till 286 A.D. This was shipped to Han and Wai in Korea and Wa in Japan. He

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

further mentions that during the mid' yayoi period only black smithy craft was begun in Japan and they used various type of rejected iron pieces including cast iron pieces of Chinese origin. Kubota[25] has mentioned that the iron production in Japan was most probably begun by Korean migrants to northern Kyushu and San-in-Region in norhern part of Honshu islands. He has also mentioned of early travel of people between China and Japan who brought Chinese culture to Japan. Haba[26] has mentioned two separate opinion concerning the beginning of iron making in this country. One is the yayoi period (300 B.c.-300 A.D.) and the other Kofun period (300-600 A.D.). According to him the earlier furnaces were short shaft furnaces having square or circular cross-section. These furnaces were very much similar to those of India but they were blown with piston type Chinese blowers. Latter, rectangular furnaces of the design shown in Fig. (5) and blown with four large Chinese type air blowers were developed. This was followed by indigenous development of 'Tenbin-fuigo' type air blower known as 'Tatara' and this leads to the design of Tatara iron smelting furnace as described by Haba. In this furnace iron is produced by smelting Titani ferrous iron sand collected by washing the fine sand in water launders. This iron rich sand is found in the form of granite rock found in Izumo and Shimane perfectures (districts). Tate[27] has described the construction and operation of this furnace. In this furnace after 20 to 24 hours of operation a large heterogeneous block of iron weighing 1.5 to 3 tonnes was produced, which was called 'kera' or 'zuku'. This block was water quenched and broken into small pieces for the classified use of the iron-carbon alloy. The iron pieces rich in iron carbide (1.5% c) were called 'Tama-Hagane' and used for sword making.

Rubin and ko[28], and Rubin[29] have conducted a detailed arhaeometallurgical study of the iron and steel technology of china. Most of the iron objects dating back to 9th century B.C. or earlier have been found to contain high percentage of Ni confirming to their being of meteoric origin. The traditional iron smelting in this country has begun in 6th Century B.C. and most of the iron smelting sites have been found in the Sanmenxia, Hanan

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

and Xinjiang regions, which are very near to the 'Silk Road' confirmingthepossibilityofthetechnologymigratiionalongthis route. Most of the earlier Chinese furnace were similar in design tothoseofIndiabuttheywermostprobablyoperatedwiththehelp ofpistontypeChineseairblower. Thistypeofbloweriscapableof blowing much more air and at higher pressure than bhathi or foot operated bellows. This resulted in achieving higher temperature in the furnace and production of cast iron instead of hot iron sponge or wrought iron. The production of cast iron resulted also due to the high phosphorous content of the Chnese iron ore. The Chinese craftsmen are credited for the development of the practice of cast iron cast ing and also the invention of malleablizing process to produce semisteel. Rubi[29] has concluded that production of white cast iron and malleablization technologies were being practiced in China during 5-6 century B.C. and these were introduced in Europe much latter in 14th to 18th century A.D. In the Korean Peninsula the iron age seems to have begun in 3rd-4th century B.C. by migration of the technology from China. The early iron metallurgy in Korea has been described by yoon [30] and he has also confirmed the iron trading with Japan during the yayoi period (200 B.C. to 200 A.D.).

The Beainning of Iron Culture in Indian Sub-continent

The migration of iron technology from India to Japan via China and Korea is possible because it had much earlier beginning in the country. According to the literary evidences the Iron Age had its beginning during the Vedic period but the archaeological evidence are found dating back to the late 2nd mB.C, i.e. almost at the same time as in Assyria or Mesopotamia. Inspite of this the beginning of the iron smelting technology in India has been a controversial issue. While the old school is of the opinion that the discovery of the iron smelting technology took place in Assyria or Mesopotamia and it was brought to India by Aryans or Hittaits who are supposed to be of Indo-European origin. this hypothesis has been discussed in detail by Banerjee[31] and many others. In a recent paper Agrawal and Tripathi[32] have called it the second phase of Indian urbanization in Central Himalayan region. Their argument is based on the linguistic

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

origin of the term 'Asura'. According to some linguists the word Asura or the names of the places like Agar, Asura chula or Banasur (corrupt form of the king's name Asur-Bani-Pal) have their origin in Assyria, where the smelting technology was discovered and then brought to India by hittaits. Similar arguments and linguistic or historical links have been established with Mesopotamia and Lustrian. They have opined that 'khasas' or the kashmiries are khassites of central Asia who migrated to India and brought the technology of iron smelting with them. This migration theory has been refuted at many fora in favour of the indigenous beginning of iron smelting.

The second school advocates the indigenous origin of the iron smelting technology and the Aryans as well as Dravidians both being the original inhabitants of India. Misra[33] has discussed the linguistic proof supporting this hypothesis. Chakrabarti[34] has discussed the earlier migration theory of Aryans from many angles and rejected it. Prakash[35] has analysed the growth pattern of the iron objects during the early, middle and late stages of development in different regions of India. He has observed that the gradual growth of iron objects from the hunting tool to the domestic use confirms the indigenous origin of the iron production technology. He (Prakash[36]) has also presented a hypothesis explaining the genesis and the discovery of iron from Havankund during the Vedic period and the transition of Havankund to the shaft smelting furnaces. This hypothesis has been supported by the study of variety of iron smelting furnace found in different parts of India as well as the abundance of iron ore deposits spread all over the country.

DISCUSSION

In Traitraya Bramhana 'Siva Rudra' has been preyed to bless with iron and there is mention of the production and use of iron in other Vedas also. According to the archaeological evidences India had the independent beginning of iron smelting technology during the 2nd M.B.C., i.e. almost at the same time as in Assyria or Mesophotamia and Indian craftsmen had also learnt the 'steeling' of bloomery iron by carburization much before any where in the

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

world. In the country munda and Agaria had been the two main iron producing tribes. They were 'sivaits' and they worshiped Asura as their God of iron smelting and they called him by many other names as mentioned in the folk lores..

The worship of Asura as the God of iron smelting and smithy craft is the common link between India and Japan and it is a positive proof of iron technology migration from this country to Japan, where iron was introduced much latter by way of trading from Korea and China. The Japanese history shows that there the iron age was begun by smithy of imported iron and cast iron in ~ 200 B.C. and the blacksmiths of Japan began worshiping Asura or 'Sambo Kojin' a demon God of Buddhist period as their God of wind blower.

Recent investigation has shown that 'Sambo Kojin' has iconographic similarity to 'Kalbhairava' a creation of lord Siva (Tantric cult). Kalbhairava is also known as 'Mahakal' and the temple of 'Mahakalesvara' in Ujjain has only an idol of 'Jyotirlinga'. In early period Ujjain has been an important centre of iron production known by the name 'Akravanti'.

It is well known that during the Mahayan and Vajrayan (Tantrayan) many hindu deities and particularly 'Siva' had greatly influenced the Buddhist iconography and many paintings of various deities were made in the countries accepting Buddhism. Biswas[37] has described in detail the Siva-Buddha iconography and mentioned that Buddha has been recognised as 'Mahadeva'. Sorensen[38] has given a detailed description of the typology and iconography in the esoteric Buddhist art of Dunhuang on the 'Silk Road' during mid. 4th to 14th c.A.D. The Institute of Silk Road Studies, Japan[39] has sponsored detailed studies of the 'Silk Road' and published the findings in 8 volumes. Silk Road in Bactria, Afghanistan and Kazakistan has been under the rule of Kushana upto 300 A.D., and many paintings made in this region have been found to have iconographic similarity to the Indian gods and goddesses. Similar paintings belonging to the Buddhist period have been found to be spread throughout Nepal, Tibet, China, Japan and as far as Mangolia. This clearly shows the Hindu

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

influence on the paintings of Japan published by Fukunaga[40] and the close connection of the Term O-Shira-Sama and Shiro to silk and the silk road as mentioned by Igaki[41]. This also indicates the possibility of migration of Indian smelters and black smiths to China, Korea and Japan during the period of spread of Buddhist religion.

So far as the period of migration of the iron culture to Japan is concerned the black smithy craft might have reached during the yayoi period (200 B.C.) but the iron smelting in bloomery furnace using the conventional air bellows (Bhathi) must have begun in 3c.A.D. This was followed by the modification of the shape of the furnace to have square and rectangular cross-sections and thus increasing the production capacity. The rectangular furnace was still operated with four large Chinese air blowers as shown in Fig. (5). Latter by the end of Kofun period (*600 A.D.*) Japan developed its own design of air blower known as 'Tenbin-fuigo' or 'Tatara' and started using iron sand (Titaniferrous Magnetite) instead of lump ore. This was followed by the design and installation of permanent 'Tatara' furnace which remained as the main source of iron and steel production till the modern blast furnace practice was adopted in 18th c.A.D.

The association of God asura or Kalbhairava (Sambo-Kojin) with iron production technology only is further confirmed by the absence of such religious rights during the production of copper and other nonferrous metals in India as well as China, Korea and Japan. Kubota[42] has confirmed that the worship of 'Sambo-Kojin' has been mentioned also in the Chinese history, and according to him the iron smithy God in Korea is called 'Amano Hiboko'.

Till date no iconographic details of these deities of China and Korea are known. Kubota[43] has also mentioned that in the North of Oki tsumiya island gaint rock was worshiped and many remains of iron culture have been found on this island.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

It is interesting that in Japan Kalbhairava or Asura (Sambo-Kojin) has been recognised as the God of the air blower, which controls the heat input rate, the temperature as well as the furnace atmosphere, on which much depends the success of the iron production and its heat treatment. The control aspect of ancient iron smelting furnace operation has been discussed elsewhere by the author (Prakash[44]). He[45] has also published the metallurgical aspects of the black smithy craft of Iron-Carbon alloys, which were at a developed stage in India during the later period producing heavy forgings like the iron pillar of Delhi and the wootz steel swords.

CONCLUSIONS

Based on the iconographic study of Japans Asura God Sambo-Kojin and his worship by the black smiths as well as iron smelters it could be concluded that:

a) Japan's Asura God Sambo-Kojin has many iconographic similarity to the Indian God 'Siva' and Kalabhairava.

b) In the hindu mythology dog has been mentioned as the companion of Kalabhairava and his presence as vahana of Sambo-Kojin in several paintings of Japan further confirms his being Kalabhairava.

c) The close association of the term O-Shira-Sama has phonetic similarity to 'Asura' and it indicates the spread of iron and steel technologies to the East Asian Countries through the migration of buddhist Indian craftsmen following the 'Silk Road' or travelling through Nepal and Tibet to China, Korea and Japan.

d) The historical review of the spread of the iron and steel technologies confirms the origin of these technologies in India and their begining in Japan by migration during the spread of the Buddhist religion.

e) It aslo confirms the period (300 to 600 A.D.) of the begining of the tradition of worship of Kalabhairava as Sambo-Kojin in Japan.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

References:

1. Elvin v. - The Agaria, H.M. Oxford Press, Calcutta (1942)
2. Joshi, S.D. - History of Metal founding in the Indian subcontinent since Ancient Times, Publisher. Mrs. S.S. Joshi, Ranchi (1970) PP. 87-98.
3. Agrawal, D.P. and and J.S.Kharakwal - Central Himalayas An Archaeological, Linguistic and Cultural Synthesis, Aryan Book International, Delhi (1998).
4- Joshi, S.D.- op. cit. ref. 2, pp. 90.
5. Prakash, B. - Metallurgy in India through Ages, Bulletin of the Metals Museum, 8 (1983) pp.30.
6. Prakash, B. and K. Igaki- Ancient Iron Making in Baster District, IJHS, 19,2 (1984) 72.
7. Sharma, M. - Private correspondence, Director, 'Vikash Bharati', Mahamana Malviya Mission, Bishunpur (1990).
8. Misra, A.K. and V.K. Chaube - 'Swadeshi Loh Aglan' (a report), Gandhian Institute for Staudies, Varanasi and P.P.SP.T., Chennai (1993).
9. Balasubramanian, A.V., N.B. Ballal, B. Prakash, P. Krishna Rao and S. Waghulde, Monograph on 'Indigenous Iron and Steel Technology of India, Congress on Ts & T of India (1993).
10. Kesri A.D. -Janajati and Kala Sanskriti of 'Siva, paper presented at the 'National Seminar on 'Shiva in Indian Culture', held at Parshnath Vidyapith, Varanasi, 27 to 29th May (2000).
11. Notice M.R. - private correspondence, Dept. of Lehigh University, U.S.A.(1989).
12. Nozaki J. - Staff artist, Metals Museum, Sendai, Japan (1989).
13. Fukunaga S. - Life of sword Smith in Japan, Yuzankaku Pub. Co. Tokyo (1973) PP. 14.
14. Rasa Ratna Samuccaya - D.A. Kulkarni, Meharchand Lakshmanadas, Delhi (1969).
15. Visvalingam, E.C.- Bhairao Kotwal of Varanasi, Varanasi through Ages, Vol. 4 Eds. T.P. Verma, D.P. Singh and J.S. Misra, Bhartiya Itihas Sankalan Samiti, Varanasi (1986) PP. 241-260.
16. Prakash B- Metals and Metallurgy, History of Technology in India, Ed. A.K. Bag, INSA (1997) PP 110.
17. Nozaki J. - Ibid Ref. - 12.
18. Fukunagas.- Ibid Ref. - 13.
19. Igaki K. - Private correspondance, Emeritus Professor, Tohoku University, Sendai, Japan (1998).

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

20. Tylecote R.F. - Comparision between Western and Eastern Metallurgical Techniques as deduce from Traditional Japanese and Chinese illustrations, Bull. of Metals Museum 6 (1981) PP. 1-14.

21. Gowland W. - The Art of Working Metals in Japan, Journal of Inst. of Metals 4 (1910) pp 4-41, opcit -ref. 22.

22. Needham, J. - The Development of Iron and Steel in China, Newcomen Soc., London (1958), opcit. ref. 22.

23. Igaki K. - ibid Ref. 20 - Quoted in this paper.

24. Anazawa Y. - Changes in Japanese Iron Smelting Methods from The Archaeological View Point, Proceedings of The Intl. Conf. on the Begining of Metals and Alloys (BUMA -IV) Matsue. Japan May 25-27 (1998) pp 21-28.

25. Kubota K. - Introduction of Iron Ware Culture into Japan, Bulletin of the Metals Museum, 11, (1986) pp. 81-92.

26. Haba M. - New Explanation of the Differences between Iron- stone Smelting and Iron-sand Smelting, Proceedings, BUMA-IV, Matsue, Japan, May 25-27 (1998) pp. 29-34.

27. Tate, M. - A short History of 'Tatara' Japanese Traditional Iron smelting Process, ibid (1998) pp 15-19.

28. Rubin, H. and Ko - Iron and Steel Technology in China, paper presented at the Intl. Conference - Paleometallurgy of Iron and Culture, Bel fast, 1-3 Nov. (1990).

29. Rubin H. - Iron and Steel Making and its features in Andient China, Bulletin of Metals Museum, 30 Nov. (1998) - II, pp. 23-37.

30. Yoon D. Suk - Early Iron Metallurgy in Korea, Ibid, 11, (1986) pp 68-75.

31. Banerjee, N.R. - Iron Age in India, Munshiram Manoharlal oriental Pub. & Bookseller, New Delhi (1965).

32. Agrawal, D.P. and Tripathi V - Early Indian Iron Technology, Himalayan Contacts and Gangetic Urbanization, Proceedings BUMA -IV, Matsue, Japan, 25 - 27 May (1998) pp 53-58.

33. Misra, S.S.-The Aryan Problem - a linguist approach, Munshiram Manoharlal Pub. Ltd. New Delhi (1992).

34. Chakrabarti, D.K. - The Aryans Hypothesis in Indian Archaeology, Indian Studies Past and Present, 4 (1968) pp. 333.

35. Prakash, B. - Ancient Iron Making in India, Iron and Steel Heritage of India, IIm & Tata Steels Publication (1997) pp. 29-59.

36. Prakash, B. - Transition from Hawankund to the shaft furnance for Iron Making in India, Symp. La Farga Catalana enel. mare del 'Arquelogia Siderurgica, Ripoli, Spain, 13- 17th Sept. (1993) pp- 427.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

37. Biswas T.K. - 'Siva-Buddha Iconographic study, paper presented at the National Seminar on ' Siva in Indian Culture, held at Parshva Nath Vidyapith, Varanasi, 27-29th May (2000).

38. Sorensen H.H.- Typology and Iconography in the Esoteric Buddhist Art of Dunhuang, Silk Road Art and Archaeology, Vol-2, Eds.K. Tanaba and A.Hori' The Inst. of silk Road Studies, 20-14 Nikaido, Kamabur-shi, Kanagawa-ken, 248, Japan (1990).

39. The InstiTute of Silk Road studies-Eds.K. Tanaba and A. Hori, 8 vols., 20-14 Nikaido, Kamaburashi, Kanagawa-ken, 248, Japan (1990).

40. Fukunaga, S., op. cit. Ref. (13).

41. Igaki, K., Opcit Ref. (19) - quoted in this Text.

42. Kubota, K. - Private correspondence, Emeritus Professor, Tohoku University, Japan (2000).

43. Kubota, K., Ibid Ref. (25) pp. 90.

44. Prakash, B. - Some Aspects of Process Control of Ancient Iron Making, paper presented at intl. Symp. on Paleometallurgy and Culture, Belfast, France, 1-3 Nov. (1990).

45. Prakash, B - Metallurgy of Iron and Steel Making and Blacksmithy in Ancient India, IJHS, 26,4 (1991) pp. 351-371.

List of Captions for Figures

Fig. 1. - Line diagram of wall hanging of Sambo-Kojin used for worshiping air bellows by the sword smiths of Japan (Ref. 12).

Fig. 2. - Painting of Sambo-Kojin used for bellow worship on Fuigo-Matsuri (8th Nov. by lunar calender) by the sword smiths and iron smelters of Japan (Ref. 13, Fig. 17).

Fig. 3. - Sambo-Kojin standing on the air blower (Fig. 35, Ref. 13).

Fig. 4. - Sambo-Kojin riding a dog, who is holding an axe in his mouth. (Fig.27, Ref.-13).

Fig. 5. - Ancient iron making furnace and sword forging in Japan (Fig. 32, Ref. 13).

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

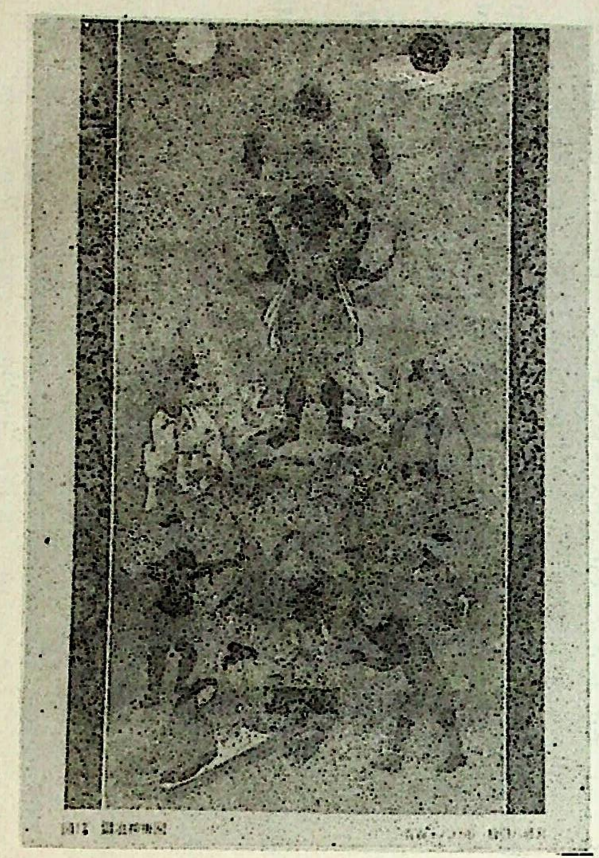

Fig. 2

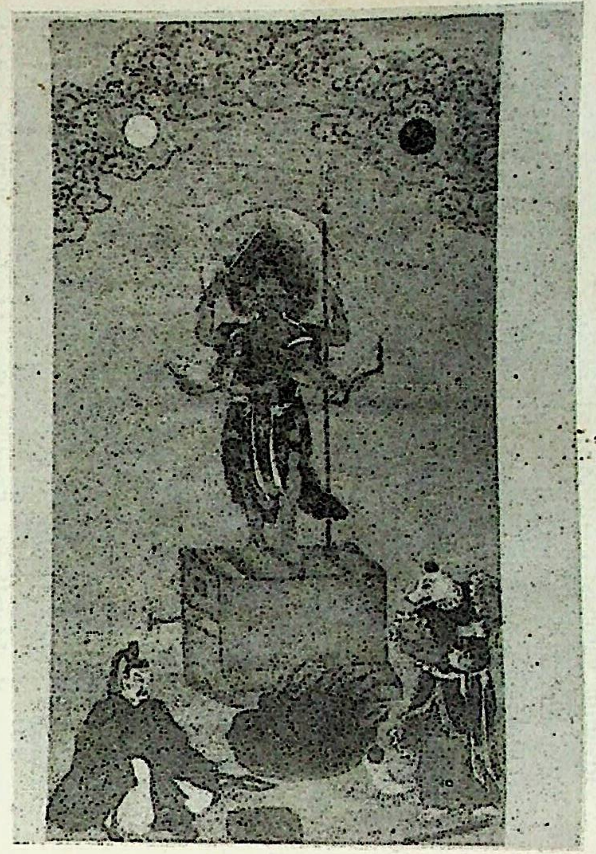

Fig. 3

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Fig. 4

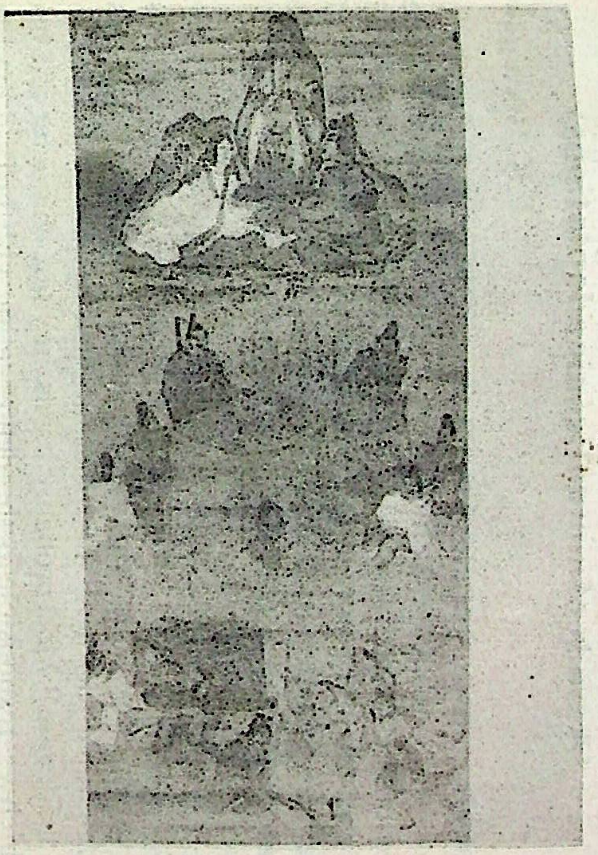

Fig. 5

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

SIVA-BUDDHA

(A study of mutual iconic adaptations)

T.K.Biswas*

In course of parallel development of Saivism and esoteric Buddhism in medieval India certain interactions were quite obvious between the two. However, a general survey in the field of contemporary iconography would show that the quantum of Saivite adaptations was greater in Buddhist iconography while Saivite adaptations from the latter, had been merginal.

Before delving a little deeper on this issue, a few points may be referred to here which do have bearings to the relations between Siva and Buddha. Buddha was designated as *'Mahādeva'* in two of Bharhut inscriptions (Bhagavato Mahādevasa)[1]. Most probably, it was the yogic character of Śiva which was responsible for the identification with the Buddha, the latter being accepted as symbolic of meditation. Incidentally, a reference may be made here about Avalokiteśvara who once appeared in Mount Patolaka as 'Iśvara-deva', under the form of yogi(a pāśupata)[2]. In the Kāraṇḍavyūha, the nexus of Avalokiteśvara with *Maheśwara* has been established *Avalokiteśvara* takes the form of *"Maheśvara'* (Śiva) chiefly in his aspect of Amoghapāśa whose *'mantra'* contains the word 'Mahāpaśupati'[3], an epithet of Śiva. In the *Yogambaramandala of Nisapannayogavali,[3] Siva is found to have been included in the family of Amitābha* - 'Maheśvara Amitabhena (*mudritaḥ*)[4]. The Guṇakaraṇḍavyūha discusses a very rare form of Avalokiteśvara which is called Ekādaśaśira or the eleven headed one. This Ekādaśa-mukha aspect is further provided with thousand arms and eyes whose prototypes could be traced from the Vedic and Brahmanical Visnu, Indra and Śiva. Accourding to the Kāraṇḍavyūha, when Avalokiteśvara appeared as *'Puruṣa'* with thousand arms and thousand eyes,

---

*Joint Director, Bharat Kala Bhawan, Banaras Hindu University, Varanasi.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Yama asked astonishment whether he was Mahesvara (Siva) or Narayaṇa him in (Visnu) ! That Harihara served the prototype of this form of Avalokitesvara becomes clear from his epithet in this hymn.[5]

Sadaksari Lokesv'ara, one of the forms of Avalokitesvara personifies the formula *'Om mani padme hūṁ'*. Curiously enough, in the Saivite sense 'maṇi' denotes 'linga'-and padma' is yoni[6]. Of the other forms of Avalokitesvara, such as Simhanada Lokesvara, Loknatha, Nilakanṭha, Halāhala and Padmanarttesvara are considered as direct adaptations from the iconic representations of Siva. For instance, a reference may be made here of the sadhana of Simhanada Lokesvara in which the Bodhisattva is found described as svetavarnam', 'jaṭamukutinam', 'tri-netram , nirbhusanam', Vyaghracarma-pravṛtaṁ', 'candrasanam , candraprabham , sitaphanibestitam trisulam', etc. which were borrowings from the iconic traits of Siva[7]. If the tiny figure of Dhyani Buddha Amitabha is withdrawn from the crest of the aforesaid images, these could be easily identified as images of Siva. While discussing the structure of Garbhadhatu mandala, Lokes Chandra mentions the quarter of Susiddhi has eight deities and these reflect the eight *Siddhis* of the Hathayoga of Patanjali. The Siddhis are also considered as the direct and indirect result of a quest for enlightenment of knowledge; *para-Siddhi* (Transcendent power). what is interesting in this context is this that these eight Siddhis denote eight Vibhūtis of Siva[8]. The fact, That Avalokitesvara represents the excellence of Susiddhi, also preserves the reminiscences of his closeness to Siva.

The closeness between Siva and Buddha could be established further with the help of certain rare images. The famous Siva image of Badrinath temple resembles a Buddha figure, seated in bhumisparsa mudra and it is curious to note that the Buddha is worshipped there as Siva following the traditional belief of people that Śiva and the Buddha are one and the same deity likewise, the Sivalinga of Pasupatinatha temple in Kathmandu has on its head the carving of five Buddha like figures. Śiva and Avalokitesvara are identified in the same person of Lord of the Three World in a shrine at Triloknath in the Chenab

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

gorge and finally, in the collection of Svayambhunath Museum there is dated sculpture entitled *'LokeśvaraŚivaparivārasahita'*. In this panel to the right of Śiva Pārvati appears a male figure (Avalokitesvara) with one hand in varada pose and the other carried a lotus flower. Two royal ladies occupy the other side of the said iamge[10].

There is a unique brass image of so-called Śiva-Lokeśvara in the Asutosh Museum of Indian Art, University of Calcutta that hails from the district of Barisal, now in Bangladesh. A few scholars identified the image as Śiva-Lokeśvara but Dasgupta raised objection to this identification on certain logical premises. The image in question shows Śiva as standing in *sampadasthānaka* pose on a double petalled lotus placd on a *tri-ratha* pedestal. The god is ithyphalic and is seen carrying a rosary (akṣa-sūtra) in his right hand and an indistinct obejct (a bunch of flowers?) in the left. On the top of his matted crest is a tiny figure of Dhyānī Buddha Amitabha. The standing figure of Śiva is flanked by attendants, both standing and near their legs are the seated figures of dornors. To the proper left, a long tident (trisula) is planted.

Dasgupta mentions that for such a from, there is no sādhana so far found in any text. Though most of its iconic features, such as, matted locks, rosary and trident are found associated with certain forms of Avalokiteśvara, the ithyphallic aspect has not been found till data in any figure of Lokeśvara. The image of our issue is not the image be taken as an unknown form of Avalokiteśvara in which Saivite adaptations are quite evident[11].

The cult of Śiva-Buddha appears to have migrated to Java and Bali somewhere from eastern India. There is a reference to this cult in a 13[th] century eastern Javanese temple, called Tjandi Djawi. A 14[th] century poetical works known as *' Nagara Kertāgma'* written by poet Rakawi Prapanca recorded that the temple of Djawi was a two storied building. The sanctum below enshrined a splendid, majestic and immeasurable likeness of Śiva while the upper storey of thc temple installed an equally majestic image of Dhyānī Buddha Aksobhya[12].

In fact, the religious life of east Java in the 13[th]- 14[th] centuries was marked by a growing tendency of syncretism. Saivite and

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Buddhist cults overlapped and fused; strongly tinged by Tantric conceptions. The Kings were deified in either Saivite or Buddhist form but sometimes in both. King Kṛtanagra, the last king of Singasari is known to have been deified as Śiva-Buddha' at Tjandi Djawi. Likewise, king Viṣṇuvardhan was deified as Śiva in Tjandi Mleri and as Bodhisattva Amoghapāsa at Tjandi Djago. In the present syncretic Balinese religion there are two kinds of high priests (pedanda), the pedanda Bodha and the pedanda Śiva. They both officiate at the same temple and sometimes simultaneously[13].

Incidentally a reference may also be made here of a Saivite adaptation from the Buddhist iconography. Lākuliśa, the twenty eighth incarnation of Śiva in eastern India (especially in Orissa) is found represented as Buddha. Just as the Buddha, Lākuliśa is seen seated on a double petalled lotus being raised up by two naga-kings and his hands are engaged in dharmacakra mudra and sometimes the two deers and the wheel (dharma-cakra) are found carved in the pedestal[14].

The association of deer (mriga) with Śiva has been traced from the socalled Pasupati seal of Mohenjodaro and subsequently, the Kṛṣṇa-mṛga became an established attribute of Śiva but what could be the justification of the combined wheel and deef, a typically Buddhist device, with the image of Lākuliśa? Thaplyal thinks, quite justifiably, that the common factor between Buddha and Lākuliśa was that both were great philosophers and were most prominent of their sect[15] and hence these incorporations.

In Mahayana pantheon, the credit for creating the world was given over to Padmapāṇi who received this power from the Ādi Buddha. It was further noted that Siva was evolved from the brow of Avalokitesvara. The image of Trailokya Vijaya - an emanation of Akṣobhya appears as humiliating and trampling Śiva and Gaurī under his legs. These are some stray instances of sectarian rivalry and rancour but there are ample evidences to prove that during the course of evolving esoteric Buddhist deities, the Buddhist straight way adopted many aspects from the different manifestations of Śiva, accepted the latter into their clan and even worshipped him.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

References :

1. K.D. Vajpai, *Bodhisattva and Buddha - the early iconic forms,* published in Buddhist Iconography, Sambhota Series 11, Tibet House, Delhi, 1989, p. 65; also see Barhut, B.M. Barua, 1934, p. 18.
2. Lokes Chandra, The *Thousand Armed Avalokiteśvara,*New Delhi, 1988, p. 190.
3. Lokes Chandra, Ibid., pp. 31-32.
4. M.T. Mallman, *Hindu Deities in Tantrik Buddhism,* translated by Simon Watson Taylor, Zentralasiatische Studies, 2. Bonn, pp. 41-54, and also see D.C. Bhattacharyya, *Iconology of Composite Images,* Delhi, 1980, p. 62.
5. Ṛgveda, 2.135 (Indra, sahasra-caksus), for thousand eyed Rudra (Atharva. Veda 2.2), Atharvaveda, 4.20.5, Bṛhat Saṁhitā; 43.48 (sahasra cakṣo) Viṣṇu sahasradrśa (Rāmāyaṇa 6.102.22), Indra sahasraksa (Mahābhārata 3.670, 14.2444), 'Sahasra netra' (Mahābhārata 1.7706, 13.6045) Raghuvaṁśaṁ (6.23), and also see Lokesh Chandra, op-cit, pp. 31-32.
6. Vide Kalproth, Journal Asiatique, 7, pp. 185-206.
7. Benoytosh Bhattacharya, *Sādhanamālā*, Vol. I, Gaekwad Oriental Series, No. 26, Baroda, Second Edition, 1968, p. 63.
8. Lokes Chandra, *The Structure of Garbhadhātu Maṇḍala, Vide Buddhist. Iconography,* op.cit., pp. 189-190.
9. Pal, Pratipaditya, A note on the ancient shrine of Pasupatinath, Nepal, proceedings of the Indian History Congress 24th Session, Delhi 1961, published from Calcutta 1963. pp. 33 ff. and aslo see Amita Ray, the Pasupatinath Temple, Man in India, 39, No. 1, January-March, 1969, pp. 50ff. and also see D.C. Bhattaharyya, op. cit., p. 42.
10. Ram, Niwas Pandey, *Iconography of Lokesvara Images, Vide Buddhist Iconography,* op. cit., p. 173.
11. Kalyan K. Dasgupta,'*Image of the so-called Siva Lokeśvara*', Published in Buddhism-Early and Late, Ed. by K.K. Dasgupta, Calcutta, 1985, pp. 103-104.
12. Rakawi Prapanca, Nagara Kertāgama, translated by Dr. Pigeaud vide Java in the Fourteenth Century, The Hague, 1960. see Canto 56, Stanza, 2.
13. Clare Holt, *Art in Indonesia, Continuity* and Change, New York 1967, p. 68.
14. J.N. Banerjea, *Development of Hindu Iconography*, 4th Edition, Calcutta, 1985, p. 6
15. Kiran Kumar Thaplyal, *Transformation of Symbols : A Case study of Wheel and Deer Device, vide Buddhist Iconography,* op.cit., pp. 49-50.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

SIVAISM AND THE CULT OF YOGINIS WITH SPECIAL REFERENCE TO TEMPLE ARCHITECTURE

-PUSHPA TIWARI*

Lord Siva has played an important role in Indian Cultue affecting almost every aspect of life whether art architecture, literature and other intellectual creativities. Antiquity of Sivaism goes Back to proto historic times when the prototype of pashupati was depicted on a sealing which, iconographically, paved the way for the later conceptualization of Shiva in human form. An iconic form was also prevalent in those times which is proved by the discovery of phallic like objects which were later on conceptualized and transformed into Sivalingas'. Historically Sivaism developed into a kind of religion which absorbed and assimilated various folk and vedic elements and paved the way for various sub-sects such as Lakulisha, Pashupata, Kapalika, Virasaiva/ Lingayata and Kashmiri Saiva Siddhanta Philosophy. Because of its close proximity with the cross section of society, particularly with the foreigners, aborigines and tribal people, it betrays cross-cultural currents and strong folk elements. Among all the other important sects of Hinduism, Shivaism is intimately related to the Shakta Religion. Shaktims is deeply influenced by the Tantra and its flexible syncretic nature absorbed various folk elements and in early medieval times we find the emergence of several sub-sects such as yogini cult.

Yogini cult is closely related with the kaula cult which is a sub^sect of Shivaism. Kaula-Kapalika are often associated with each other because both of them are Atimargi or Vamamargi and they practice occultic rituals pertaining to sex. Scholars like R.D.

---

* Department of Ancient History, Culture and Archaeology, University of Allahabad, Allahabad, U.P.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Bhandarkar are of the opinion that Kaula is a sub-sect of Shakta religion whose followers are divided in 2 groups - (A) Kaulika (B) Samayin. Kaulikas worship female sex organs and other such sexual objects whereas Samayin class of Shaktas worship Shakti through Tantric diagrams suggesting sex organs. Kaulikas themselves are divided in 2 groups i.e. Purva Kaulikas who worship ritualistic diagrams and uttara Kaulikas who worship living objects and indulge in sexual orgies. Central to all these classes of Sakta Sub-sects is Shiva in the form of Bhairava.

According to Kauljnananiranaya, a llth Century A.D. text, the Kaula class of Tantras was introduced by Matsyendra Natha, who was also the founder of the yogini - Kaula of Kamarupa - which is a sub-sect of Shivaism and Shaktism both because its esoteric philosophy is based on the concept of Shiva and Shakti. Yogini cult is popularly Known as the cult of 64 yoginis. The term yogini is interpreted variously because of its multilayered connotations. The simplest explanation and the most common usage of the term is that a Yogini is the female counterpart of a Yogi. In Mughal and Rajput miniatures Yoginis are frequently portrayed either as ascetic mendicants or seated in shrines where they are worshipped by their devotees. In folk tales and oral traditions prevalent particularly in regions of Bengal and Orissa Yoginis are described as sorceress or witch and this tradition also finds place in Ancient Sanskrit literature of semi-historical genre. Vidya Dehejia distinguishes the Yoginis of the cult of 64 Yoginis from these above mentioned Yoginis of popular belief of the masses. she interprts 64 Yoinis as goddesses within the vast Hindu pantheon. But a careful perusal of the sources belonging to popular folk tradition will reveal many parallels suggestive of the fact that the Cultic tradition as well as the folk tradition both have drawn inspiration from some common source. It is not difficult either to identify this common source with the all encompassing. Sivaism which became a powerful tool of acculturation of those living of the fringes of the new Brahmanic centres that came up because of land grants to Brahmins by local chieftans of tribal origin and in return gaining the benefit of belonging to Kulin Kshatriya clan through the ancestral geneology prepared by the

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

established and dependant Brahmins. Chitgopekar has rightly analysed that Shivaism, liKe any other historical formation, was determined by the material conditions such as the socio-political ethos and that it evolved differently at different places and times. This remark is more relevant in context of the intimate relationship existing between the cult of 64 Yoginis and Shivaism. Because the fierce form of Lord, Shiva - Bhairava is central to the cult of 64 Yoginis, therefore, this cult occupies a special place in Hinduism, in so far, as it is described by various scholars as the sub-sect of both Shivaism and Shaktism, its origin being rooted in trantric traditions of early medieval and medieval India. Most of the available Tantric texts belong to late medieval period and hence it appears that from about that time onwards the Shakta-Tantric Cults had gained a qualitatively changed characters and became woven into the texture of all the religious practices current in India. According to p.c. Bagchi the Ygini-Kaula of Matsyendra Nath had something in common with the Buddhist Tantras of the Sahajiya class. This syncretism probably led the growth of the Natha sect and the Vaishnavism Sahajiya of the succeeding centuries. This clearly shows the implicit and explicit interconnexions between. Shivaism, Shaktism and Tantric traditions on the one hand and on the other the influence of Tantric cults and practices on multifaceted Hindu religion.

It is interesting to note that the concept of Yogini was an integral part of Astrology and Tantra Yoga. Sri Cakra or Sri Vidya Constitutes a major and very important facet of Sakti worship. Sri Cakra is presided over by a set of Yoginis as the menifestation of various aspects of Tripurasundari or Lalita. Devi or Great Goddes is generally described as Maha Yogini in lalita Sahasranama where she is also Known as Kula Yogini. A careful perusal of the lists of 64 Yoginis contained in Agni and Skanda Puranas, suggests that these Yoginis were regarded as varying aspects of the Great Goddess who through these Yoginis manifested the totality of her presence. In several other ancient religious texts the term Yogini is explained as minor goddess who is either companion or attendant of the Great Goddess herself. According to Dehejia these Yoginis are female counterparts of

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Shiva Ganas having human bodies with the heads of various birds and animals. Skand Purana in its Kasi khanda and Kaulajnananiranaya provide fascinating information on this aspect of Yoginis by which they transform into animal or semi animal forms.

An important tradition derives the 64 Yoginis in groups of eight from the Asta Matrikas or Eight Mothers. From very early times we know that the Sapta Matrikas or Seven Mothers, later expanded to eight, nine or Sixteen, were popularly worshipped all over India. The tradition deriving the 64 Yoginis from the Eight Mothers is contained in the 146th chapter of the Agni Purana. This description leaves no doubt about the encompassing character of the cult of 64 Yoginis. But the Yoginis worshipped in the temples of 64 Yoginis belong to Kaula sect which is a Tantric Marga of Shaktism and Shivaism both. Kaulajnananiranaya, Sri Mattottara Tantra, Goraksa Samhita - the later copy of the Matottara and Kularnava Tantra, They all use the term Yogini in three different contexts, to refer to Devi herself, to describe the female partners in the Cakra ritual of Panch Makar tradition, and to describe the goddesses who are the patron deities of the Kaulikas. In early medieval India, from 9th century A.D. onwards, cult of 64 Yoginis became very popular in present day Madhya Pradesh, Orissa and some regions of Rajasthana and Gujarat, as is proved by the remains of various temples dedicated to 64 Yoginis.

Kularnava and Kaulajnananirnaya both contain references to the Yoginis as being sixty-four in number, while the Matottara gives details of two circles of sixty-four Yoginis and one circle of eighty-one Yoginis. The Kularnava refers to Astastaka puja (v"Vk"Vd) i.e.the worship of eight groups of eight or sixty four yoginis. Chapter 146 of Agni Purana which contains the list of 64 Yoginis and derives them from the eight Matrikas, is entitled Astastakadevyah (v"Vk"dnsO;%), or the eight times eight deities. Chapter 52 of this Purana specifically mentions-Yoginyastastakam (;ksfxU;"Vk"Vde~) i.e.the names of 64 Yoginis.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Kaula Tantras make it clear that Shiva as Bhairava was the presiding deity of these 64 Yoginis. The Agamic texts enumerate as many as sixty-four Bhairavas divided in eight groups of eight each. The leaders of these groups being Asitanga, Ruru, Krodha, Unmatta - Bhairava, Kapala, Bhisana and Samhara respectively. They are the consorts or guardians of the sixty-four Yoginis mentioned in the Tantric texts such as Kularnava Tantra, Meru Tantra, Matottara Tantra, Varahi Tantraetc. This is interesting to note that all the existing temples of 64Yoginis contain either a central niche in the rectangular arrangement of Yogini niches or a free standing mandapa/Temple at the centre of the circular courtyard surrounded by the peripheral arrangement of 64 Yoginis thus linking the cult with Shivaism and Shaktism both.

Geographical distribution of the existing temples of the Yoginis suggests that the cult of 64 Yoginis was popular in a broad arc across northern India, from the Orissa through Central India upto the Rajasthan border. No archaeological remains are Known from Assam but it seems undeniable that the cult was once prominent in these regions. The famous Kamakhya temple rituals till date include the daily invocation of the 64 Yoginis. Likewise Bengal has always been a centre of Tantricism and many teXts on Kaula Cakrapuja indirectly reveal their Bengali origin. Though we do not find archaeological evidences, it seems beyond doubt that the cult was prevalent here also. The traditional association of tantra and the cult of 64 Yoginis with the region of Orissa and Central India i.e. the area north of the river Narmada and South of the Yamuna is well known. From the forested, hilly tracts of Central India at least eleven yogini temples have been rediscovered in modern time. In the west, the Yogini cult appears to have been known in Rajasthan and Gujarat. Paper and cloth Cakras of the 64 Yoginis are still popular in Rajasthan. From the 9th to the 12th Centuries, Yogini temples were built in several parts of the country. Jaina texts tell us of four specially imporant Yogini temples at Broach, Ajmer, Ujjain and Yoginipur (modern Delhi), but none of them survive. According to dehejia a festival in honour of the Yoginis was performed till recent times in the Mumbai region. Yogini and Matrika cult was prevalent in

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Andhra, Karnataka and Tamilnadu regions also as is suggested by the discovery of several Yogini images from kanchipuram and Matrika temples in Karnataka area. This brief survey o Geographical distribution of the cult of 64 Yoginis clearly indicate that it was prevalent in peninsular India also, but it was more popular in orissa and Central India the region till date intimately associated with aborigines and tribals and being also the stronghold of Shivaism.

ARCHITECTURE OF YOGINI TEMPLES:

The stuby of architectural features of yogini temples brings to light several interesting features. The most distinguishing feature of a Yogini temple is its simplicity and uniformity of architectural planning. We find Two types of ground planning or Talavinyasa (तल विन्यास) used in the construction of these temples:-

(1) circular lay out in accordance with Cakrapuja of Kaula Sect.

(2) oblong or rectilinear lay out in accordance with some hitherto unknown religious belief.

Existing Yogini temples suggest that the circular ground planning was very popular keeping with the tradition of Sri Cakra or Cakrapuja prescribed in Kaul tantric texts. The famous Hirapur and Ranipur - Jharial Yogini temples from Orissa, Mitauli temple near Gwalior, Bheraghata temple near Jabalpur all are circular in lay out. We have only three specific examples of rectangular Yogini temples in Central India from khajuraho, Badoh and Rikhiyan located in territories which were under the control of the Candellas. Rectangular lay out was not popular-it is evident from the existing temples. Some art scholars have suggested that at Khajuraho and other places the choice of site (top of the hillock or rocky outcrop) was responsible for the rectilinear layout as circular temple would have been impossible on the chosen location. But Dehejia has rightly pointed out that rectangular ground - planning or Talavinyasa at Khajuraho etc. was deliberate and planned action for which some hitherto unknown religious/ magical beliefs would also have been responsible. Among rectilinear Yogini temples only Khajuraho

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

specimen still stands in ruined condition. Rikhiyan and Badoh examples are fully destroyed and Dehejia has only speculated on the basis of Yogini images that they would have been placed in rectangular niche or temples arranged in a rectangular courtyard. There is no concrete evidence other than Dehejia's suggestion which is more of a speculative nature. At Khajuraho the rectangular temple is hypaethral enclosure where thirty two cells of equal size are placed on either side of a much larger central cell, which may have served as the house of Bhairava or Shiva. Altogether there are sixty five individual shrines arranged around the open rectangular courtyard, each having seperate pyramidal "sikhar. Khajuraho 64 Yogini temple is built of granite blocks. It is plain and without any decoration except the yogini images which were placed in the niches or seperate cells. Today every cell of this temple is empty and none of the images is traceable. Only photographs of three images taken around 1955 tell us about the goddesses Maheswari, Brahmi and Hinglaj - local name given to Mahishamardini. At Bheraghat Mahishamardini is given the name of Teramva and at Shahdol she is known as Krishna Bagavati. This shows that local deities were identified with the popular image of Great goddess, hence we get different names for her in different areas. A careful perusal of all the lists contained in Puranic, Agamic and Tantric texts on the one hand and on the other the list of names known through inscribed labels on the images, makes it clear that several local deities with their specific features were included in the Hindu Pantheon giving them equal status with other goddesses of Shastric tradition. Modern sociologists and anthropologists often criticise this process of acculturation as Brahmanization of those living on the fringes of new cultural centres created through land grants to the Brahmanas. It is also said that through this acculturation tribals were included in the Brahmanic system as the Shudras. But a careful perusal and comparative approach tells us that through this process of acculturation the whole tribal society was not absorbed as the Shudras, rather the traditionally known four-fold division was created and tribals were inculded in each and every section of this division, otherwise the question and debate of the tribal origin of some of the Rajputa, Brahmana

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

and Vaishya clans will become meaningless. Comparative analysis tells us that this acculturation at least did not destroy the so called tribal/ Pagan deities the way Christianity and Islam destroyed all the Pagan Gods and Goddesses of Greeko-Roman and Pre Islamic Arabic Origin in the name of spreading human values and spiritual teachings of their Prophets and Messiah and committed atrocities in the name of reforms and cleansing off unworthy pagan and heathen elements from the society. In comparison to this the process of acculturation in early medieval India which is strongly reflected in the cult of 64 Yoginis absorbed the local traditions and beliefs rather than totally destroying and discarding them with the magical wand of so called human values and higher shastric traditions.

The cult of 64 Yoginis paved the way for the utilization of circle in temple architecture in more meaningful way. At Hirapur, Ranipur- Jhariyal, Bheraghat, Mitauli, Dudhai, Naresar, Lokhari, Shahadol, Hinglajgadh etc. Yogini temples were (1) Circular in talvinyasa i.e. ground planning and (2) Hypaethral in elevation i.e. they were uncovered or without any roof. These circular temples may be grouped in three Broad categries (A) temples whith exact 64 cells or niches, arranged around the open circular courtyard; (B) temples with 81 niches or cells around the circular courtyard as in Bheraghat; (C) temples with 42 niches around the circular courtyard as in Dudhai and around rectilinear courtyard as in Badoh.

In the circular planning the niches are covered with slightly sloping curved eave-like roof which rests on colonnade surrounding the row of niches of cells built in the circular wall. Often there are two openings in the circular wall opposite each other for entrance and exit. Sometimes these openings are extendend outside the circumference in a portico or Mukhamandapa like manner. In all the circular Yogini temples we find a central Mandapa or pavilion like structure built to house the Lord Shiva in the form of Bhairava- the guardian deity of Yoginis.

Numbers are supposed to contain and possess some

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

magical power of their own. The science of Numerology is based on this philosophy. Every community and society has some specific numbers which they consider magical and divine. It seems number 64, 81 and 42 also have some special significance in Yogini cult. Matottara Tantra clearly indicates that the worship of the 81 Yoginis is specially intended for royalty. Astastaka concept of Bhairava and Yogini also betrays the magical association of number eight i.e. the worshis of eight Bhairavas in the group of eight or eight times eight =64. Specialized and magical arrangement of 42 letters of the Sanskrit alphabet is known as Bhutalipi. These 42 letters are the symbols of 42 goddesses which must be worshipped appropriately according to Bhutalipi texts. Personifications of Sanskrit letters are also known as Matrika Cakra and Malini Cakra where goddesses are worshipped in a circular formation. It is possible that the Dudhai temple of 42 Yoginis was associated with the concept of Matrika Cakra or Malini Cakra, as Tantric texts do not tell us about the grouping of Yoginis in 42 nubers. Dehejia has pointed out the historical milieu of these yogini temples and has suggested the possible royal patronage of the cult of 64 Yoginis. Her view may be correct inspite of its purely speculative nature in so far as temple architecture in general in early medieval India was the direct outcome of royal patronage - Yogini temples being no exceptions.

Circle or the number zero is considered to be the purest and simplest of symbols created by the humans. It is a symbol of microcosm to explain the principles of macrocosm. It is a most powerful and widely used symbol. From time immemorial circle represents sun, solar system, seeing eye, time and eternity. It is symbol of Nothing out of which comes Everything. It stands for the sky, earth and the zodiac. Prehistoric man used circles to mark the boundaries of sacred areas. The earliest example of the use of circle in stone architecture is Stonehenge, near Salisbury, England (1500 B.C.). Here the circle is built through the use of repeated vertical rectanglar as in the colonnades of yogini temples. Colosseum (1st cent A.D.) and Pantheon (2nd cent A.D.) are few other examples of world architecture where circle have been beautifully and powerfully employed. In modern India

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

onecancompareParliamenthousewiththecircularlayoutofYogini temples where inner niches are surrounded by the colonnade.

Traditional Indian architecture uses number 64 or 81 as the basic division of Vastupurusha Mandala. Here the term Mandala does not exactly stands for the real circle, rather the imaginary grid of chosen site is termed as Mandala though it uses square or varga as the basic unit of division. It is an interesting area of enquiry how the number 64/81 got associated with the concept of Bhairava, Yogini and Vastupurusha Mandala, and this enquiry can reveal the unifying common thread running through Shivaism, cult of Yoginis and architecture.

Thus we can say that Sivaism in association with the cult of 64 Yoginis has contributed significantly to Indian temple architecture paving the way for circular hypaethral colonnaded temples in scenic locations.

References:

1. Agni Puranam - Ed. (CIX) Baladeva Upadhyaya, Varanasi, 1966.
2. Kaula - Jnan~a -nirnaya and some minor texts of the school of Matsyendranath - (Ed.) P.C. Bagchi, Calcutta, 1915.
3. Kularnaua tantra - (Ed. V. Taranatha and Arthur Avalon, Calcutta, 1915.
4. Lalita - Sahasrananmam - Gopinath Kaviraj, Varanasi.
5. Goraksha Samhita - Janardhan Pandeya, Varanasi, 1976.
6. Sri Matottara Tantra kept in the Nepal National Archieves.
7. Skanda Purana - K.D. Veda Vyas, Calcutta, 1965.
8. Bagchi, P.C., Studies in the Tantras, Calcutta, 1939.
9. Bhattacharya, N.N., History of Sakta Religion, N.D., 1974.
10. Kaviraja, Gopinatha, Tantric Sahitya, 1972, Tantric Samgraha, 1970.
11. Bhandarkar, R.G., Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems, BORI, Poona, 1929.
12. Banerjea, J.N., The development of Hindu Iconography, N.D., 1974.
13. Dehejia, Vidya, Yogini Cult and Temples: a Tantric Tradition, N.D., 1986.
14. Desai, Devangana, The Religious Imagery of Khajuraho, Bombay, 1996.
15. Chitgopekar, Nilima, Encountering Sivaism, N.D. 1998.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2...

Rajguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon